अमर द्वीप

श्री अमर मुनि

नवकारमंत्र
नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं

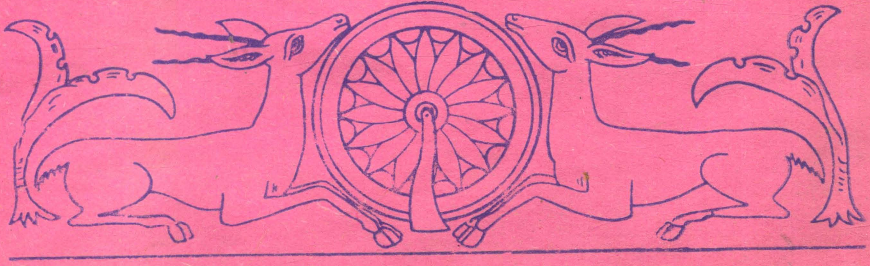

।।卐।। श्री वर्धमानाय नमः।।卐।।

श्री आत्म गुरवे नमः

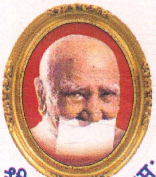

श्री आनंद गुरवे नमः

श्री पद्म गुरवे नमः

श्री अमर गुरवे नमः

राष्ट्र सन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक अनंत उपकारी गुरूदेव भण्डारी प.पू. **श्री पद्म चन्द्र जी म.सा.** की पुण्य स्मृति में साहित्य सम्राट श्रुताचार्य पूज्य प्रवर्तक वाणी भूषण गुरूदेव प.पू. **श्री अमर मुनि जी म.सा.** द्वारा संपादित एवं पद्म प्रकाशन द्वारा विश्व में प्रथम बार प्रकाशित (सचित्र, मूल, हिन्दी-इंगलिश अनुवाद सहित) जैनागम सादर सप्रेम भेंट।

भेंटकर्त्ता : श्रुतसेवा लाभार्थी सौभाग्यशाली परिवार

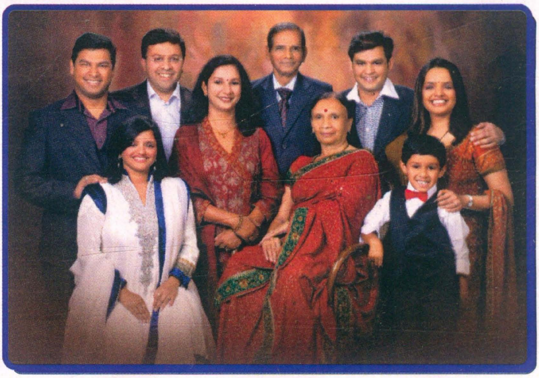

श्रीमती मिराबाई रमेशलालजी लुणिया
(समस्त परिवार)

उत्तर भारतीय प्रवर्तक राष्ट्र सन्त भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के
प्रवर्तक पद-चादर महोत्सव के शुभावसर पर

अमर दीप

[अध्यात्म शास्त्र-ऋषिभाषितानि पर चिन्तन प्रधान प्रवचन]

[प्रथम भाग]

प्रवक्ता
उत्तर भारत केसरी श्रुतवारिधि
श्री अमर मुनि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक
श्री आत्म ज्ञान पीठ
मानसा मण्डी, (पंजाब)

☐ अमर दीप (प्रथम भाग)

☐ श्री पी० सी० जैन द्वारा-जैन एण्ड एसोसियेटेड
चण्डीगढ के उदार अर्थ सौजन्य से प्रकाशित

☐ प्रथमावृत्ति
वि० स० २०४२ चैत्र
३० मार्च १९८६

☐ प्रकाशक
श्री आत्म ज्ञान पीठ
मानसा मण्डी (पंजाब)

☐ मुद्रण व्यवस्था
राजेश सुराना,
दिवाकर प्रकाशन के निर्देशन में
शक्ति प्रिंटर्स आगरा
एन० के० प्रिंटर्स आगरा

संशोधित मुल्य : ₹ 100

समतायोग के समर्थ साधक

भारतीय ऋषि-परम्परा के गौरव

आदर्श श्रमण, आत्म-कुल-द्योतक

राष्ट्रसन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक

गुरुदेव श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज

के

कर-कमलों में

सादर-सविनय भेंट

३० मार्च १९८६
अम्बाला शहर
चादर महोत्सव

—अमर मुनि

प्रकाशकीय

अपने प्रेमी पाठकों के हाथों में हम आज एक महत्वपूर्ण अध्यात्म ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे जीवन का ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इस ग्रंथ में भारत के ४५ ऋषि महर्षियों की साधना से प्राप्त अनुभवों पर आधारित उपदेश-वचनों की व्याख्या है। जैन परम्परा में यह ग्रन्थ 'ऋषि-भाषितानि' नाम से प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ में अनेक शिक्षाप्रद, रोचक अध्यात्म प्रधान विविध विचार हैं। हमारे परम श्रद्धेय उत्तर भारत केसरी श्री अमर मुनि जी महाराज तो इसे जैन परम्परा का 'उपनिषद्' ही कहते हैं, और स्थान-स्थान पर इसी ग्रन्थ के आधार पर बड़े प्रेरक, जीवनस्पर्शी प्रवचन करते हैं।

इस पुस्तक में ऋषिभाषितानि सूत्र पर प्रदत्त प्रवचनों का संग्रह है। इन प्रवचनों में जीवन को आलोक प्रदान करने वाली अद्भुत ज्योति है, प्रकाश है और यह प्रकाश एक शास्वत प्रकाश है, अक्षयज्योति है—इसलिए इसका सार्थक नाम भी यही रखा गया है—'**अमरदीप**'।

इन प्रवचनों का संग्रह करने में गुरुदेव श्री के मेधावी शिष्य श्री सुव्रत मुनि शास्त्री जी ने बड़ा परिश्रम किया है, तथा इनके सम्पादन में प्रसिद्ध साहित्यकार भाई श्रीचन्द जी सुराना ने बड़ी निष्ठा के साथ कठिन प्रयास किया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में जैन समाज के जाने-माने कार्यकर्त्ता, उदार हृदय श्रीयुत प्रेमचन्द जी जैन (जैन एण्ड एसोसियेटेट चंडीगढ़) ने अपने पूज्य माता-पिता जी की भावनानुरूप बड़ी उदारता के साथ धनराशि प्रदान की है। वे गुरुदेव श्री के परम भक्त हैं और समाज के दानवीरों में उनकी गिनती है। हम संस्था की तरफ से उनको भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं, पुस्तक बड़ी होने से इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। अभी प्रथमभाग पाठकों के कर-कमलों में सादर समर्पित है।

पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्तक राष्ट्रसंत श्री भंडारी पद्मचन्द्र जी महाराज के प्रवर्तक पर चादर महोत्सव पर इस पुस्तक का प्रकाशन 'सोने में सुगन्ध' की तरह हो गया है। हमें विश्वास है, हमारे इस प्रकाशन से जनता लाभ उठायेगी।

फकीरचन्द जैन

प्रधान—आत्म ज्ञान पीठ

सेवा-सरलता की मूर्ति, नवयुग सुधारक राष्ट्रसंत
प्रवर्तक भंडारी श्री पदमचन्द जी म०

जैन परम्परा का उपनिषद्—ऋषिभाषितानि

हम जिस संसार में जी रहे हैं, इसका नाम है लोक ! लोक का अर्थ है, जो दीखता है, या जो देखा जाता है। यह दुनियाँ हमें आंखों से साफ दिखाई देती है—इसलिए हम इसे 'लोक' कहते हैं।

एक आचार्य ने लोक का अर्थ किया है—

यत्र पुण्य-पाप फल-लोकनं स लोकः—(राजवार्तिक)

जहाँ पुण्य और पाप का फल प्रत्यक्ष देखा जाता है, वह है लोक।

मनुष्य को, इन्सान को भी लोक कहते हैं। जो स्वयं देख सकता है—जो देखता है वह भी लोक है अर्थात् मनुष्य में देखने की शक्ति है, इस लिए इसे भी 'लोक' कहते हैं।

आप कहेंगे, देखने की शक्ति तो पशु में भी है, बिल्ली बड़ी तेज देखती है, गीध की दृष्टि भी बड़ी तेज है, पर यह 'लोक' क्यो नहीं ? इसका उत्तर स्व० विनोबा जी ने यों दिया है—

पश्यति इति पशु—जो सिर्फ देखता है, वह पशु है।

मननशीलः मनुष्यः

—"जो देखकर उस पर विचार भी करता है, चिन्तन मनन करता है, वह मनुष्य है।

पशु और मनुष्य में यही अन्त है—पशु सिर्फ देखता भर है, उस पर विचार नहीं करता। क्यों, क्या, कैसे किसलिए—इन प्रश्नों पर उसका दिमाग काम नहीं करता, किंतु मनुष्य लोकन करता है, अवलोकन भी करता है। मनन करता है, विचार करता है। अपने जीवन के विषय में अपने अतीत के विषय में और अपने भविष्य के विषय में भी सोचता है—मननशील है, इसलिए वह मनुष्य है। अवलोक शील है, इसलिए यह लोक है।

जब मनुष्य देखता है, तो क्या देखता है—यही कि इस दुनियां में कुछ लोग बुरे हैं, कुछ भले हैं। कुछ सज्जन है, कुछ दुर्जन हैं ! कुछ सुखी

है। कुछ दुखी हैं। फिर इस पर विचार करना है—सुखी है तो क्यों है? दुखी हैं तो क्यों? बुरा है तो क्यों है? भला है तो क्यों है? यह जीवन क्या है? जगत क्या है? मैं इस दुनियाँ में आया हूँ तो मुझे क्या करना है, यह जिन्दगी कितने दिन की है? जब मनुष्य यह शरीर छोड़कर जाता है तो कहाँ जाता है? मर कर मिट्टी का पुतला यहीं खत्म हो जाता है या कोई ऐसा तत्व है, जो मर कर भी 'अमर' रहता है?

इन सब बातों पर विचार चिन्तन करना मनुष्य का स्वभाव है। वह सदा सदा से इन बातों पर विचार-मनन करता आया है। यह विचार ही 'दर्शन' कहलाता है। दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है। जिज्ञासु मनुष्य दार्शनिक बनता है।

भारत की मिट्टी की यह विशेषता है कि यहाँ का मानव प्रारंभ से ही जीवन और जगत के विषय में सोचता आया है। साधारण से साधारण दीखने वाला व्यक्ति भी यहाँ 'आत्मा' 'परमात्मा' लोक, परलोक कर्म और पुनर्जन्म की बातें करता है। जीवन की गति-प्रगति का रहस्य जानने को वह सदा से उत्सुक रहा है। चिन्तन की यह उत्सुकता मनुष्य को ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ाती है।

भारत के ऋषि-मुनि चिन्तनशील, मननशील तो रहे हैं पर साथ ही आत्म-दृष्टा भी रहे हैं। जो सिर्फ जीव और जगत के विषय में सोचता है, वह दार्शनिक होता है, किंतु जो अपने विषय में भी सोचता है, वह 'आध्यात्मिक' होता है।

भारत का दार्शनिक सिर्फ दार्शनिक नहीं, किंतु 'आध्यात्मिक' भी रहा है। वह संसार के विषय में सोचता हुआ अपने विषय में भी सोचता है! संसार में कोई मनुष्य सुखी है, बुद्धिमान है, सुन्दर है, और सर्वत्र उसका सम्मान होता है, तो कोई मनुष्य दुखी हैं, निरा बुद्धू है, दीखने में भी कुरूप है, पद-पद पर उसे अपमान और असफलता का सामना करना पड़ता है—यह सब भेद क्यों है, किस कारण है? इस तथ्य पर जब चिन्तन किया जाता है तो मनुष्य की 'आत्मा' सामने आती है। कर्म, पर विचार आता है। जिस आत्मा ने जैसा कर्म किया है, पुण्य या पाप, शुभ या अशुभ जैसा आचरण किया है, उसी के अनुसार जीवन में उसके परिणाम या फल मिलते हैं। जैसा बीज बोया जाता है उसी प्रकार का फल भी लगता है।

भारतीय विचारकों में मुख्यतः तीन प्रकार की विचार धाराएँ चलती रही हैं।

१. नास्तिकवादी

२. ईश्वरवादी

३. आत्मवादी

नास्तिक, जिसे प्राचीन भाषा में चार्वाक कहते थे, वह सिर्फ शरीर को ही मानता है। उसका कहना है—"मनुष्य तो माटी पानी के संयोग से पैदा हुआ एक पुतला है, कुछ दिन अपना खेल दिखाकर वापस इसी मिट्टी पानी, आकाश में मिल जायेगा। इस शरीर से आगे कोई नई दुनियाँ नहीं है।" इस प्रकार की नास्तिक विचारधारा में 'पुण्य-पाप' आत्मा-परमात्मा नाम की वस्तु ही नहीं है। कोई परम शक्ति या शास्वत तत्व ही नहीं हैं। खाना-पीना भोग-विलास, यही क्षुद्र लक्ष्य है इस जीवन का।

दूसरी विचारधारा है—ईश्वरवादी ! उनका कहना है—मनुष्य केवल क्षणस्थायी माटी का पुतला नहीं है, इसके अन्दर अमरत्व का दीपक भी जल रहा है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुनः जन्म—यह संसारचक्र है और इस विराट संसारचक्र को चलाने वाली कोई परमशक्ति या सत्ता भी है, वह सत्ता भले ही हमें दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, किन्तु वह दूध में चिकनाई की तरह कण-कण में व्याप्त है, और उस परम सत्ता के इशारे पर ही मनुष्य-प्राणी कठपुतली की तरह नाच रहा है। वह परम सत्ता है 'ईश्वर' उसी की प्रेरणा से मनुष्य शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य भी उसी की प्रेरणा से करता है।

तीसरी विचारधारा—आत्मवादी है। आत्मवादी का कहना है, मनुष्य स्वयं ही शक्ति का केन्द्र है। मनुष्य एक आत्मा है, और आत्मा ही परमात्म शक्ति का रूप है। जब तक कर्म का, वासना का, मोहमाया का आवरण या पर्दा पड़ा है तब तक वह परम ज्योति निखर नहीं पाई है, इसलिएं यह मानव दीन-हीन असमर्थ दीखता है जब यह प्रयत्न करके, तपस्या और साधना करके उन आवरणों को हटा देगा तो उसी के भीतर से वह परम ज्योति फूट पड़ेगी। आत्मा ही परमात्मा के रूप में प्रकट हो जायेगा। बीज ही वृक्ष का विराट रूप धारण कर लेगा। बीज और वृक्ष दो अलग वस्तुएँ नहीं है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा की भी अलग सत्ता नहीं है। जीव ही शिव है, नर ही नारायण है। सिर्फ जरूरत है पुरुष को पुरुषार्थ करके, साधना करके 'परमेश्वर' स्वरूप प्रकट करने की। यह

तीसरी विचारधारा—आत्मवादी विचारधारा है। इसे हम जैन दर्शन या जैन विचारधारा कह सकते हैं।

आत्मवादी विचारधारा मनुष्य के विराट रूप में विश्वास करती है, और इसे आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा देती है। वह प्रेरणा है, त्याग, संयम, साधना, वैराग्य और समाधि की। साधना—ईश्वर का दर्शन करने के लिए नहीं, किन्तु ईश्वर स्वरूप को प्रकट करने के लिए है।

तो आत्म-विकास के विचार, चिन्तन, उपदेश जिन शास्त्रों में होते हैं, वे अध्यात्म शास्त्र कहलाते हैं। जिन ऋषियों ने अपने अनुभव से जो कुछ देखा है, जाना है, अनुभव किया है, वे वही अनुभव दूसरों के कल्याण के लिए प्रकट करते हैं, उनके वे अनुभव हो शास्त्र हैं, ग्रन्थ हैं।

हम जिस '**ऋषिभाषित**' सूत्र पर आगे चर्चा कर रहे हैं, वह एक अध्यात्मशास्त्र है। भारत की अध्यात्मवादी विचारधारा का इस पर गहरा प्रभाव है। इसमें ऋषि, मुनि, तपस्वी परिव्राजक और भिक्षुओं के जीवनानुभव है। साधना के द्वारा जो 'अमृत' उन्हें प्राप्त हुआ वही विचारों का अमृत उन्होंने हमारे लिए प्रस्तुत किया है, इस ग्रंथ में।

'ऋषिभाषित' सूत्र किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है, किंतु यह तो भारत की तपोभूमि पर पैदा हुए उन विभिन्न ४५ ऋषि-मुनियों के आत्मानुभव का संकलन है, जिन्होंने स्वयं को तपाया है, खपाया है, साधना के क्षेत्र में। इसमें विविध प्रकार के विषय हैं, विविध प्रकार की शैलियाँ हैं, और अपने-अपने आत्मानुभव में भी बड़ी विविधता और रोचकता है।

'ऋषि भाषितानि' का मैंने कई बार अध्ययन किया है, इस पर अनेक बार प्रवचन दिये हैं। मैं जैसे-जैसे इस पर विचार करता हूँ—मुझे लगता है यह ग्रन्थ जैन परम्परा का उपनिषद् हैं। उपनिषद् में जिस प्रकार विविध ऋषियों के अध्यात्म अनुभव गुम्फित है, इसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी बड़े ही गहन, अनुभव मूलक, आत्मस्पर्शी अध्यात्म-अनुभव है। इसकी भाषा शैली भी सूत्रात्मक है, थोड़े में बहुत व्यक्त करने वाले गूढ़ वचन हैं। ऋषियों ने बड़ी स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ मनुष्य के अन्तर मन को जागृत करने, प्रबुद्ध करने का प्रयास किया है। इसलिए कहीं-कहीं यह सूत्र बहुत गंभीर भी हो गया है। चूँकि यह 'अध्यात्मवाद' का ग्रन्थ है, इसलिए कथा-कहानी जैसा सरल और रोचक होने का प्रश्न ही नहीं। इससे जीवन की, अन्तरमन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। इसमें आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, संयोग-वियोग, क्रिया अक्रिया, संयम, निर्जरा-संवर

तप जैसे गहन विषय हैं तो कहीं-कहीं बड़े सरल, रोचक और शिक्षाप्रद विषय भी हैं। इसलिए हो सकता है ये प्रवचन पाठकों को एक ही बार में समझ में कम आये; वे इसे पुनः पुनः, मननपूर्वक पढ़ेंगे, उन पर चिन्तन करेंगे तो वे विषय हृदयंगम हो सकेंगे। और जैसे-जैसे वे इनकी गहराई में पहुँचेंगे, लगेगा इनमें लीक से हटकर कुछ नया है, और विचार सामग्री भी नई है, सूक्तियाँ भी मन को छूने वाली हैं।

बहुत वर्षों से मेरी भावना थी कि इन प्रवचनों का संकलन कर पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जाय तो अध्यात्म रसिक बन्धुओं के लिए काफी अच्छी सामग्री तैयार हो जायेगी। मेरे परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव राष्ट्रसन्त श्री भण्डारी जी महाराज की भी प्रेरणा रहीं। और मेरे शिष्य श्री सुव्रत मुनि शास्त्री एवं स्नेहीबन्धु श्रीचन्द जी सुराना की भी इच्छा थी कि इन प्रवचनों का सम्पादन प्रकाशन होना चाहिए, अब यह पुस्तकाकार 'अमरदीप' बनकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है प्रेमी और जिज्ञासु पाठक गम्भीरतापूर्वक इन्हें पढ़कर लाभ उठायेंगे।

इस प्रकाशन में धर्मप्रेमी श्री पी० सी० जैन के परिवार ने जो सहयोग दिया है, वह भी अनुकरणीय और प्रशंसनीय है।

—अमर मुनि

□

धर्मप्रेमी उदारहृदय सेठ श्रीराम जैन तथा उनका परिवार–

[एक परिचय]

जैसे फूल की विशेषता उसकी सुगन्ध है, दीपक की महत्ता प्रकाश में है, वैसे ही मनुष्य जीवन की महत्ता उसके सद्गुणों में है।

जिस जीवन में सद्गुण हैं, धर्म-प्रेम, उदारता, प्रभु भक्ति, राष्ट्रभक्ति और मानव-सेवा की भावना जिस मानव में है, वह मानव मानवता का शृंगार है, संसार का श्रेष्ठ मानव है।

सेठ श्रीराम जी जैन भी श्रेष्ठ मानवों की इस शुभ परम्परा में आते हैं। आपका पूरा परिवार ही भगवान महावीर की उदार शिक्षा और उपदेशों पर आचरण करने वाला, राष्ट्रीय विचारों का सुसंस्कृत तथा प्रतिष्ठित परिवार है।

आप मूलतः ग्राम मडलोडा जि० करनाल (हरियाणा) के निवासी हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कलावती जैन भी बड़ी धार्मिक, श्रद्धाशील और सेवापरायण नारीरत्न है। आपके पांच सुपुत्र तथा पांच सुपुत्रियाँ हैं।

सहारनपुर (उ० प्र०) में आपका चावल मिल तथा सालवेंट प्लाण्ट है। आप एक परिश्रमी तथा नीतिमान उद्योगपति है। आपके ही सुसंस्कार आपके पुत्र-पुत्रियों में, परिवार में पल्लवित हुए हैं। आपकी सभी सन्तान आज्ञाकारी, सुशिक्षित तथा अपने व्यवसाय में कुशल हैं। आपके समस्त परिवार की जैनधर्म, भगवान महावीर तथा राष्ट्रसन्त गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा है।

आपकी पांचों पुत्रियाँ अच्छे प्रतिष्ठित सुखी परिवार में विवाहित हैं। पाँचों पुत्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

धर्मप्रेमी उदारहृदय उद्योगपति

सेठ श्रीराम जैन, मडलोड़ा (करनाल)

धर्मशीला सुश्राविका श्रीमती कलावती जैन
धर्मपत्नी सेठ श्रीराम जैन, मडलोड़ा

१. **श्री प्रेमचन्द जैन** (C.A.) आपकी धर्मपत्नी हैं—
—**श्रीमती कमलश्री जैन** बी. ए. बी. एड.

२. **श्री बाबू राम जैन** (C.A.) धर्मपत्नी ; **श्रीमती डा० अनीता जैन** एम. बी. बी. एस. ।

३. **श्री ब्रिजेन्द्र जैन** (C.A.) धर्मपत्नी **श्रीमती सन्तोष जैन** एम. ए. ।

४. **श्री सुशील जैन** (C.A.) ।

५. **श्री राकेश जैन** (B.Com.) अध्ययन कर रहे हैं ।

आपके सुपुत्र देश के विभिन्न बड़े नगरों जैसे चण्डीगढ़, पानीपत, दिल्ली, बम्बई आदि में अपने व्यवासय में संलग्न है । चार्टडेट एकाउन्टेण्ट तथा अन्य उद्योग व्यवसाय भी सम्भालते हैं ।

आपकी प्रमुख फर्मों का कार्यालय निम्न हैं—

जैन एण्ड एसोसियेट्स
S. C. O. 819·20 सेक्टर 22 A.
चण्डीगढ़, 160,022

फोन : 20761/20967

हम प्रभु जिनशासनदेव से प्रार्थना करते हैं कि यह सुसंस्कारी प्रतिष्ठित परिवार धर्म एवं राष्ट्र की सेवा करता हुआ धार्मिक संस्थाओं को इसी प्रकार उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करता रहेगा ।

फकीरचन्द जैन
प्रधान—श्री आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मंडी

नवयुग सुधारक राष्ट्रसन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री भंडारी पद्मचन्द्र जी महाराज

कुछ लोग अपने माता-पिता तथा गुरु के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, तो कुछ लोग अपने ज्ञान व अध्ययन-डिग्री आदि के कारण। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अपनी सेवा और उदारता के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।

हमारे पूज्य गुरुदेव प्रवर्तक श्री पद्मचन्द जी महाराज अपनी उदारता, सेवाभावना के कारण समाज में प्रारम्भ से ही 'भंडारी जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज ने ही आपकी सेवा और सब के लिए, सब कुछ समर्पण की भावना को देखकर भण्डारी नाम का प्यारा व सार्थक सम्बोधन दिया था। आचार्यश्री के प्रमुख शिष्य प्रकाण्ड पंडित और शान्तमूर्ति पंडित श्री हेमचन्द्र जी महाराज आपके दीक्षागुरू थे। प्रारम्भ से ही आप गुरुदेव तथा दादागुरु आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की सेवा में रहे। आचार्यश्री की अन्तिम अवस्था में तो आपने उनकी अभूतपूर्व सेवा की जिसके कारण उन्हें परम शान्ति व समाधि अनुभव हुई।

आपश्री स्वभाव से बहुत ही सरल, निष्पृह, नाम की कामना से दूर रहते हुए धर्म का प्रचार करते हैं। आपके सदुपदेश तथा प्रेरणा से आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री अमरमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन से पंजाब एवं हरियाणा में स्थान-स्थान पर धर्मस्थानक, जैन हॉल, विद्यालय आदि का निर्माण हुआ है। आप श्री जी की प्रेरणा व प्रयत्न से पटियाला यूनीवर्सिटी में 'जैन चेयर' की स्थापना हुई जहाँ जैन धर्म, दर्शन व साहित्य पर विशेष शोध-अध्ययन चल रहा है।

जैन शासन एवं श्रमण संघ की उन्नति-अभ्युदय में आपका योग-दान इसी प्रकार दीर्घकाल तक मिलता रहे, और आप स्वस्थ एवं दीर्घ-जीवन प्राप्त करें—यही मंगल भावना है। □

वाणी के जादूगर : प्रवचनभूषण

उत्तर भारत केसरी श्री अमर मुनि

वक्ता वाग्देवता का प्रतिनिधि है। वक्ता की वाणी मुर्दों में प्राण फूंक देती है तथा पापियों को पुण्यात्मा बना देती है।

प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी एक उच्चकोटि के सन्त-वक्ता हैं। वे कवि भी हैं, भक्ति की धारा में डुबकियाँ लगाने वाले सन्त हैं, और ऊँचे विचारक, विद्वान तथा लेखक भी हैं। हृदय से बड़े सरल, सबका भला चाहने वाले, अत्यन्त मृदुभाषी और वह भी अल्पभाषी, देव-गुरु-धर्म-के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति रखने वाले, प्रसन्नमुख और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी ऐसे सन्त हैं जिनके निकट एक बार आने वाला, बार बार उनसे मिलना चाहता है, बोलना चाहता है, सुनना चाहता है और पाना चाहता है उनका आशीर्वाद।

वि० सं० १९९३, भादवा सुदि ५ तदनुसार ई० सन् १९३६ सितम्बर में क्वेटा (बलूचिस्तान) के सम्पन्न मल्होत्रा परिवार में आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री दीवानचन्द जी और माता श्री बसन्तीदेवी बड़े ही उदार और प्रभुभक्त थे।

पूर्व जन्म के संस्कार कहिए या पुण्यों का प्रबल उदय, आप ११ वर्ष की लघु वय में आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों में पहुँच गये और वैराग्य संस्कार जागृत हो उठे। आचार्यश्री ने अपनी दिव्य दृष्टि से आप में कुछ विलक्षणता देखी और जब आपकी भावना जानी तो अपने प्रिय सेवाभावी प्रशिष्य भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज को कहा—"भंडारी, इसे तुम सँभालो, यह तुम्हारी सेवा करेगा और नाम रोशन करेगा।"

११ वर्ष की आयु से ही आपने हिन्दी, संस्कृत और जैन धर्म का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। १५ वर्ष की आयु में वि० सं० २००८ भादवा सुदि ५ को सोनीपत मंडी में जैन श्रमण दीक्षा ग्रहण करली।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के स्नेहाशीर्वाद एवं गुरुदेव श्री भंडारी जी महाराज की देख-रेख में आपने जैनधर्म, दर्शन, प्राकृत, संस्कृत, गीता, रामायण, वेद तथा भारतीय दर्शनों व धर्मों का गहरा अध्ययन किया। आप एक योग्य विद्वान, कवि और लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए। आपकी वाणी, स्वर की मधुरता और ओजस्विता तो अद्भुत हैं ही, प्रवचन शैली भी बड़ी ही रोचक, ज्ञानप्रद और सब धर्मों की समन्वयात्मक हैं। हजारों जैन-जैनेतर भक्त आपकी प्रवचन सभा में प्रतिदिन उपस्थित रहते हैं।

आप समाज की शिक्षा एवं चिकित्सा आदि प्रवृत्तियों पर ज्यादा ध्यान देते हैं। जगह-जगह विद्यालय, गर्ल्स हाईस्कूल, वाचनालय, चिकित्सालय और सार्वजनिक सेवा केन्द्र तथा धर्मस्थानकों का निर्माण आपकी विशेष रुचि व प्रेरणा का विषय रहा है। पंजाब व हरियाणा में गाँव-गाँव में आपके भक्त और प्रेमी सज्जन आपके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

आपश्री ने जैनधर्मदिवाकर आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज की जन्म शताब्दी वर्ष में उनकी स्मृति में जहाँ अनेक धर्मस्थानक, हाईस्कूल आदि की प्रेरणा दी है, वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी महान् कार्य किया है।

सूत्रकृतांग जैसे दार्शनिक आगम को दो भागों में सम्पादन-विवेचन किया, भगवती सूत्र जैसे विशाल सूत्र का (५ भाग) सम्पादन विवेचन किया है जो आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित हो रहे हैं। आचार्य श्री की अमरकृति "जैन तत्त्व कलिका" विकास को भी आधुनिक शैली में सुन्दर रूप में संपादित किया है। और 'जैनागमों में अष्टांग योग' का भी बहुत ही सुन्दर व आधुनिक ढंग का एक परिष्कृत-परिवर्धित संस्करण 'जैन योग: सिद्धान्त और साधना' के रूप में तैयार किया है। ऋषि भाषितानि सूत्र पर आपश्री के विवेचना पूर्ण प्रवचन अमरदीप में संकलित है।

आप यश एवं पद की भावना से दूर रहकर समाज में धर्म तथा ज्ञान का प्रचार करने में ही रुचि रखते हैं। समाज ने आपको प्रवचन भूषण, श्रुतवारिधि, उत्तरभारत केसरी श्रुतवारिधि आदि पदों से सम्मानित किया है। गुरुदेव भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के सान्निध्य में आप युग-युग तक धर्म की यशःपताका फहराते रहें—यही शुभ कामना है। □

प्रखरवक्ता श्रुतवारिधि उत्तरभारत केसरी

श्री अमर मुनि जी महाराज

अमर दीप

अनुक्रमण

१	ऋषिभाषित सूत्र: एक अमर दीपक है	१
२	श्रवण: निर्वाण पथ का पहला दीपक	६
३	श्रवण का प्रकाश, आचरण में	१७
४	दु:ख के मूल: समझो और तोड़ो	२६
५	निर्लेप होने का सरल विज्ञान	४२
६	प्रगति का मूलमन्त्र: समभाव	५१
७	अहंकार विजय के सूत्र	६४
८	जीवन: एक संग्राम	७३
९	दु:ख मुक्ति के आध्यात्मिक उपाय	८४
१०	दु:ख विमुक्ति के लिए ग्रन्थच्छेद	९६
११	जन्म और कर्म का गठबन्धन	१०३
१२	जन्म-कर्म परम्परा की समाप्ति के उपाय	१०४
१३	मिथ्या श्रद्धा और सम्यक् श्रद्धा	१४०
१४	आध्यात्मिक विकास का राजमार्ग	१५४
१५	लाकैषणा और वित्तैषणा के कुचक्र	१६५
१६	जीवन की सुन्दरता	१७७
१७	शुद्ध अशुद्ध क्रिया का मापदण्ड	१८२
१८	दु:खदायी सुखों से सावधान	२०३
१९	महानता का मूल इन्द्रिय-विजय	२१६
२०	आत्मविद्या से कर्म-विमुक्ति	२३२
२१	पाप सांप से भी खतरनाक	२४७

□

१

ऋषिभाषितसूत्र : एक अमर दीपक है

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आप लोग बड़ी उत्सुकता और जिज्ञासा लिये आज यहाँ शास्त्र सुनने के लिए उपस्थित हुए हैं। अतः मैं आज से आपको **ऋषिभाषित सूत्र** पर अपना प्रवचन सुनाना चाहूँगा। चातुर्मास में यह प्रवचन-माला लगातार कई दिनों तक चलेगी और आपको इससे जीवन की अनेक बहुमूल्य उपयोगी बातें भी सुनने को मिलेंगी। मैं प्रायः प्रतिवर्ष ही चातुर्मास में ऋषिभाषितसूत्र को आधार बनाकर प्रवचन करता हूँ। मुझे तो यह सूत्र एक महान जीवन-दीपक जैसा लगता है। ऋषियों के अनुभव जीवन की गहरी अनुभूतियों पर टिके हैं। और ये अनुभव सूत्र हमारे, जीवन में भी प्रकाश दे सकते हैं, जीवन यात्रा के अमर दीपक बन सकते हैं।

ऋषिभाषित सूत्र : कौनसा सूत्र ?

आप शायद चौंककर यह कहेंगे कि यह 'ऋषिभाषित-सूत्र' कौन-सा सूत्र है ? हमने बत्तीस आगमों के नाम तो सुने हैं। उनमें तो यह नाम नहीं है; तो क्या यह कोई तेतीसवाँ नया शास्त्र है ? जिसे महाराजश्री ने खोज निकाला है ?

बंधुओ ! ऐसी बात नहीं है। वैसे देखा जाए तो बत्तीस सूत्रों में इस शास्त्र का समावेश तो नहीं है। किन्तु 'नन्दी-सूत्र' में जहाँ कालिक सूत्रों की नामावली दी है, वहाँ सातवें नम्बर में इस सूत्र का नाम आया है। सुनिये नन्दीसूत्र का वह पाठ—

> **"से किं तं कालियं ?"**
>
> **"कालियं अणेगविहं प०, तं जहा—उत्तरज्झयणं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहे, महानिसीहे, इसिभासियाइं ....।"**

अर्थात्—(पूछा गया है)—भगवन् ! वह कालिक श्रुत कौन-सा है ?
उत्तर—कालिक सूत्र अनेक प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—

(१) उत्तराध्ययन, (२) दशाश्रुतस्कन्ध, (३) कल्प (बृहत्कल्प सूत्र) (४) व्यवहार सूत्र, (५) निशीथ सूत्र, (६) महानिशीथ सूत्र, (७) ऋषिभाषित सूत्र इत्यादि।

समवायांग सूत्र के चवालीसवें समवाय में तो और भी स्पष्ट रूप से इस सूत्र का परिचय देते हुए कहा है—

चोयालीसं अज्झयणा दियलोय-चुय-भासिय-पण्णत्ता।
दिय-लोय-चुयाणं इसीणं चोयालीसं इसिभासिज्झयणा पण्णत्ता॥

चवालीस अध्ययन देवलोक से च्युत ऋषियों द्वारा भाषित हैं। अर्थात्—देवलोक से च्युत, चवालीस ऋषियों द्वारा भाषित (कथित) अध्ययनों के कारण इसे 'ऋषिभाषित-अध्ययन सूत्र' कहा गया है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ चवालीस ऋषियों के द्वारा भाषित प्रवचनों को 'ऋषिभाषित सूत्र' नाम दिया गया है, परन्तु इस 'ऋषिभाषित-सूत्र' में तो पैंतालीस अध्ययन हैं, फिर इस कथन की संगति कैसे होगी ?

इसका समाधान करते हुए नन्दीसूत्र के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—उक्त चवालीस ऋषि तो देवलोक से आये हैं, किन्तु हो सकता है, पैंतालीसवें ऋषि किसी अन्य गति से आए हों, अतएव उनका उल्लेख यहाँ न किया हो। जो भी हो, यह शास्त्र बत्तीस सूत्रों की ही तरह, नन्दी-सूत्र, समवायांगसूत्र आदि द्वारा प्रमाणित है।

मूलभाष्य में आचार्यश्री चार अनुयोगों की व्याख्या करते हुए इसिभासियाइं की गणना 'धर्मकथानुयोग' में करते हैं। जैसे कि वहाँ कहा गया है—

कालियसुअं च इसिभासियाइं, तइयामसूरपन्नत्ति।
सव्वोअं दिट्ठिवाओ, चउत्थो होइ अणुओगो॥

इसिभासियाइं (ऋषिभाषित सूत्र) कालिक है। कालिक श्रुत में प्रथम चरण-करणानुयोग है, फिर द्वितीय अनुयोग है—धर्मकथानुयोग, इसमें 'ऋषिभाषित' की गणना की गई है। गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति की और द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद (१२वां अंग) की गणना की गई है।

यहाँ तो इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि नन्दीसूत्र में विभिन्न तीर्थंकरों के शासन में हुए प्रत्येकबुद्धों की संख्या दी है। इनके द्वारा रचित शास्त्रों को सम्यक्श्रुत में परिगणित किया गया है। अतएव इस शास्त्र को तीर्थंकर वचनों से सम्मत मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'गुणिषु प्रमोदम्' इस सत्र के अनुसार हमें प्रमोद भावना के सन्दर्भ में गुणों का उपासक बनना चाहिए। सत्य कहीं से भी मिलता हो, अनेकान्त-

वादी श्रमण या श्रमणोपासक को या मार्गानुसारी नीतिमान सद्गृहस्थ को उसे ग्रहण करने से इन्कार नहीं करना चाहिए।

ऋषिभाषित के रचयिता

प्रश्न होता है कि ऋषिभाषित के रचयिता कौन थे? परन्तु इसके कुल ४५ अध्ययनों में प्रत्येक अध्ययन के साथ उसके प्रवक्ता अर्हतर्षि का नाम उल्लिखित है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस सूत्र का कोई एक रचयिता नहीं है, क्योंकि यह किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है। इसमें विभिन्न वक्ताओं के चिन्तन-सूत्र संकलित हैं। ऋषिभाषित के प्रायः प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में उस-उस प्रवक्ता ऋषि का अर्हत् ऋषि-विशेषणपूर्वक नामोल्लेख किया गया है। अतः ये सभी ऋषि आर्हत्-परम्परा में दीक्षित, विशिष्ट ज्ञानी साधक या अर्हत्-सिद्धान्त-प्ररूपक थे। वैदिक धर्म के 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः' इस परिभाषा के अनुसार ये सभी ऋषि अध्यात्मतत्त्वों के मूलमंत्रों के ज्ञाता-द्रष्टा थे। जैन परिभाषा में इन्हें 'प्रत्येकबुद्ध' कहा गया है। यद्यपि जैन जगत् में चार ही प्रत्येकबुद्ध प्रसिद्ध हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येकबुद्ध चार ही हुए हैं। यही कारण है कि नन्दीसूत्र में विभिन्न तीर्थंकरों के शासन में हुए प्रत्येकबुद्धों की संख्या दी गई है, जो हजारों तक पहुँची है। जैसे—भगवान् आदिनाथ के ८४००० शिष्य तथा भगवान् महावीर के १४००० शिष्य ऐसे थे, जो चार प्रकार की (औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी) बुद्धि से युक्त थे, उन्होंने उतने ही हजार प्रकीर्णक रचे तथा वे सब 'प्रत्येक-बुद्ध' हुए थे। प्रत्येकबुद्ध का अर्थ है—वह पवित्र और जागृत आत्मा, जो किसी एक निमित्त को पाकर प्रबुद्ध हुआ, जाग उठा है, जिसके अन्तर् में सोया हुआ 'परमात्मा' जागृत हो गया है।

जिस बीज में हवा, पानी एवं प्रकाश के संयोग से वृक्ष का विराट् रूप प्रस्फुटित हो जाता है, वह बीज विराट् वृक्ष के रूप में संसार में पूजा जाता है। उसी प्रकार ऐसे प्रत्येकबुद्धों के जीवन में भी आर्हत्-सिद्धान्त के बीज विराट् वृक्ष के रूप में विस्तार पा गये थे। उन्हीं सिद्धान्तों का उन्होंने प्रतिपादन किया है। उनके अन्तःकरण में अध्यात्म ज्ञान का आलोक जगमगा उठा था। उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ प्रशान्त, पवित्र एवं निर्मल थीं।

ऋषिभाषित सूत्र में जिन प्रत्येकबुद्धों की वाणी का संकलन है, वे मुख्यतया तीन तीर्थंकरों के युग के थे—(१) भगवान् नेमिनाथ, (२) भगवान् पार्श्वनाथ और (३) भगवान् महावीर।

इसके अतिरिक्त इस सूत्र के प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में उसके प्रवक्ता के रूप में अर्हत्-ऋषि कुर्मारपुत्र, तेतलिपुत्र जैसे जैन-संस्कृति के

प्रतिनिधि तत्त्वचिन्तकों और साधकों के नामों का उल्लेख है, वैसे ही वैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में देवनारद और आंगिरस ऋषि का, तथा पिंग और इसिगिरि जैसे माहण (ब्राह्मण) परिव्राजकों का एवं बौद्ध संस्कृति के 'सालिपुत्त' जैसे बौद्ध श्रमणों का भी उल्लेख आया है। इस पर यह तथ्य दिन के उजाले की तरह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित-सूत्र के प्रवक्ता निष्पक्ष एवं सत्यग्राही थे, अत चाहे यह सूत्र तीर्थंकर भगवान् के द्वारा साक्षात् कथित न हों, परन्तु उनका अध्यात्म-ज्ञान इन प्रत्येकबुद्धों की वाणी में अवश्य ही अवतरित होकर आया है। ये सभी निश्चयतः सम्यग्दृष्टि थे। इसलिए इनके द्वारा रचित शास्त्र सम्यक्श्रुत है, ऐसा मानने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

ऋषिभाषितसूत्र की विशेषता

यह बात निश्चित है कि सत्य और अध्यात्मज्ञान किसी एक सम्प्रदाय-विशेष की बपौती नहीं होते। ऋषिभाषित-सूत्र सत्य एवं आध्यात्मिक अनुभवों का खजाना है। यह निष्पक्षदृष्टि से शाश्वत सत्य का पिटारा है। अध्यात्म की गहन बातें बहुत ही सरल शब्दों में समझाई गई हैं। साधक-जीवन की उलझी हुई गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझाने का सरल-सरस तरीका इसमें सुझाया गया है।

ऋषिभाषितसूत्र में आप यह विशेषता पायेंगे कि इसका प्रवक्ता ऋषि अपने जीवन में अनुभूत एवं प्रयुक्त तथ्य-सत्य को अपने प्रवचन में प्रस्तुत करता है। वह रटी-रटाई या कहीं से उधार ली हुई बातें नहीं कहता, अपितु तीर्थंकरों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का प्रतिबिम्ब उनके अनुभूत वचनों में स्पष्ट प्रतीत होता है। वस्तुतः ये सभी प्रत्येकबुद्ध साम्प्रदायिकता से उन्मुक्त सत्यान्वेषी साधक थे इसलिए उन्होंने अपने विचार खुले दिलोदिमाग से बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रस्तुत किये हैं। जैसे मक्खन छाछ या मट्ठे में रहता है, किन्तु छाछ उसमें नहीं रहती, नौका पानी में रहती है, किन्तु पानी नौका में नहीं रह पाता, इसी प्रकार विशिष्ट अनाग्रही सन्त देह से अपनी मौलिक मर्यादा से सम्प्रदाय या समाज में रहता है, किन्तु उसकी आत्मा में साम्प्रदायिकता या सम्प्रदाय का जोशो-खरोश नहीं रहता। उसका हृदय महासागर की भाँति गम्भीर, विशाल एवं गुणों का रत्नाकर होता है।

आप ऋषिभाषितसूत्र में यह विशेषता भी पायेंगे कि इसमें समग्र भारतीय अध्यात्म का एवं भारतीय संस्कृति का बड़ा मधुर संगम है। हजारों हजार वर्षों से साथ-साथ बहने वाली जैन, बौद्ध और वैदिक संस्कृति की पावनधारा का त्रिवेणी-संगम इस सूत्र में मिलेगा और इसकी शीतलता से आपको बड़ी तृप्ति मिलेगी।

जीवन और जगत् के रहस्यवेत्ता इन ऋषियों ने मानव की वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वे साधक जीवन के बहुरुपियापन पर सीधा प्रहार करते हैं। वे प्रत्येक साधक को निहित स्वार्थियों या अज्ञपुरुषों द्वारा की हुई तीखी आलोचना को या निन्दा - प्रशंसा के प्रवाह को सुनकर अपने स्वीकृत अध्यात्म-पथ से विचलित न होने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रत्येक साधक को आलोचना-प्रत्यालोचना के द्वन्द्व में भी स्थिरप्रज्ञ रहने का परामर्श देते हैं।

ऋषिभाषित एक शुद्ध आध्यात्मिक शास्त्र है। इसमें आत्म-दर्शन के हर पहलू का प्रतिपादन है। यह आत्मा की विकृतियों या विभावपरिणतियों को दूर करके शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित रहने की प्रेरणा देता है। कहीं यह कषाय-विजय की प्रेरणा देता है। कहीं आध्यात्मिक युद्ध में प्रतिक्षण सावधानीपूर्वक विकारों से जूझकर आत्मा को विजयी बनाने की प्रेरणा करता है। कहीं समभाव की साधना का पाठ पढ़ाता है। कहीं आध्यात्मिक कृषि का सांगोपांग निरूपण करता है। कहीं इन्द्रियों और मन पर विजय पाने के लिए सुन्दर मार्ग-दर्शन करता है। कहीं सुख, शान्ति और समाधि के वास्तविक राजमार्ग का प्रतिपादन करता है।

जैनधर्म सदा से अनेकान्तवादी और गुणपूजक रहा है। वह वेश, पंथ या परम्परा का पिछलग्गू नहीं, गुणों का ग्राहक रहा है। जैसे समझदार व्यक्ति गाय के रंग-रूप या कद को नहीं देखता, किन्तु वह अमृततुल्य दूध को महत्त्व देता है, जिसे पीने से शरीर में बल, वीर्य, स्फूर्ति और कान्ति की वृद्धि होती है। इसी प्रकार जैनधर्म किसी व्यक्ति को महत्व न देकर उस उज्ज्वल चरित्र व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत सत्य के प्रकाश तथा अध्यात्म के अनुभवों को चन्द्र-सूर्य के सार्वजनीन प्रकाश की तरह महत्त्व देता है। इसलिए कहना होगा कि इस सूत्र में उज्ज्वल चरित्र ऋषियों के द्वारा कथित अध्यात्म का अनुभव एवं सत्य का सार्वजनीन प्रकाश है।

मेरा विश्वास है कि इस सूत्र पर विश्लेषणपूर्वक प्रवचनों के श्रवण, मनन और चिन्तन से श्रोताओं के अन्तःकरण में आत्मानुभूति जगेगी; उनमें त्याग, वैराग्य और विवेक जागृत होगा; समता, एकरूपता और सरलता के संस्कार उद्‌बुद्ध होंगे। उनके आचरण में नैतिकता और धार्मिकता पनपेगी। उनके जीवन में क्षमा, दया, सत्यता, शील, कष्ट-सहिष्णुता, उदारता, समता आदि गुणों की अभिवृद्धि होगी।

साधना के पथ पर बढ़ने वाले प्रत्येक साधक को इनसे प्रकाश मिलेगा। ये दीपक की भाँति उसके पथ को आलोकमय बनायेंगे। ☐

२

श्रवण : निर्वाण पथ का पहला दीपक

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष मानव-जीवन और विशेषतः मुमुक्षु मानव-जीवन के लिए मोक्ष की साधना में सर्वप्रथम आवश्यक 'धर्म श्रवण' के महत्व पर प्रकाश डालूँगा ।

जैसा कि मैंने आपको बताया—यदि आप किसी अन्धकारमय अनजाने पथ पर चल रहे हों, रास्ता भी साफ न हो तो आप उस समय क्या चाहेंगे ? यही न, कि इस अन्धकारमय पथ पर कोई एक दीपक जला दे, या मोमबत्ती रख दे, कोई मशालधारी मिल जाये तो रास्ता साफ दिखाई देने लगे—हम अपनी यात्रा तय कर लेवें ।

मैंने कहा था—ऋषिभाषितसूत्र हमारे लिये अमर दीपक है । इसके अनुभवपूर्ण वचन प्रकाश की किरणें हैं । इन वचनों के उजाले से हम अपनी यात्रा का पथ अच्छी तरह देख सकते हैं और आराम से चलते हुए अपनी मंजिल पर पहुँच सकते हैं । तो आज हम इसके पहले दीपक—'श्रवण' पर विचार करेंगे ।

ऋषिभाषित-सूत्र के प्रथम अध्याय में अर्हत्-ऋषि नारद ने 'श्रोतव्य' अर्थात् सुनना चाहिये, इसी विषय पर विशेष जोर दिया है । उन्होंने श्रवण का महत्व और फल दो गाथाओं में बताया है—

सोयव्वमेव वदति, सोयव्वमेव पवदति ।
जेण समयं जीवे, सव्वदुक्खाण मुच्चति ।। १ ।।
तम्हा सोयव्वातो परं नत्थि सोयंति ।
देवनारदेण अरहता इसिणा बुइयं ।। २ ।।

सभी जिनेश्वर देव कहते हैं-श्रवण करना चाहिये, वे पुनः पुनः कहते हैं-सुनना चाहिये, जिससे (श्रवण से) जीव स्वमत (स्वधर्म) अथवा समय (स्वपरसिद्धान्त) का ज्ञान प्राप्त करके सभी दुःखों से मुक्त होता है ।

इसलिये श्रवण—श्रोतव्य से बढ़कर अन्य कोई पवित्र (शौच) नहीं है। अर्हत्-ऋषि देवनारद ने यह कहा है।

श्रवण करने का उपदेश क्यों ?

देवनारद ऋषि के श्रवण करने के उपदेश को जब हम तर्क और लाभ की तराजू पर तौलते हैं तो बिल्कुल सही उतरता है। कारण यह है कि श्रवण करना कान का विषय है और कान वाला जीव ही सुन सकता है। जैन शास्त्रों में समस्त जीवों को पांच जातियों में विभक्त किया है। वे हैं – एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। जीव की इन पांच जातियों में से पहली चार जातियों को श्रोत्रेन्द्रिय (कान) प्राप्त नहीं होती। कर्ण सभी इन्द्रियों में अन्तिम है। विकास के चरण की दृष्टि से अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा श्रोत्र मन के अधिक निकट है। अर्थात्—चेतना के एन्द्रियक विकास में कान अन्तिम पड़ाव है। अतः कर्णेन्द्रिय वाले होने से केवल पंचेन्द्रिय जाति वाले जीव ही श्रवण कर सकते हैं। पंचेन्द्रिय जाति में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारों ही प्रकार के जीवों का समावेश होता है। परन्तु क्या आप बता सकते हैं कि ये चारों ही प्रकार के पंचेन्द्रिय जीव – श्रवण, सत्यश्रवण या धर्मश्रवण करने के अधिकारी हो सकते हैं ?

माना कि इन चारों प्रकार के पंचेन्द्रिय जीवों के कान हैं, इसलिये वे सुन सकते हैं, परन्तु क्या वे सभी श्रोतव्य—सुनने योग्य को सुन सकते हैं ? क्या वे सभी सुनकर हित और अहित का, श्रेय और प्रेय का, कल्याण और अकल्याण का, पाप और पुण्य का, बन्ध और मोक्ष का तथा आस्रव और संवर का निर्णय कर सकते हैं ? इसीलिए अनुभव की आँच में तपी हुई वाणी में भगवान् महावीर कहते हैं कि पंचेन्द्रियजाति में नरक और तिर्यञ्च अवस्था में जीवों की परवशता के कारण श्रोतव्य का प्रायः श्रवण नहीं हो सकता। बहुत बार नारक या तिर्यञ्च सुनकर हिताहित आदि का निर्णय भी नहीं कर पाते। यद्यपि देव विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होते हैं तथापि उन्हें भी श्रवण—सत्यश्रवण या धर्म-श्रवण का विशेष अवकाश नहीं होता, क्योंकि देवयोनि प्रायः भोगप्रधान होती है। अतः मनुष्य जाति ही श्रवण की वास्तविक अधिकारी है, वही श्रवण करके हिताहित आदि का विशेष मनन-चिन्तन कर सकती है। यही कारण है कि पावापुरी की अपनी अंतिम देशना में भगवान् महावीर ने धर्मश्रवण को दुर्लभ बताते हुए कहा है—

> **माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।**
> **जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं॥**

अर्थात्—मनुष्य का शरीर पाकर धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे श्रवण करके मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार कर पाता है।

मेरे प्यारे बन्धुओ !

मनुष्य जीवन के लिये श्रवण और उसमें भी श्रोतव्य (जो सुनना चाहिये उसका) का श्रवण परम उपलब्धि है। श्रवण मानव के लिए वरदान है, वह मनुष्य को अभीष्ट पथ पर चलने के लिये प्रेरक और मार्ग-दर्शक है। नीतिकार ने स्पष्टतः बताया है—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न तु कुण्डलेन ।

'कान की शोभा श्रोतव्य का श्रवण करने में है, कुण्डल से नहीं।'

तीर्थंकरों ने धर्म-श्रवण करने में दक्ष नर-नारियों को 'श्रावक' एवं 'श्राविका' का पद दिया है। श्रावक-श्राविका-पद कोई सामान्य शब्दों या संगीत ध्वनियों को सुनने वालों का नहीं है, यह विशिष्ट श्रोताओं के लिए है। श्रवणगुण का आराधक होने से ही गृहस्थ उपासक को 'श्रावक' कहा जाता है। इसलिए मानव-जीवन में इस श्रोतव्य के श्रवण का विशेष महत्व है। देवनारद ऋषि ने तो श्रोतव्य—श्रवण से बढ़कर और किसी भी वस्तु को पवित्र (शौच) नहीं माना है।

श्रोतव्य श्रवण में सर्वाधिक ध्यान दो

मानव शरीर में श्रवणेन्द्रिय प्राप्त होने के बावजूद भी अधिकांश मानव इसका दुरुपयोग करते हैं। इन कानों से अश्लील, गन्दे, कामोत्तेजक, कलहवर्द्धक, मोहवर्द्धक बातें एवं सिनेमा की पापवर्द्धक विकथा सुनते हैं, जिससे मारकाट, चोरी, कामुकता, अनीति आदि की ही प्रायः चर्चा होती है। इसीलिए ऋषि कहते हैं कि अश्रोतव्य को सुनकर कानों को अपवित्र मत करो, श्रोतव्य को सुनो, जिससे तुम्हारे कान पवित्र हों, तुम्हारा चिन्तन-मनन और आचरण कल्याणमार्ग की ओर प्रवृत्त हो।

मैं आपसे पूछता हूँ कि आप साधु-साध्वियों के मुख से मांगलिक (मंगलपाठ) क्यों श्रवण करते हैं? जब कोई भी धर्मात्मा व्यक्ति रुग्ण हो जाता है, मरणासन्न स्थिति में होता है, तब आप लोग उसे मंगल-पाठ सुनाने की विनति क्यों करते हैं? इसीलिए कि मंगलपाठ श्रवण करने से उसके कान पवित्र हों, उसका चिन्तन-मनन या परिणाम शुद्ध हो, वह रुग्ण-अवस्था में या मरणासन्न अवस्था में आर्तध्यान करने के बदले धर्म-ध्यान करे, आत्मचिन्तन करे, पंच-परमेष्ठी भगवन्तों परम-आत्माओं के आदर्श का चिन्तन-मनन कर सके। इसीलिए करते हैं—जैसा सुनेंगे, वैसा भुनेंगे।

इसके विपरीत प्रायः यह देखा जाता है कि कई मनुष्य जो धर्म-श्रवण के महत्त्व से अनभिज्ञ हैं, वे रुग्णावस्था में या मरणासन्न अवस्था में

परम आत्माओं के नामश्रवण या धर्मश्रवण की अपेक्षा या तो मोहवर्द्धक बातें सुनते-सुनाते हैं, या फिर अपने स्वार्थ की ही बातें सुनते-सुनाते हैं। आप में से कितने ऐसे लोग हैं, जो अश्रोतव्य शब्दों को न सुनकर दिन और रात में श्रोतव्य शब्दों को ही अपने कानों में प्रवेश करने देते हैं।

श्रोतव्य श्रवण ही सत्यश्रवण और पवित्र है

नारद ऋषि के कहने का तात्पर्य यही है कि अमूल्य मानव-जीवन मिला है तो श्रोतव्य का श्रवण करो। यह तुम्हारे जीवन का पवित्र पाथेय है। पवित्र श्रवण ही तुम्हारी बुद्धि, हृदय, मन, प्राण और इन्द्रियों को पवित्र बना सकता है, वही तुम्हारे अज्ञात मन में सुसंस्कारों का सिंचन कर सकता है। इसीलिए महर्षियों ने सर्वप्रथम श्रोतव्य श्रवण का उपदेश दिया है।

इस अध्ययन के प्रवक्ता देवर्षि नारद के विषय में भी कुछ बता दूँ।

ऋषिभाषित की टीका में एक कथा आती है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

एक बार भगवान महावीर के दो शिष्य—धर्मघोष और धर्मयश सोरियपुर नगर के बाहर वन में ध्यान-साधना कर रहे थे। वे एक वृक्ष के नीचे ठहरे। मध्यान्ह काल हुआ तब भी उस वृक्ष की छाया ढली नहीं, जैसी सुबह थी वैसी ही स्थिर रही। यह देखकर मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। दोनों एक दूसरे से पूछने लगे – क्या यह आपकी तपोलब्धि का प्रभाव है ? दोनों ही क्रमशः वहाँ से हटे, तब भी छाया स्थिर रही। उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। भगवान के पास आये और पूछा तो भगवान महावीर ने बताया–

आज से बहुत समय पहले की बात है। सोरियपुर में राजा समुद्र-विजय के शासन में यज्ञदत्त तापस रहते थे। वे एक दिन पूर्वाह्न में अशोक वृक्ष के नीचे अपने नन्हे शिशु नारद को सुलाकर खेत में धान्य कण चुनने चले गये। सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर ढलने लगा तो बालक पर सूर्य की तेज किरणें गिरने लगीं।

तब उस समय वैश्रमण जाति के जृम्भक देव उधर से निकले। वृक्ष की छाया में एक तेजस्वी शिशु को अकेला सोया देखकर वे वहाँ रुक गये। बालक के प्रति उनके हृदय में सहज ही स्नेह उमड़ आया। जब अवधिज्ञान लगाकर देखा तो पता चला, यह शिशु हमारे जृम्भक देव-निकाय से च्यवकर ही यहाँ आया है तो एक प्रकार से हमारी बिरादरी का ही है। इसलिए देवताओं ने वृक्ष की छाया को स्थिर कर दिया, बालक की देह पर अब छाया स्थिर हो गई। तब से इस वृक्ष की छाया स्थिर है।

बाद में बालक नारद बड़ा हुआ। माता-पिता ने उसे विद्याएँ पढ़ाईं। गुरुकृपा से नारद ने अनेक प्रकार की विद्याएँ हस्तगत कर लीं। विद्याबल से उसे सोने की कुण्ड (कांचन कुण्डिका) और मणि-पादुका (खड़ाऊँ) भी प्राप्त हो गईं जिसके बल से वह पक्षी की भांति ऊंचे आकाश में मनचाही उड़ानें भरने लगा।

एक बार देवर्षि नारद द्वारका गये। वहाँ वासुदेव श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—शौच क्या है? नारद इसका उत्तर न दे सके। वे समाधान के लिए पूर्वविदेह पहुंचे। वहाँ देखा, सीमंधर तीर्थंकर से युगबाहु वासुदेव भी यही प्रश्न पूछ रहे थे तो प्रभु ने कहा—'सत्य ही शौच है'।

नारद इस समाधान को पाकर पुनः द्वारिका आए और वासुदेव श्रीकृष्ण से कहा—'सत्य ही शौच है।' परन्तु वासुदेव ने प्रतिप्रश्न किया—'सत्य क्या है?' नारद इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके। संशयलीन नारद इस पर गहरे चिन्तन में डूब गए। इस पर ऊहापोह करते-करते उन्हे जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। वे स्वयं प्रतिबोध पाकर 'प्रत्येक-बुद्ध' हो गए।

अतः सत्य क्या है? इसका उत्तर उन्होंने इसी प्रथम अध्याय में दिया है कि "श्रोतव्य श्रवण ही सत्य है, और वही पवित्र (शौच) है। धर्म (सत्य) श्रवण करने से बढ़कर अन्य कोई शौच नहीं है।"

श्रवण : मोक्ष की पहली सीढ़ी

भगवान् महावीर ने एक रूपक की भाषा में भगवती सूत्र (२/३/५) में बताया है कि अध्ययन का सर्वोच्च शिखर है—निर्वाण—मोक्ष। यह अध्यात्म साधना की चोटी है। इस चोटी पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी है—श्रवण—धर्मश्रवण। जैसा कि उन्होंने श्रवण से निर्वाण तक का क्रम बताया है—

> **सवणे नाणे विन्नाणे पच्चक्खाणे य संवरे।**
> **अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिया-सिद्धी॥**

अर्थात् श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, प्रत्याख्यान, संवर, संयम, तप, व्यवदान यों क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अन्त में सभी कर्म—क्रियाओं से मुक्त होने पर ही सिद्धि—मुक्ति की प्राप्ति होती है। ये निर्वाण मोक्ष की क्रमिक सीढ़ियाँ जिसमें श्रवण सर्वप्रथम सीढ़ी है।

धर्मोपदेश-श्रवण : उत्तम गुणों के अर्जन के लिए

जिनवचनों के पुनः-पुनः श्रवण करने से मुख्यतया तीन गुण उपलब्ध होते हैं। जैसा कि सावयपण्णत्ति (३) में कहा है—

> **नव-नव-संवेगो खलु, नाणावरण-खओवसमभावो।**
> **तत्ताहिगमो य तहा, जिणवयण-सवणस्स गुणा॥**

(१) मोक्ष की अभिलाषा स्फुरित होती है, (२) ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और (३) तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है। जिनवचन-श्रवण से ये तीन लाभ होते हैं।

यह ठीक है कि सुनना मात्र ही साधना नहीं है। जिस किसी से कुछ भी सुन लेना भी साधना नहीं है, अपितु तत्त्वजिज्ञासा से युक्त होकर ज्ञानी-साधक से धर्मकथा का श्रवण करना ही साधना है। वस्तुतः तत्त्व की खोज, प्राप्त तत्त्व की स्थिरता और सम्यग्भाव में रमण करने के लिए श्रवण करना ही तपरूप होता है। ऐसा श्रवण ही हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक प्रदान कर सकता है।

जिस प्रकार विद्यार्थी के लिए पाठ्य पुस्तकें पढ़ते रहने पर भी किसी अध्यापक से पढ़ने और उक्त विषय को समुचित रूप से समझने की जरूरत रहती है, उसी प्रकार धर्मशास्त्रों की बातें केवल पढ़कर नहीं, किन्तु शास्त्रज्ञ गुरु से सुनकर समझ में आती हैं। जैसे कोई व्यक्ति पिस्तौल या बन्दूक से फेंकी जाने वाली गोली हाथ से फेंकता है तो उसका कोई खास असर नहीं होता, जबकि वही गोली बन्दूक से छूटती है तो उसमें वेग पैदा हो जाता है, वह शत्रु का सफाया कर सकती है, वैसे ही स्वयं पुस्तकों या ग्रन्थों से पढ़ने का प्रभाव मन पर उतना नहीं पड़ता, जबकि शास्त्रज्ञ उपदेशक से सुनने से उपदेशक के आत्मबल से उपदेश के शब्दों में अमित ऊर्जा भर जाती है। कई बातें जो केवल पढ़ने से समझ में नहीं आतीं, वे भी उपदेश श्रवण के माध्यम से यथार्थरूप से हृदयंगम हो जाती हैं।

दूसरी बात यह है कि उपदेश-श्रवण करने से सच्चा श्रोता चार गुणों को धारण करता है। जैसे कि विंशति-विंशिका (१/१८) में कहा है—

> मज्झत्थयाइ नियमा सुबुद्धि-जोएण अत्थियाए य।
> नज्जइ तत्तविसेसो, न अन्नहा, इत्थ जइयव्वं ॥

उपदेशश्रवण से मध्यस्थता, नियमितता, उत्तम बुद्धि का योग और अर्थिता (उद्देश्य के अनुकूल पुरुषार्थ करने की योग्यता) आती है, और इनके कारण तत्त्वबोध होता है। इसमें कोई अन्यथा नहीं है। अतः इन गुणों के उपार्जन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

नीतिकार ने भी श्रवण से प्राप्त होने वाले गुणों के विषय में पंचतंत्र (५/६३) में कहा है—

> यः सततं परिपृच्छति, शृणोति सन्धारयत्यनिशम्।
> तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्धते बुद्धिः॥

—जो सदैव पूछता है, सुनता है और सुने हुए को हृदय में धारण

करता है, उसकी बुद्धि सूर्य-किरणों से विकसित होने वाले कमल के समान बढ़ती रहती है–खिलती है।

निष्कर्ष यह है कि मन को सुशिक्षित करना हो तथा बुद्धि को विकसित करना हो तो धर्मोपदेश-श्रवण एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

श्रवण का महत्व और लाभ

भगवान् महावीर ने श्रवण के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥ (दशवै० ४/११)

सुनकर ही मनुष्य कल्याण को जान सकता है और सुनकर ही पाप को पहचान सकता है। अर्थात् पुण्य और पाप अथवा श्रेय और प्रेय दोनों का ज्ञान श्रवण करने से ही होता है, दोनों को जानकर व्यक्ति जो श्रेय है, उसका समाचरण कर पाता है।

श्रोतव्य-श्रवण का महत्व इसलिए भी है कि कानों के रास्ते से ज्ञान की धारा हृदय में उतरती है। वह हृदय ज्ञानधारा से सरसब्ज, कोमल और मृदु हो जाता है। फिर उस हृदय में सदाचरण की फसल लहलहाती है। श्रवण बीज है तो सदाचरण पल्लवित वृक्ष है। जिस प्रकार नदी की जलधारा जिस तट पर बहती है, उस पर सदैव हरियाली छायी रहती है। उस नदी के तट की भूमि सदैव तर और उपजाऊ रहती है। इसी प्रकार जिस हृदयतट के समीप ज्ञान-श्रवण रूप जलधारा बहती है, वह हृदय भी सदा तर, सरसब्ज और कोमल रहता है, वहां धर्माचरण का उत्पादन प्रचुर मात्रा में मिलता है।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध नीतिकार चाणक्य ने भी 'चाणक्यनीति' (१६/१) में श्रवण का महत्व बताते हुए कहा है—

श्रुत्वा धर्मं विजानाति, श्रुत्वा जानाति दुर्मतिम्।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति, श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात्॥

मनुष्य सुनकर ही धर्म (जीवन के श्रेय) को जानता है और सुनकर ही वह दुर्बुद्धि—पापमति को जान सकता है। श्रवण करने से ही मनुष्य सद्ज्ञान प्राप्त कर पाता है और श्रवण करने से ही क्रमशः मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पंजाब के एक चिन्तनशील कवि ने धर्मश्रवण की महत्ता को उजागर करते हुए कहा है—

जीवन अपना चमका ले, सुण-सुण के लाभ उठा ले ।
शास्त्रां च आए जेहड़े बोल ।
इक-इक हीरा अनमोल ।
मन सुधरे, सुधरे वाणी, ऊँचा उठ जाए प्राणी ।
सुन-सुन के अक्खां लेवे खोल ।। टेक ।।
उत्तों है दुनिया सोहणी, भरिया है गंद गब्भे ।
क्रोध क्लेश जित्थे जाओ, ओत्थे ही लब्भे ।।
शास्त्रां दे बोल मिट्ठे, पी के जिन्होंने दिट्ठे ।
मिलदी ओन्हांनूं समता सारी, मिट जांदी ममता ।।
मित्था धर्मदी खुले पोल ।। १ ।।

मुक जांदी तृष्णा भूखी आत्मा ये रजदी जावे ।
विषय विकारां बिचों, वो कौड़ी-कौड़ी आवे ।।
शान्ति अपार मिलदी, अमृतदी धार मिलदी ।
मुकदा है आणा-जाणा, पांदा आनन्द-खजाना ।।
जिसदे ए कुंजी होवे कोल ।। २ ।।

सुननेतों ज्ञान मिलदा, डूंगा विज्ञान मिलदा ।
पापांनूं दूर-करण लई त्याग पच्चक्खान मिलदा ।।
जप-तपदी ज्योति जग्गे, चानण हो अग्गे-अग्गे ।
कर्मांदे कटदे बन्धन, दुक्खांदे मिटदे कारण ।।
मुक्ति मिल जांदी है अमोल ।। ३ ।।

कवि ने नपी-तुली भाषा में धर्मश्रवण के सुपरिणामों को अभिव्यक्त कर दिया है ।

धर्मश्रवण : जीवन को देखने का दर्पण

वास्तव में धर्मश्रवण ही श्रोतव्य का श्रवण अथवा सत्यश्रवण है । सत्य का अर्थ है— 'सद्भ्यो हितम् सत्यम्' जो प्राणियों के लिए हितकर— श्रेयस्कर हो । अतः सत्यश्रवण या धर्म-श्रवण जीवन को देखने का एक दर्पण है । जैसे–आइने में आप अपना चेहरा भलीभांति देख लेते हैं, वैसे ही धर्मश्रवण रूपी आइने में आप अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं कि आपके जीवन पर कहाँ कालिमा है, कहाँ लालिमा है ? कहाँ धर्म और पुण्य का कमल सरोवर है और कहाँ पाप का गड्ढा है ? कहाँ अच्छाई है, और कहाँ बुराई है ?

धर्मश्रवण का अद्भुत प्रभाव

जो कार्य राजदण्ड नहीं कर सकता; जिन अपराधियों का जीवन

परिवर्तन तलवार, बन्दूक या भय प्रदर्शन नहीं कर सकते, उनका जीवन महात्माओं या महापुरुषों के एक ही वचन या प्रवचन सुनने से बदल गया, बदल जाता है। बड़े-बड़े संगीन अपराध करने वाले हत्यारे, चोर, डाकू, वेश्या आदि पापात्मा व्यक्तियों का जीवन एक ही बार के धर्मवचन-श्रवण से बदल गया। भारतीय धर्मों का इतिहास साक्षी है कि पापी से पापी व्यक्तियों का जीवन एक झटके में, एक प्रवचन सुनते ही नया अहिंसक मोड़ ले लेता था। ११४१ व्यक्तियों की हत्या करने वाला अर्जुनमाली भगवान् महावीर का एक प्रवचन सुनते ही एकदम बदल गया। वह पापात्मा से धर्मात्मा बन गया। इतना ही नहीं, साधु जीवन अंगीकार करके वह कष्टसहिष्णु, क्षमामूर्ति और संयम का कठोर आचरण करने वाला बन गया। क्रुद्ध चण्डकौशिक सर्प को भगवान् महावीर ने इतना ही कहा था—

चंडकोसिया ! बुज्झह बुज्झह बुज्झह !!

हे चण्डकौशिक ! अब भी समझ, अब भी समझ ! अभी तक कुछ नहीं बिगड़ा है, तुझे पंचेन्द्रिय का चोला मिला है। तू हिंसक सांप की योनि में भी अहिंसक श्रावकत्व धारण कर सकता है।

और भगवान् का धर्मवचन सुनकर क्रूर चण्डकौशिक शान्त चण्डकौशिक बन गया, पापी से धर्मी हो गया।

और मेघकुमार मुनि भी दीक्षा ग्रहण करने की प्रथम रात्रि में साधुओं के पैरों की ठोकर लग जाने से झुँझलाकर मुनि-जीवन को छोड़ने का विचार कर चुका था, मगर श्रमण भगवान् महावीर के श्रीमुख से युक्तिपूर्वक कहा हुआ वचन श्रवण कर पुनः संयम पथ में स्थिर हो गया।

गणधर गौतम, जो एक दिन पाण्डित्य के अभिमान में छके हुए थे, भगवान् महावीर की वाणी सुनते ही अपना सर्वस्व अहं छोड़कर उनके शिष्य बन गए।

वचन-श्रवण का प्रभाव कितना गहरा होता है, इसे समझाते हुए कवि कहता है—

वाणी सुनाई ऐसी, वीर भगवान ने,
नया ही प्रकाश पाया, भूले इन्सान ने ॥ टेक ॥
गौतम ने वाणी सुनी, छोड़ा अभिमान था,
दृष्टिराग टूटा, नष्ट हुआ अज्ञान था ॥
सीधी राह पाई उस वेद-विद्वान् ने ॥ वाणी० ॥ १ ॥

वाणी से बहा जब अमृत का निर्झर, हुआ उपशान्त चण्डकौशिक विषधर।
स्वागत किया था पंचम स्वर्ग के विमान ने ॥ वाणी० ॥ २ ॥

वाणी को सुनकर अर्जुनमाली सुधर गया,

रक्तपात छोड़ा सारा नशा-सा उतर गया।

क्षय किया कर्मों का मुनि क्षमावान ने ॥ वाणी० ॥ ३ ॥

सुनते ही वाणी मेघमुनि का शिथिल मन, दृढ़ हुआ किया सारा जीवन अर्पण।

जोश में भी होश पाया, उठते तूफान ने ॥ वाणी० ॥ ४ ॥

वाणी श्रवण कर अतिमुक्त मुक्त हुए, भवसिन्धु तरने की भावना से युक्त हुए।

जल में तिराई नाव शिशु अनजान ने ॥ वाणी० ॥ ५ ॥

सचमुच कवि ने वाणी-श्रवण का अमोघ प्रभाव इस गीत में चित्रित कर दिया है।

अनमने श्रवण का भी प्रभाव

ये सब उदाहरण तो श्रद्धापूर्वक धर्मश्रवण करने के प्रभाव के हैं। परन्तु यदि कोई व्यक्ति बिना श्रद्धा के, बिना मन के भी किसी सन्त, महात्मा या महापुरुष का धर्म वचन सुन लेता है, उसका भी प्रायः अचूक प्रभाव पड़ता है।

उज्जैन का राजा चन्द्रसिंह अपने भव्य शयनकक्ष से शय्या पर लेटा हुआ था। आधी रात को वैभव के गर्ववश स्वप्न में बड़बड़ाने लगा। गर्व ही गर्व में वह मूँछों पर ताव देकर उठा और संस्कृत का एक श्लोक बनाकर बोल उठा—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्ति निवहास्तरलास्तुरंगाः,

अर्थात्—मेरे यहाँ मनोहर युवती रानियाँ हैं। अनुकूल मित्र हैं। अच्छे बान्धव हैं, प्रेम के साथ मधुर वचन बोलने वाले नौकर हैं, तथा हाथियों और चपल घोड़ों का झुंड शोभा पा रहा है।

राजा चन्द्रसिंह ने श्लोक के तीन चरण तो बना लिये, परन्तु चौथा चरण बहुत कुछ प्रयास करने पर भी नहीं बना पा रहा था। तीनों चरणों का नौ बार उच्चारण करने पर भी चौथा चरण नहीं बना कि एक अज्ञात आवाज आई—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।'

आँखें मुँद जाने पर ये सब कुछ भी नहीं हैं, अर्थात्—स्वप्नवत् हैं।

राजा के कानों में यह चौथा चरण पड़ते ही एकदम चौंककर उठा। इधर-उधर देखकर कहा—यह कौन है, जिसने धर्मवचन की तरह चौथा चरण कहकर मेरे गर्व के महल को धराशायी कर दिया।

यह सुनकर अभाव से पीड़ित तथा चोरी करने हेतु छिपा हुआ एक

पण्डित बोला—"राजन् ! चौथा चरण मैंने बनाया है। मैं आया तो था चोरी करने, किन्तु आपकी गर्वस्फीत श्लोकरचना सुनकर मेरे से रहा नहीं गया। अब आपको जो भी सजा देना हो, दीजिए।" राजा ने चोर बने हुए पण्डित को पास बुलाकर कहा—"आप दण्ड के नहीं, पुरस्कार के पात्र हैं। आपने तो मेरे गर्व को ही चुरा लिया है।"

राजा ने उसे इनाम दिया और अपना घनिष्ठ मित्र बना लिया। उसी दिन से राजा के जीवन में विलासिता, अभिमान और प्रमाद के बदले प्रजापालन और जनसेवा साकार हो उठी।

यह था—सद्वचन-श्रवण करने का अचूक प्रभाव ! कहा भी है—

> एक वचन श्री सद्गुरुकेरा, जो बसे ते दिलमांय रे प्राणी।
> नरक निगोद में ते नहिं जावे, इम कहे जिनराय रे प्राणी॥

वास्तव में, धर्म का या महात्माओं का एक सद्वचन भी मनुष्य को नरक या निगोद जैसी दुर्गति से बचा सकता है। उसके जीवन में सदाबहार आ जाती है।

राजगृहवासी रोहिणेय डाकू के पिता लोहखुर ने मरते समय यह शिक्षा दी थी कि, "बेटा ! किसी भी साधु का धर्मोपदेश न सुनना।"

किन्तु एक बार वह राजगृह की ओर आ रहा था, तभी मार्ग में भगवान् महावीर का धर्मोपदेश हो रहा था। रोहिणेय कानों में अंगुलियाँ लगाकर तेजी से भागने लगा। जब वह समवसरण के ठीक सामने से गुजरने लगा, तभी एक काँटा पैर में लग गया। वह नीचे झुक कर हाथों से काँटा निकालने लगा, उसी समय भगवान के मुख से निकले हुए ये शब्द कानों में पड़ गए—"देवों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते, उनकी पलकें नहीं झपतीं, उनकी पुष्प-मालाएँ नहीं कुम्हलातीं तथा उसके शरीर में पसीना नहीं आता।" रोहिणेय न सुनना चाहते हुए भी अनमने भाव से इन शब्दों को सुन चुका। आगे चलकर ये ही शब्द उसको बन्धन में डालने के लिए अभयकुमार द्वारा रचे गए षडयंत्र को निष्फल बनाने में सहायक हुए और वह जीवन भर भगवान् के धर्मवचनों को सुनकर उन पर अमल करने के लिए डाकू से साधु बन गया। रोहिणेय के जीवन को आमूलचूल बदलने में धर्मवचन-श्रवण ने अद्भुत काम किया।

बन्धुओ ! इसीलिए अर्हतर्षि नारद ने श्रोतव्य का श्रवण करने के लिए बार-बार जोर दिया है। आप भी मोक्ष के प्रथम सोपान श्रोतव्य—श्रवण पर मुस्तैदी के साथ पैर जमाइए और अध्यात्म के अन्तिम शिखर—मोक्ष तक पहुँचने का पुरुषार्थ कीजिए। □

३

श्रवण का प्रकाश; आचरण में ......

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले प्रवचन में मैंने बताया था कि श्रवण आध्यात्मिक शिखर तक पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि क्या धर्म-श्रवण या सत्यश्रवण कर लेने मात्र से ही हमारा कल्याण हो जाएगा ? क्या श्रवण के द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय को जान लेने मात्र से हमारा आध्यात्मिक विकास हो जाएगा ?

इसका समाधान करने के लिए ही अर्हतर्षि देवनारद श्रवण से आगे की भूमिका का निर्देश इसी अध्ययन में करते हैं। उनके कथन का आशय यह है कि श्रवण—श्रोतव्य श्रवण मोक्ष की पहली सीढ़ी अवश्य है, परन्तु उसके आगे की सीढ़ियों को पार किये बिना हम मंजिल नहीं पा सकते। अतः श्रवण के बाद उसका आचरण होना आवश्यक है। श्रवण बीज है तो सदाचरण पल्लवित वृक्ष है। बीज को खाद-पानी मिले, फिर भी वहाँ सदाचरण रूप वृक्ष के रूप में विकसित न हो, उस सदाचरण वृक्ष पर एक भी फल न आए तो श्रम और समय का अपव्यय ही माना जाएगा।

एक विद्यार्थी पहली कक्षा से लेकर बारहवीं कक्षा तक गणित पढ़ता है। गणितशास्त्र के द्वारा वह हिसाब-किताब में प्रवीण हो जाता है और जब स्नातक (ग्रेज्युएट) होकर विद्यालय से विदा लेकर अपने पिता के व्यवसाय को सँभालता है, उस समय उसके पिताजी उसे कोई हिसाब करने को कहते हैं, यदि उस समय वह यह कहे कि 'पिताजी ! यह हिसाब तो मुझे विद्यालय में आता था, यहाँ नहीं आता है', तो आप उस गणित के भूतपूर्व विद्यार्थी को क्या कहेंगे ? यही कहेंगे कि अगर वह गणितशास्त्र में निष्णात हो चुका है तो उसे वह हिसाब आना ही चाहिए। अथवा मालूम होता है, वह गणित की परीक्षा में नकल करके पास हुआ है, या परीक्षक को दक्षिणा देकर उसने गणित की परीक्षा में उत्तीर्णांक प्राप्त कर

लिए हैं। या उसने गणित का अध्ययन भली-भाँति नहीं किया है, बिना समझे-बूझे रट-रटाकर परीक्षाएँ पास कर ली हैं। अगर वह गणित पढ़ा होता तो जो हिसाब या सवाल उसे विद्यालय में आता था, वह अपनी दुकान या फर्म में भी आना चाहिए था। यही बात हम उस व्यक्ति के विषय में कह सकते हैं, जिसने वर्षों तक धर्मशास्त्रों का गुरु-मुख से श्रवण किया, धर्म-श्रवण करके उस धर्म को आचरण में लाने के उपाय भी जाने, गुरु-मुख से धर्माचरण में बाधक तत्त्वों—अतिचारों से बचने का उपाय भी सीखा। परन्तु वह सब अभ्यास उसने धर्मस्थानरूपी विद्यालय में किया। धर्मस्थान में बचपन से वह आता था, धर्म श्रवण करता था। स्कूल का छात्र था, तब तक तो उसे धर्माचरण में बाधक तत्त्वों से बचने में कोई कठिनाई नहीं आई, किन्तु जब वह सयाना हुआ, अपने गृहस्थाश्रम को, व्यवसाय को तथा पिताजी द्वारा किये जाने वाले सामाजिक या राष्ट्रीय कार्यों को सँभाला, तब वह धर्मस्थान में सुने हुए, जाने हुए या सीखे हुए धर्म को आचरण में लाना भूल जाए, तो आप उसे क्या कहेंगे? क्या वह कोरा धर्मश्रवण या धर्मज्ञान उस व्यक्ति के जीवन को विकसित कर सकेगा या अध्यात्म के उच्च शिखर तक पहुँचा सकेगा? कदापि नहीं।

राजस्थान के एक विचारक ने ऐसे श्रोताओं के लिए बहुत ही कड़वी बात कह दी है—

सुणतां सुणतां फूट्या कान।
पण नहीं आयो हिवड़े ज्ञान॥

धर्म-श्रवण करने के साथ दुर्गुण भी छोड़ो

सेम्युएल जॉनसन नामक एक अँग्रेज लेखक ने ठीक ही कहा है

'शब्द पृथ्वी की पुत्रियाँ हैं और कार्य स्वर्ग के पुत्र।

आचरण के बिना कोरे धर्मश्रवण से हमारा उत्थान नहीं हो सकता। लगातार प्रवचन सुनते जाएँ, तत्त्वों और व्रतों का ज्ञान भी करलें, किन्तु श्रवण से प्राप्त वह ज्ञान हृदय में नहीं उतरे, आचरण में न आए तो उस ज्ञान का आत्म-विकास की दृष्टि से क्या और कितना महत्त्व है?

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

सदैव व्याख्यान सुनने के रसिक एक सेठजी एक बार एक मुनि का व्याख्यान सुन रहे थे। धाराप्रवाही व्याख्यान सुनते-सुनते सेठजी झूमने लगे और बीच-बीच में—'वाह वाह!' 'बहुत सुन्दर!' 'बहुत खूब' की

ध्वनि से परिषद् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते जाते थे। सेठजी को देखकर लगता था—परिषद् में धन्ना सेठ या शालिभद्र विराजित हों।

मुनि के व्याख्यान का विषय था—कथनी करनी में अन्तर! वे कह रहे थे—"धर्मात्मा व्यक्ति को धर्म की आड़ में चोरी, झूठ, छल, मिलावट, बेईमानी आदि दुर्गुण अवश्य ही छोड़ देने चाहिए, क्योंकि ये बुराइयाँ धर्म के साथ मेल नहीं खातीं।" सेठजी बड़े प्रेम से सुन रहे थे। उसी परिषद् में एक चोर मुनि के उपदेश को ध्यानपूर्वक सुन रहा था। उसे अपने दुष्कृत पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने अपनी चौर्यवृत्ति सदा के लिए छोड़ दी।

व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् परिषद् उठकर चली गई। सभी अपने-अपने कामों में लग गये। प्रवचन श्रवण-रसिक सेठजी भी अपनी दुकान पर पहुँचे। संयोगवश वह चोर भी इन्हीं सेठजी की दुकान पर शक्कर लेने पहुँचा। सेठजी ने तराजू उठाया और लगे डंडी मारने। मानो वे भूल ही गये हों कि अभी-अभी मुनिवर के व्याख्यान में क्या सुनकर आया हूँ। चोर, जो अपनी चौर्यवृत्ति को तिलांजलि दे चुका था, बड़े असमंजस में पड़ गया और बोला--"सेठजी! परिषद् में तो आप श्रेष्ठ प्रवचन रसिक श्रोताओं में थे, किन्तु आचरण तो यहाँ कुछ और है।" सुनकर सेठजी तुनक कर बोले--"मूर्ख! तू मुझे शिक्षा दे रहा है। सौदा लेना हो तो ले, वरना अपना रास्ता पकड़।" चोर भला कहाँ चूकने वाला था। वह तत्काल बोल पड़ा—

एक बार के श्रवण से मुझे हो गया ज्ञान।
तुम सुनकर कोरे रहे, जान-जान अनजान॥

दायित्व कान का कम, पैर का अधिक

आप कहेंगे कि क्या सुनने मात्र से व्यक्ति तदनुसार आचरण कर लेगा? मैं समझता हूँ, सभी व्यक्तियों से ऐसी अपेक्षा रखना ठीक नहीं होगा। कई व्यक्ति, जो मिथ्यात्वी, अभवी या नियाणा किये हुए होते हैं, ऐसे और इस प्रकार के व्यक्ति धर्म-प्रवचन तो सुन सकते हैं, परन्तु उस पर अमल करना उनके वश की बात नहीं। क्योंकि ऐसे लोग धर्म-श्रवण की भाव-परिणति के अयोग्य होते हैं। परन्तु ऐसे लोग जो सम्यग्दृष्टि हैं, मुमुक्षु हैं, जिज्ञासु हैं, श्रावक हैं, उनके द्वारा बार-बार धर्मश्रवण करने पर उनसे तो आचरण की अपेक्षा रखी ही जा सकती है। परन्तु इसमें दो मत नहीं हैं कि आत्मा के विकास एवं सद्गुणों के अभ्यास के लिए श्रवण के

साथ मनन और आचरण अवश्य होना चाहिए। जैन शास्त्र स्थानांग सूत्र (स्थान २/१/६६) इस बात का साक्षी है—

'दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा, सवणयाए, तं०—
सोच्चा चेव, अभिसमेच्चा चेव।'

'आत्मा दो कारणों से केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को श्रवण की भाव-परिणति के रूप में प्राप्त कर सकता है। वह इस प्रकार—सुनकर और समझ कर।'

हिमालय के शिखर की ऊँचाई इतनी है और इस-इस मार्ग से तथा इस-इस विधि से उस पर चढ़ना चाहिए, इसका वर्णन कहने-सुनने में कोई अधिक समय नहीं लगता। ऐसी बातें किताबों, पत्रों या रेडियो आदि से सुनी भी जा सकती हैं। परन्तु हिमालय पर यदि आपके पैर चढ़ना चाहेंगे तो आपको कितनी तैयारी करनी पड़ेगी? कितनी कठिनाइयों और विघ्नों-संकटों से जूझते हुए आपको चढ़ाई सफल करनी होगी? वह एक दीर्घकालीन साहसिक महायात्रा कहलाएगी। परन्तु आप अनुमान लगाइए कि कानों से हिमालय के शिखर का वर्णन सुनने की अपेक्षा हिमालय पर पैरों से चढ़ने का महत्त्व कई गुना अधिक है। अर्थात्—कानों की अपेक्षा पैरों का उत्तरदायित्व कई गुना अधिक है। पैरों का काम कानों से श्रवण-कार्य की अपेक्षा कठिन, श्रमसाध्य और साहसपूर्ण भी है। किन्तु एक बात निश्चित है कि श्रवण के बाद पैर जब उस निर्दिष्ट या प्रदर्शित पथ पर एक बार चलना शुरू कर देते हैं और कुछ हद तक चल चुकते हैं, तब आप में नया जोश, नई उमंग, नयी स्फूर्ति, नया आल्हाद तथा दृढ़ आत्म-विश्वास पैदा हो जाता है। आपके मन में उस श्रवणगोचर विषय के प्रति गाढ़ श्रद्धा पैदा हो जाती है कि हम भी इस मंजिल को पार कर सकते हैं।

श्रवण दही और आचरण नवनीत है

अर्हतर्षि नारद इस अध्ययन में सर्वप्रथम श्रोतव्य श्रवण का महत्त्व बताकर तदनुसार आचरण की ओर इंगित कर रहे हैं। उनका अभिप्राय जिज्ञासु और मुमुक्षु श्रोता को अपने साध्य या ध्येय की बात श्रवण करके बिठा देने या श्रवण में इति समाप्ति करा देने की नहीं है। हाँ, कदाचित् वह सुनी हुई बात को समझना चाहे, उस विषय में स्पष्टीकरण करना चाहे तो थोड़ा-सा विश्राम ले सकता है, परन्तु यदि वह श्रवण और मनन के बाद श्रोतव्य विषय को हृदयंगम कर चुका है तो उसे अधिक रुकने की आवश्यकता नहीं अपने लक्ष्यबिन्दु की ओर तुरन्त कदम बढ़ाने चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि श्रवण दही है, मनन-चिन्तन उसका मन्थन है और आचरण नवनीत (मक्खन) है।

श्रवण का सार : आचरण

भगवान् महावीर ने कहा है—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।

'ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी जीव की हिंसा न करे।'

वस्तुतः श्रवण का सार ज्ञान है, और ज्ञान का सार है—आचरण। आचरण के बिना श्रवण निष्फल है, वन्ध्य है। जैसा कि पहले दशवैकालिक सूत्र में बताया गया था—

उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे।

सुनकर पुण्य और पाप अथवा श्रेय और अश्रेय की पहचान होती है। फिर जो श्रेय है, जीवन के लिए उत्तम है, श्रेष्ठ है, उसका आचरण करे।

एक तोते को रटाया गया—बिल्ली आये तो डरते रहना। वह रोज रटता रहा, पर उसे यह नहीं पता था कि बिल्ली आने पर क्या करना चाहिए ? एक दिन बिल्ली आ गई। तोता रटता रहा—'बिल्ली आये तो डरते रहना।' और बिल्ली झपट्टा मारकर तोते को खा गई। तो तोता-रटन्त का ज्ञान आचरण में नहीं उतरे तो उससे कोई लाभ नहीं।

श्रवण अधिक : आचरण अत्यल्प

आज तो वर्षों तक लगातार प्रवचन सुनने के बाद भी व्यक्ति वहीं का वहीं रहता है। भारतवर्ष में सन्तों के मुख से प्रवचन सुनने की प्रथा हजारों वर्षों से है। धर्मकथा सुनना-सुनाना एक प्रकार का स्वाध्याय तप भी है। प्राचीन काल की बात तो हम सुनते आए हैं कि धर्मकथा एक-दो बार सुनने से ही व्यक्ति का जीवन प्रायः बदल जाता था। परन्तु वर्तमान में यह बात बहुत दुर्लभ हो गयी है। आज अधिकांश भारतवासी प्रवचन तो सुनते हैं, परन्तु सुनकर उस पर अमल करने का विचार कम करते हैं। यहाँ अध्यात्म की बड़ी-बड़ी बातें बघारने वाले मिल जाएँगे, गाँवों के अनपढ़ लोग भी त्याग और वैराग्य की, आत्मा-परमात्मा की बातें करते मिलेंगे, परन्तु जीवन में तदनुसार आध्यात्मिकता, समता, मैत्री, करुणा, मानवता आदि गुण विरले ही लोगों में देखने को मिलेंगे। इसी कारण मैं कहता हूँ कि भारतवर्ष में आध्यात्मिक श्रवण के फलस्वरूप ज्ञान तो बहुत है, परन्तु तदनुसार आचरण न होने के कारण आन्तरिक दरिद्रता छाई हुई है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जब विदेश में भ्रमण कर रहे थे तो एक विदेशी ने उनसे पूछा—"स्वामी जी ! भारतवर्ष में गीता, रामायण, त्रिपिटक, वेद, जैनागम आदि अनेक धर्मशास्त्रों के श्रवण से प्रचुर ज्ञान होते हुए भी इतनी दरिद्रता क्यों हैं ? ज्ञान के इतने खजाने जहाँ हों, वहाँ इतनी दीनता-हीनता, अभावग्रस्तता क्यों ?"

स्वामीजी ने उसे युक्तिपूर्वक समझाया—"बन्धु ! किसी के पास बहुत अच्छी बन्दूक हो, बारूद भी हो, मगर यदि उस बन्दूक को चलाने की कला उसके पास न हो तो क्या वह बन्दूक किसी काम आएगी ? उसी प्रकार यदि किसी के पास सुना-सुनाया ज्ञान तो बहुत हो, परन्तु उसे आचरण में लाने की कला न हो, तो वह सुना हुआ ज्ञान किस काम का ?"

आशय यह है कि सुने-सुनाए ज्ञान की दृष्टि से भारत के पास इतनी सम्पन्नता होते हुए भी आचार की दरिद्रता है, इसी कारण आज भारत में चहुँमुखी दरिद्रता छाई हुई है।

यही कारण है कि धर्मश्रवण से उपार्जित ज्ञान-गाम्भीर्य के कारण जो देश विश्व का आध्यात्मिक गुरु कहलाता था, वही भारत आचरण से दूर रहकर न केवल दासता की जंजीरों से वर्षों तक बंधा रहा, इतना ही नहीं, बल्कि वह शनैः-शनैः अपने प्राप्त ज्ञान की गहराइयों को भी खो बैठा, उसका अर्जित ज्ञान भी विस्मृत हो गया। इस सारी दुर्दशा को मिटाने के लिए प्रत्येक भारतवासी को श्रवण से उपार्जित ज्ञान को विकसित एवं पल्लवित करने के लिए आचरण की आग प्रज्वलित करनी होगी। श्रवण से उपार्जित ज्ञान सोना है तो आचरण उस सोने को चमकाने-दमकाने वाली आग है।

धर्मोपदेशश्रवण : जीवन परिवर्तनकारी हो

भारत के सभी धर्मप्रेमियों को अपना यह रवैया बदलना होगा कि हम धर्मोपदेश सुनें तो टनभर परन्तु आचरण कणभर भी न करें। जीवन की यह दुर्बलता मनुष्य को हीनभावना, दरिद्रता, विचारहीनता या परमुखापेक्षता की ओर ले जाती है। एक विचारक वर्तमान युग का यथार्थ चित्रण करते हुए कहता है—

हर ओर देखिये उपदेशों की कैसी झड़ियां लगती हैं।
हर बात-बात में पुरखाओं की साक्षी यहाँ निकलती है।
गीता, रामायण, सूत्र, ग्रन्थ हर ओर सुनाये जाते हैं।
मन्दिर, मस्जिद, स्थानक में कई बार रटाये जाते हैं।
पर परिणाम जो देखोगे तो पोलमपोल पलोटा है।
सुनने वाले यहाँ बहुत मिले, करने वालों का टोटा है॥

एक जगह गाँव के बाहर एक वटवृक्ष के नीचे एक महात्मा प्रतिदिन धर्मोपदेश देते थे। ३०-४० व्यक्ति प्रतिदिन धर्मोपदेश श्रवण करते थे। उपदेश के बीच-बीच में श्रोतागण झूम उठते थे। एक राजकुमार घोड़े पर सवार होकर वहाँ आया। वह घोड़े से उतरा, उसने घोड़े को एक ओर बाँधा और महात्माजी का व्याख्यान सुनने लगा। व्याख्यान सुनते-सुनते उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसने उसी समय महात्मा से संन्यास-दीक्षा ले ली। घोड़ा उसने किसी गरीब को दे दिया। कुछ कपड़े थे, वे उसने गरीबों को बाँट दिये। संन्यास लेकर वह चल पड़ा देश-परदेश में विचरण करने।

संन्यासी बना हुआ वह राजकुमार देश-परदेश में घूमता-घूमता बारह वर्ष बाद उसी गाँव के बाहर उसी वटवृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ उसने संन्यास-दीक्षा ली थी। वहाँ उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे ही प्रवचन सुनने वाली मूर्तियाँ बैठी थीं। उन्हें मूर्तियां ही कहना चाहिए, जिनमें इतने वर्षों तक सुनने पर भी कोई तब्दीली नहीं आई। वे ही उपदेशक हैं, वे ही सुनने वाले हैं, जो जहाँ के तहाँ हैं। संन्यासी बना हुआ वह राजकुमार सबके हृदय के पास हाथ रखकर टटोलने लगा। उपदेशक महोदय ने पूछा—"यह क्या कर रहे हो ?"

वह बोला—"मैं यह देख रहा हूँ कि इनके हृदय में कुछ संवेदनशीलता है या नहीं ? क्योंकि बारह वर्ष बाद भी मैं इन्हें जहाँ के तहाँ देख रहा हूँ, इतना अधिक धर्मोपदेश सुनने पर भी।"

यह घटना इस बात को स्पष्टतया घोषित कर रही है कि वर्षों तक धर्मश्रवण करने पर भी जिस व्यक्ति का जीवन-परिवर्तन नहीं होता, उसका श्रवण करने में लगाया हुआ श्रम और समय प्रायः व्यर्थ जाता है। एक विचारक सन्त ने तीखी आलोचना करते हुए कहा है—

सुनते-सुनते बीती सारी, तेरी रे उमरिया।
बांध बांध अब तो तू, त्याग तपस्या की गठरिया ॥ (ध्रुव)

आठ वर्ष का लगा था सुनने, साठ वर्ष का हो गया।
पोते से तू हो गया दादा, परिवर्तन न हुआ ॥
है काली की काली अब तक तेरी यह चदरिया ॥ सुनते० ॥१॥

थे जो काले बाल हो गए, वह बगुले की पांख-से।
कानों से तू सुन नहीं सकता, नहीं दीखता आंख से ॥
बड़ा अचम्भा फिर भी तेरा, मन तो है चकरिया ॥ सुनते० ॥२॥

सुन करके कुछ असर अगर हो, तो सुनने का सार है।
इधर सुना और उधर निकाला, तो सुनना बेकार है ॥
टूटा तलवा तर न सकेगी, तेरी यह नावड़िया ॥ सुनते० ॥३॥

कवि ने कितना मार्मिक चित्रण ऐसे श्रोताओं का कर दिया है, जो इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं, श्रवण के अनुरूप कुछ भी आचरण नहीं करते।

श्रोतव्य का प्रथम लक्षण : अहिंसा

अर्हतर्षि देवनारद ने इस अध्याय के उत्तरार्द्ध में श्रोतव्य के मुख्यतया चार लक्षण बताए हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अब्रह्म-परिग्रहविरतिरूप व्रताचरण। अर्थात्—ये चारों व्रताचरण श्रोतव्य श्रवण के मधुरफल हैं।

यहाँ चतुर्थ और पंचम महाव्रत को इसलिए एक साथ लिया गया है कि इस अध्याय के प्रणेता अर्हतर्षि नारद बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के युग के हैं। आदि और अन्तिम तोर्थंकरों के अतिरिक्त शेष बाईस तीर्थंकरों के शासन में चातुर्याम धर्म की देशना है।

श्रोतव्य के प्रथम लक्षण के रूप में अर्हतर्षि नारद कहते हैं—

पाणातिपातं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे। पढमं सोयव्व-लक्खणं।

अर्थात्—श्रोतव्य का प्रथम लक्षण है—त्रिकरण और त्रियोग से हिंसा स्वतः न करना और न अन्य से करवाना तथा न ही करते हुए का अनुमोदन करना।

प्राणातिपात-निषेध अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। श्रवण से श्रवणकर्ता के दिल में मन-वचन-काया से हिंसा न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की भावना उमड़े। अहिंसा आत्मा का स्वभाव है। विभाव को हटाना, साधक के लिए स्वभाव के प्रति यह पहला कदम है। जैसे मूर्तिकार मूर्ति-निर्माण के लिए सर्वप्रथम अपनी पैनी छैनी और हथौड़े से पाषाण के अनिष्ट अंश को छील-छाल कर दूर करता है। अनिष्ट अंश दूर होते ही मूर्ति का अपना असली रूप निखर आता है। इसी प्रकार श्रवण-कर्ता साधक भी धर्म-श्रवण करके अपनी आत्मा पर लगे हुए हिंसा रूप अनिष्ट अंश को दूर कर देता है, फिर अहिंसा के विधेयात्मक रूप को भी अपनाता है। श्रवण से उसके अन्तर्मन में दया, सेवा, करुणा, मैत्री एवं सहानुभूति का निर्झर बहता है। वह श्रवण ही क्या, जिससे श्रोता के अंतर् में घनीभूत करुणा का स्रोत न फूटे? यही सच्चे श्रवणकर्ता का प्रथम

लक्षण है। धर्मश्रवण से श्रोतव्य—श्रोता का हृदय दुःखी को देखकर दया से द्रवित हो जाए, यह प्रथम लक्षण है। कवि कहता है—

दया बिन बावरिया हीरा-जनम गंवाए
कि पत्थर से दिल को, क्यों ना फूल बनाए ? ॥ दया० ॥ टेर ॥
कोमलता का भाव न मन में
फिर क्या सुन्दरता से तन में
जीवन, विष बरसाए ॥ दया० ॥१॥
दीन-दुःखी की सेवा कर ले
पाप-कालिमा अपनी हर ले।
तिहुं जग मंगल गाए ॥ दया० ॥२॥

श्रोतव्य को इससे पहचाना जा सकता है कि उसके दिल में दया है, मैत्री है, बन्धुत्व की भावना है।

श्रोतव्य का द्वितीय लक्षण : सत्य

जिसने धर्म श्रवण किया है, उसे पहचानने का दूसरा लक्षण सत्य-भाषिता है। मिथ्याभाषी आत्मा सच्चा श्रोता नहीं हो सकता है। धर्म श्रवण करने के बाद उसके जीवन में सत्य होना ही चाहिये। इसी बात को अर्हतर्षि नारद कहते हैं—

मुसावादं तिविहं तिविहेणं णेव बूया ण भासए।
बितियं सोयव्व — लक्खणं ॥

श्रोतव्य का दूसरा लक्षण यह है कि वह त्रिकरण-त्रियोग से मिथ्या-भाषण स्वयं न करे, अन्य से मिथ्या न बुलवाये तथा न ही मिथ्याभाषण करने वाले का अनुमोदन करे ; मन-वचन-काया से।

वास्तव में धर्मश्रवणकर्त्ता के लिये असत्यभाषण एक कलंक है। मिथ्याभाषण से व्यक्ति अविश्वसनीय बनता है।

श्रोतव्य का तृतीय लक्षण : अदत्तादान-विरमण

अदत्तादान, अर्थात् चोरी से विरत होना श्रोतव्य का तीसरा लक्षण अर्हतर्षि ने बताया। उनके शब्दों में देखिये—

अदत्तादाणं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे।
ततियं सोयव्व -- लक्खणं ॥

श्रोतव्य का तीसरा लक्षण है कि वह तीन करण, तीन योग से अदत्तादान न करे, न करावे और न ही इसका अनुमोदन करे। आत्मा एवं आत्मगुणों के सिवाय समस्त वस्तुएँ परभाव हैं, विभाव हैं; स्वभाव नहीं।

चोरी, बेईमानी, ठगी, झूठ-फरेब, धोखेबाजी, डकैती, धनहरण, अपहरण, चकमा आदि सब अदत्तादान के अन्तर्गत हैं। श्रोतव्य को भलीभाँति जानने-पहचानने का तीसरा लक्षण है - अचौर्यव्रत का आचरण। इस व्यक्ति में चोरी और उससे सम्बन्धित समस्त दुर्गुण नहीं होंगे। उसमें ईमानदारी विश्वसनीयता आदि सद्गुण होते हैं। वह सब लोगों का विश्वासभाजन बन जाता है।

श्रोतव्य का चतुर्थ लक्षण : अब्रह्मपरिग्रहत्याग

अब्रह्मचर्य और परिग्रह से तीन करण और तीन योग से मन-वचन-काया से दूर रहे, दूसरे को भी दूर रखता है और अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह के सेवन का अनुमोदन भी न करे। यही बात अर्हतर्षि नारद ने कही है —

> **अबंभ-परिग्गहं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे।**
> **चउत्थं सोयव्वलक्खणं ॥**

अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह—ये दोनों जीवन को दुःखमय बनाते हैं। जहाँ ये दोनों होंगे, वहाँ शान्ति भंग हुए बिना नहीं रहती। अतः श्रोतव्य-साधक को इन दोनों का त्याग करना अनिवार्य है।

श्रोतव्य के विविध गुण

अर्हतर्षि नारद ने आगे इसी को विशेष स्पष्ट करते हुए कहा है—जिस साधक ने हिंसा आदि अशुद्ध एवं वैभाविक दुर्गुणों का परित्याग कर दिया है, जिसके मन, वाणी एवं कर्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की त्रिवेणी बह रही है, वह साधक ममत्व के सभी प्रकारों का त्याग सहजभाव से कर देता है, चाहे वह ममत्व देह-गेह-परिवार, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, जाति आदि किसी भी प्रकार का हो। साधक उसके वास्तविक रूप को पहचान कर उसी क्षण उससे दूर हट जाता है। क्योंकि मोह-ममत्व ही प्रगाढ़ बन्धन है। श्रोतव्य साधक इस बन्धन से दूरातिदूर रहता है।

इसके अतिरिक्त श्रोतव्य साधक सर्वथा विरत, दमनशील और शांत होता है। अतः उसे बाह्याभ्यन्तर संयोगों से सर्वथा विमुक्त होकर समस्त पदार्थों के प्रति सम होकर चलना है। इसका आशय यह है कि वह पदार्थों के प्रति न तो राग करे, और न द्वेष ही, अपितु समत्वभाव में लीन रहे।

ऐसा श्रोतव्यग्राही साधक ही उपधानवान् है

बन्धुओ !

शास्त्र में उपधान तप का वर्णन आता है, उसमें मुख्यतः स्वादेन्द्रिय

पर विजय पाने के लिये तथा शास्त्र वाचना के उपलक्ष में आयम्बिल तप अमुक अवधि तक करना होता है। परन्तु यहाँ नारदऋषि भाव-उपधान का वर्णन करते हुए सत्य, दत्त और ब्रह्मचर्य को उपधान बताते हैं। जो श्रोतव्य साधक सत्य, दत्त और ब्रह्मचर्य की उपासना करता है, उसे उपधानवान् कहते हैं।

मैंने पहले जिन ४ श्रोतव्यों का वर्णन किया था, उन्हें ग्रहण करने वाले साधक के लिये अर्हतर्षि नारद कहते हैं—

सव्वं सोयव्वमादाय अउयं उपहाणवं।
सव्वदुक्ख-पहीणे उ सिद्धे भवति णीरए ॥

समस्त श्रोतव्यों को ग्रहण करके साधक प्रशंसनीय उपधानवान् (तपस्वी) बनता है। फिर वह समस्त दुःखों से मुक्त एवं सिद्ध हो जाता है, तथा कर्म-रज से भी रहित हो जाता है।

वास्तव में वही साधक प्रशंसनीय उपधानवान् (तपस्वी) कहलाता है जो श्रोतव्य श्रवण किये हुए को जीवन में उतारता है। जो सुनकर जीवन में नहीं उतारता, उसके लिए वह श्रवण किया हुआ ज्ञान केवल भाररूप हो जायेगा। जैसा कि कहा है—

ज्ञानं भारः क्रियां बिना।

क्रियान्वित किये बिना ज्ञान भाररूप होता है। ज्ञान के भार में बड़प्पन का अहंकार भले ही हो, आनन्द नहीं मिल सकता। सुने हुए ज्ञान को आचरण में न लाने को व्यर्थश्रम की उपमा देते हुए एक विचारक कहता है—

'दो व्यक्ति व्यर्थ ही श्रम करते हैं। एक तो वह जो पैसा एकत्रित करता है, पर उसका उपयोग नहीं करता। दूसरा वह, जो अध्ययन करता है, पर उसे जीवन में नहीं उतारता।'

अर्हतर्षि नारद के मतानुसार ऐसा उपधानवान श्रोतव्य साधक शान्त, दान्त, (सब पापों से) विरत, निष्पाप, समर्थ, त्यागी, आत्मरक्षा करने में समर्थ होता है। वह फिर भव-परम्परा के चक्र में नहीं फँसता।

धर्मश्रवणानुरूप आचरण ही श्रेयस्कर

प्रिय श्रोताजनो!

मैंने आपके समक्ष श्रोतव्य श्रवण के अनुरूप व्रतादि का आचरण एवं शम-सम-दमादि की साधना करने वाले साधक को मोक्ष रूप उत्तम फल को प्राप्ति का वर्णन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा सर्वो-

त्कृष्ट साधक संसार के जन्म-मरणादि समस्त दुःखों और क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य : सिद्धि

अर्हतर्षि नारद के कहने का फलितार्थ यह है कि जिसके लिए मानव जीवन मिला है, उस अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि श्रोतव्य-श्रवणानुरूप आचरण से प्राप्त होती है। याद रखिये आपको मानव-जीवन इसलिये मिला है कि—

* आत्मा से परमात्मा बनें।
* नर से नारायण बनें।
* जीव से शिव बनें।
* इन्सान से भगवान् बनें।
* जन से जिन बनें।

आप इन पाँच सूत्रों को अपने हृदय में अंकित कर लें, अवश्य ही एक दिन आपका मनोरथ पूर्ण होगा।

□

४

दुःख के मूल : समझो और तोड़ो

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे विषय की चर्चा करूँगा जो आपके या मानव जाति के ही नहीं समस्त प्राणियों के जीवन से सम्बन्धित है। वह है – दुःख क्या है, क्यों है और उससे मुक्त होने का उपाय क्या है ?

दो प्रकार की वृत्ति वाले मानव

इस संसार में दो तरह की वृत्ति वाले मनुष्य होते हैं। एक होते हैं—श्वानवृत्ति वाले। जिस प्रकार श्वान पत्थर मारने वाले को नहीं, परन्तु पत्थर को पकड़ने दौड़ता है, उसी प्रकार कई अज्ञानी मनुष्य इस वृत्ति के होते हैं, जो दुःख आ पड़ने पर दुःख के निमित्तों पर आक्रोश करते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष सिंहवृत्ति के होते हैं। सिंह गोली लगने पर गोली पर नहीं, गोली मारने वाले पर झपटता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष दुःख के मूल पर प्रहार करते हैं; दुःख के निमित्तों पर नहीं।

दुःख से बचना चाहते हैं, कारणों से नहीं

यों तो संसार के समस्त प्राणी दुःख से बचना चाहते हैं। वे चाहते हैं, जरा-सा भी दुःख हम पर न आए। परन्तु अधिकांश मानव दुःख से बचना तो चाहते हैं, मगर दुःख के कारणों का परित्याग नहीं करते। अतएव द्वितीय अध्ययन में 'वज्जियपुत्र अर्हतर्षि' इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हैं—

> जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो।
> तमेवादाय गच्छंति, किच्चा दिन्ना व वाहिणी ॥१॥

अर्थात्—कर्मानुगामी आत्मा जिस दुःख से भयभीत होकर भागते हैं, उसी दुःख को अज्ञानवश ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार युद्ध से भागती हुई सेना पुनः शत्रु के घेरे में फँस जाती है। इसी प्रकार दुःख से बचने के

लिए भागने वाला व्यक्ति, भाग तो सकता नहीं, उलटे वह दुःख के शिकंजे में अधिकाधिक फँसता जाता है। जैसे किसी को खांसी हो गई तो वह खांसी से तो छुटकारा पाना चाहता है लेकिन दही खाना नहीं छोड़ सकता। दही और खट्टी चीज का मोह नहीं छूटता तो फिर खांसी से छुटकारा कैसे हो सकता है। किसी को बुखार आया तो वह उसे उतारने का विचार करता है। डॉक्टर के पास जाकर दवा लेता है, परन्तु वह यह विचार नहीं करता कि बुखार आने का कारण क्या है। इसका मूल कारण ढूंढ़कर इसे जड़मूल से दूर करने का उपाय वह शायद ही करता है।

दुःख को दबा देना ही सुख नहीं है

साधारण मनुष्य जिसे दुःख समझता है, उसे अपनी मनचाही वस्तु से दबा देता है और उसे ही वह सुख मान लेता है। परन्तु वास्तव में वह ऐलोपैथिक दवा की तरह एक रोग को दबाकर दूसरे रोग को उभारने के समान है। वह दुःख को जड़मूल से मिटाने का यथार्थ उपाय नहीं है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में वर्तमान जनमानस का चित्रण करते हुए कहा है—

> तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं
> क्षुधार्त्तः शाल्यन्नं कवलयति माषादिकलितम्।
> प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधूम्
> प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

जब मुख सूखने लगता है, तब साधारण मनुष्य ठंडा और मधुर जल पी लेता है, जब भूख से पीड़ित होता है, तब उड़द की दाल आदि से स्वादिष्ट बनाये हुए शालि चावल का भोजन कर लेता है, कामाग्नि भड़कने पर प्रिया के साथ सहवास कर लेता है। इस प्रकार इन विभिन्न कोटि की व्याधियों के सामान्य प्रतीकार को ही मनुष्य 'यही सुख है', ऐसा मानकर विभ्रम में पड़ता है। आज संसार के अधिकांश लोग इसी भ्रान्ति के शिकार हो रहे हैं। इसी प्रकार सुख की भ्रान्ति को वे सुख समझे बैठे हैं। अज्ञानदशाग्रस्त मानव यह मानता है कि मेरे पास प्रचुर धन हो तो मैं मनमाना सुखोपभोग कर सकता हूँ। वह भ्रान्तिवश मानता है कि जगत् में जो कुछ दुःख है, वह धन के अभाव में है। परन्तु यदि आप किसी लक्ष्मीनन्दन के हृदय की जाँच करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसके पास सुख के प्रचुर साधन होंगे, परन्तु पुत्र न होने से पुत्र की लालसा में वह झूरता होगा। कदाचित् उसे पुत्र-प्राप्ति हो जाए, तो भी अपनी छोटी-सी जिन्दगी में दुःसाध्य व्याधि से पीड़ित होकर कराहता

रहता है, या मर जाता है। इस कारण उसके समक्ष एक के बाद दूसरा महादुःख उपस्थित होता रहता है। किसी के अनेक पुत्र होते हैं, किन्तु वह उनके भरण-पोषण की चिन्ता से व्याकुल रहता है।

सुख के कल्पित साधन सुखप्रद नहीं

निष्कर्ष यह है कि दुःखरूप रोग का प्रतीकार साधारण बुद्धि वाला मानव जड़मूल से नहीं कर पाता। मैं आपसे पूछता हूँ, मनुष्य जिन-जिन साधनों से सुख प्राप्ति की आशा करता है, क्या उन साधनों के मिलने से उसका दुःख दूर हो जाएगा, उसके जीवन में सुख का सागर लहराने लगेगा? यह तो आप किसी साधन-सम्पन्न मानव से पूछकर देखें तो आपको पता लग जाएगा।

एक राजा है, वह भव्य महलों में रहता है। उसके चारों ओर वैभव और विलास की रंगबिरंगी दुनिया है। बाहर की दुनिया का उसे कुछ भी भान न हो, फिर भी कोई न कोई दुःख का कीड़ा उक्त राजा के हृदय को खा रहा होता है। दो लाख रुपये की चमचमाती कार में बैठकर सैर करते हुए किसी धनाढ्य को देखकर दर्शक के दिल में विचार आएगा कि 'ओहो! कितना सुखी है, कितना भाग्यशाली है?' मगर उस कार वाले सेठ से पूछो तो पता लगेगा कि उसके दिमाग में कितनी चिन्ताओं का जाल बिछा हुआ है? उसे चाहे जितना सरस स्वादिष्ट भोजन क्यों न कराओ, सुखकर व रुचिकर नहीं लगेगा।

ग्रीस में सोलन नामक एक तत्त्वचिन्तक के पास एक दिन एक दुःखी मनुष्य आया और कहने लगा—"ओ सुखी भाई! मुझे सुख का कोई मंत्र दीजिए, ताकि मैं भी सुखी हो सकूँ।"

सोलन ने कहा— 'भाई! मेरे पास सुख का कोई मंत्र नहीं है।" परन्तु आगन्तुक किसी तरह मानने को तैयार नहीं था। कहने लगा— "मैं सुख का मंत्र लिये बिना यहाँ से जाऊँगा नहीं।" सोलन ने उससे कहा—"तुम किसी सुखी मनुष्य का कोट ले आओ, फिर मैं तुम्हें सुख का मंत्र दे दूँगा।"

आगन्तुक ने कहा—"'जी, यह अच्छा कहा! एक कोट ही तो आपको चाहिए न? मैं कई सुखियों के कोट ला सकता हूँ। अच्छा, नमस्ते!"

तथाकथित दुःखिया एथेंस महानगर में पहुँचा और वहाँ एक विशाल बंगले वाले सेठ के द्वार पर दस्तक दी। अन्दर से आवाज आई—

"कौन ?" वह बोला—"मैं हूँ एक दुखिया। मुझे सोलन ने आपका एक कोट लेने के लिए भेजा है।" सेठ बोला—"किसलिए ? मेरा कोट क्यों चाहते हो ?" वह बोला—"सोलन ने कहा है कि तुम किसी सुखी मनुष्य का कोट ले आओ तो मैं तुम्हें सुख का मंत्र दे दूंगा।"

सेठ—"भाई ! कोट तो भले ही तुम एक के बदले दो ले जाओ, परन्तु मैं सुखी नहीं हूँ।"

आगन्तुक—"अजी ! क्यों मुझे बहकाते हैं ? आपके पास इतना बड़ा बंगला है, चार-चार कारें हैं। सैकड़ों नौकर-चाकर हैं, कई मुनीम-गुमाश्ते हैं, फिर भी आप कहते हैं, कि मैं सुखी नहीं हूँ। मैं मान नहीं सकता।"

सेठ—"अच्छा ! तुम तीन दिन मेरे यहाँ रहकर देख लो कि मैं दुःखी हूँ या सुखी।"

आगन्तुक ने रहना मंजूर कर लिया। सेठ ने अपने सेवक से कह कर अपने खास दीवानखाने से समीप ही अतिथिगृह में आगन्तुक के रहने तथा खाने-पीने का प्रबन्ध करा दिया। दूसरे दिन सुबह होते ही उक्त सेठ की अपने पुत्र के साथ झड़प हो रही थी। लड़का कह रहा था—"मेरे भी अपने अरमान हैं। मैं भी इस दुनिया में आया हूँ तो दुनिया का आनन्द लूट लूँ ! आप मुझे किसी भी बात से रोक नहीं सकते।"

सेठ बोल रहा था—"परन्तु तू मेरी भी कुछ माना कर। मेरे नाम पर कालिख तो मत पुतवा। अगर इस पर भी तू नहीं मानता तो मेरे घर से निकल जा।"

लड़का कहने लगा—"मैं आपका गुलाम नहीं हूँ। मैं हर जगह जाने के लिए आजाद हूँ। आप जैसे कंजूस, अनुदार, जिद्दी और क्रोधी पिता के पास रहना मुझे क़तई पसन्द नहीं है।"

पिता बोला—"नालायक ! कमीने ! निकल जा, अभी का अभी।"

इस प्रकार पिता-पुत्र का कलह सुनकर आगन्तुक ने सोचा मैं तो समझता था यह सेठ बड़ा सुखी है, परन्तु यह तो मुझसे भी दुःखी है। मेरा लड़का कम से कम मेरी आज्ञा का तो पालन करता है। उसने सेठ से कहा—"नमस्ते सेठजी ! यह मैं चला। सचमुच आप सुखी नहीं हैं, मैंने देख लिया।"

सेठजी से विदा लेकर वह एक बड़े जमींदार के यहाँ पहुँचा और उससे अपना कोट देने को कहा। कारण वही पहले वाला बताया। जमींदार ने भी कहा—"तुम मुझे सुखी मानते हो, पर मैं सुखी नहीं हूँ।"

आगन्तुक बोला—"वाह ! आपके यहाँ इतना बड़ा ठाठबाट है, फिर भी आप कहते हैं कि मैं सुखी नहीं हूँ, मैं मान नहीं सकता।"

जमींदार ने भी उसे कुछ दिन रहकर अनुभव करने को कहा। तीसरे ही दिन जमींदार का अपनी पत्नी के साथ झगड़ा देखा तो आगन्तुक दंग रह गया। वह मन ही मन सोचने लगा—'इस जमींदार की अपेक्षा तो मैं अधिक सुखी हूँ। मेरी पत्नी इतनी विनीत, सुशील, कष्टसहिष्णु और सहृदय है कि वह मेरे सामने कभी उफ् तक नहीं करती। चलो, यहाँ से।' उसने जमींदार से भी विदा ली और चल पड़ा, एक बड़े दूकानदार के यहाँ जिसके यहाँ ग्राहकों की भीड़ लगी थी और चाँदी बरस रही थी। जब सभी ग्राहकों को उसने निपटा दिया तो उसने दूकानदार से नमस्ते करके अपना कोट दे देने के लिए कहा। दूकानदार ने कहा—"भाई ! तुम मुझे जैसा सुखी समझते हो, वैसा मैं सुखी नहीं हूँ।"

आगन्तुक ने कहा—"आपको क्या दुःख है ? इतना धन बरस रहा है फिर भी आपको दुःख !"

दूकानदार ने कहा—"भाई ! इतना सब होते हुए भी मुझे तो सुख से भोजन करने को भी अवकाश नहीं मिलता। ग्राहकों की इतनी भीड़ रहती है कि प्रायः प्रतिदिन मुझे तीन-चार बजे बड़ी मुश्किल से पाँच मिनट भोजन के लिए मिलते हैं। न तो मैं समय पर खा-पी सकता हूँ, न सो सकता हूँ, न ही अपने परिवार से सुख-दुःख की बात कर सकता हूँ। मनोरंजन के लिए भी मुझे समय नहीं मिल पाता। फिर मैं अपने आपको कैसे सुखी मानूँ ?"

दूकानदार को भी नमस्ते करके वह छोटे व्यापारी, किसान, गोपालक, मजदूर, ग्रामीण, नागरिक आदि कई प्रकार के लोगों के पास पहुँचा; परन्तु कोई भी सुखी मनुष्य उसे नहीं मिला। निर्धन की शिकायत थी—धन नहीं है। किसान की शिकायत थी—पानी न बरसने के कारण खेती में उपज अच्छी नहीं होती। मजदूर और नौकरों की शिकायत थी—दिन-रात मालिक का काम करते हैं, फिर भी झिड़कियाँ और ताने सुनने को मिलते हैं, पैसा भी कम देता है। हमें क्या सुख है, ऐश तो ये लोग ही करते हैं।

मतलब यह है कि उस दुखिया को इतनी जगह घूमने पर भी कोई व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जो स्वयं को सुखी कहता हो। आखिर निरुपाय होकर वह 'सोलन' के पास पहुँचा और कहा—"इतना भटका किन्तु मुझे कोई सुखी नहीं मिला। अतः आप सुखी व्यक्ति का कोट लिए बिना ही सुख का कोई मन्त्र देना चाहते हों तो दे दीजिए।"

सोलन ने उसे शांति से समझाया—"जब तक तुम्हारे मन में शरीर और शरीर से सम्बन्धित स्वजन आदि सजीव और घर, दूकान, मकान, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने माने हुए सम्प्रदाय, जाति, भाषा, प्रान्त, मत आदि के प्रति अहंत्व, ममत्व और मोह रहेगा तब तक सुख और शांति तुम से कोसों दूर रहेगी।"

यह सुनकर दुःखी मनुष्य सुख के इस मूल मन्त्र को पाकर प्रसन्नता से बिदा हुआ।

दुःख के कारणों में सुख कहाँ ?

बन्धुओ ! वास्तव में दुःख के जो कारण हैं, उन पदार्थों में सुख ढूँढने वाला मानव कैसे सुख प्राप्त कर सकेगा ?

जो परभाव या परवस्तु है, आत्मा तथा आत्म-गुणों से भिन्न वस्तु है, उसके प्रति मोह, ममत्व, अहंत्व आदि दुःख के कारणों को दूर किये बिना जो मानव इनमें ही सुख ढूंढ़ता है, उसका पुनः-पुनः दुखी होना आश्चर्य की बात नहीं है।

वर्तमान युग का मनुष्य दुःख तो कतई नहीं चाहता, परन्तु उसके कारणभूत अज्ञान, भ्रम या मोह को नहीं छोड़ना चाहता। परिणाम यह होता है कि वह घूम-फिर कर पुनः दुःख के चक्र में फँस जाता है।

इसीलिए वज्जियपुत्त अर्हतर्षि कहते हैं—

दुक्खा परिवित्तसंति पाणा, मरणा जम्मभया य सव्वसत्ता।
तस्सोवसमं गवेसमाणा, अप्पे आरंभभीरुए ण सत्ते॥

अर्थात्—प्राणी दुःख से परित्रसित हैं। मृत्यु और जन्म के भय से समस्त प्राणी प्रकम्पित हैं। वे दुःख के उपशमन की खोज में लगे हैं, परंतु (उसके कारणभूत) आरम्भ से जरा भी नहीं डरते।

दुःख को उपशान्त करने के लिए समस्त आत्माएँ यत्र-यत्र भ्रमण कर रही हैं। अनन्त युग बीत गये हैं। आज तक मानव का लक्ष्य अशांति से हटकर शांति की खोज रहा है; किंतु आज तक उसने भूलें ही की हैं, दुःख के कारणों को समझने में। उसका पुरुषार्थ पानी का विलोवन मात्र रहा है। इसी कारण वह दुःख के बाहरी कारणों से बचता रहा; किन्तु उसके उपादान से चिपटा रहा। सुख के लिए वह आरम्भ करता है, किंतु वह आरम्भ ही दुःख का मूल है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—

से णं भंते ! दुक्खे केण कडे ?

'भगवन् ! दुःख किसका किया हुआ है ?'

भगवान् ने कहा—'जीवेण (अत्त) कडे, पमाएणं।'

—स्थानांग० ३/२

जीव ने स्वयं प्रमाद के द्वारा दुःख को उत्पन्न किया है। प्रमादी एवं अज्ञानी मानव अपने आप से किये हुए दुःखों के लिए दूसरों को जिम्मेवार ठहराता है। वह दुःख आ पड़ने पर या तो किसी व्यक्ति को, या भगवान को, काल को अथवा अमुक परिस्थिति को उस दुःख के लिए दोषी या जिम्मेदार ठहराता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि मैं अगर दुःख के कारणभूत दुष्कर्म न करता तो मुझे यह दुःख क्यों प्राप्त होता।

अतः अगर दुःख से बचना चाहते हो तो उसके कारण को ढूंढ़ो और फिर उसके निवारण के लिए पुरुषार्थ करो।

दुःख का मूल कारण : स्वकृत कर्म

प्रश्न होता है कि जब दुःख के लिये मनुष्य स्वयं जिम्मेवार है, तब दुःख का मूल कारण क्या है ? दुःख का मूल कारण जानने से पहले संसार के विशिष्ट दुःख कौन से हैं, जिनसे समस्त संसारी जीव पीड़ित हैं ? इसके विषय में भगवान् का कथन सुनिए—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ किस्संति जंतवा॥

—जन्म दुःखरूप है, जरा (वृद्धावस्था) दुःखरूप है, रोग और मृत्यु दुःखरूप हैं। इस प्रकार सारा ही संसार दुःखमय है, जहाँ सांसारिक प्राणी क्लेश पाते हैं।

वस्तुतः सारा संसार इन और इनके समकक्ष सैकड़ों दुःखों से त्रस्त है। सबसे बड़ा दुःख तो प्राणियों को जन्म-मरण का है। प्राणी संसार में जहाँ भी, जिस किसी योनि या गति में जन्म लेता है, वहाँ अनेकों दुःख लगे हुए हैं। अतः भगवान् महावीर ने कर्म—शुभाशुभ कर्म को ही दुःख का मूल कारण बताते हुए कहा है—

कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं।

—जन्म-मरणरूप दुःखों का मूल कर्म है।

इसी तथ्य को अर्हतर्षि वज्जियपुत्त उजागर करते हुए कहते हैं—

गच्छंति कम्मेहिं सेऽणुबद्धे, पुणरवि आयाति से सयंकडेणं।
जम्ममरणाइं अट्टो पुणरवि आयाइ से सकम्मसित्ते॥३॥

—प्राणी अपने किये हुए कर्मों से अनुबद्ध (बंधा हुआ) होकर परलोक

में जाता है तथा अपने ही कर्मों के द्वारा इस संसार में आता है । इस प्रकार वह आर्त (दुःख से पीड़ित) आत्मा अपने ही कर्मों द्वारा सींची हुई जन्म-मृत्यु की परम्परा में आता है ।

कुछ दर्शन कहते हैं कि "ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता-हर्त्ता है, इसलिये वही जीवों को दुःख या सुख देता है । उसी की प्रेरणा से जीव विविध योनियों या गतियों में जन्म-मरण करता है, स्वर्ग या नरक में उसी की प्रेरणा से जीव जाता है ।" परन्तु यह कथन युक्तिसंगत एवं यथार्थ नहीं है । अपने सुख-दुःख या उनके कारणभूत शुभाशुभ कर्म के लिए ईश्वर को उत्तरदायी ठहराना कथमपि उचित नहीं है । अर्हतर्षि वज्जियपुत्त ने इस गाथा द्वारा स्पष्ट ध्वनित कर दिया है कि ईश्वर स्वतन्त्र, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और संसार से सर्वथा निर्लिप्त एवं कृतकृत्य है । उसे इस प्रपंच में पड़ने की क्यों आवश्यकता पड़ी ? इसीलिए भगवद्गीता में इस कथन का खण्डन किया गया है —

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।

— ईश्वर न तो लोक का कर्त्ता है, न कर्म का सृजन करता है, न ही कर्मफल का संयोग कराता है । यह लोक तो स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है ।

वस्तुतः आत्मा ही स्वकृत कर्मों के लिए, तथा कर्मफल के फलस्वरूप विविध योनियों में जन्म-मरण के लिए उत्तरदायी है । अपने शुभाशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के, रोग, मरण आदि दुःखों के लिए उत्तरदायी हैं । स्वर्ग और नरक का, सुख और दुःख का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं ही है । भगवती सूत्र (श. ६/३२) में यही बात भगवान् ने बताई है कि नैरयिक आदि जीव नरक आदि में स्वयमेव उत्पन्न होते हैं, उन्हें वहाँ दूसरा कोई उत्पन्न नहीं करता ।

सूर्य स्वयं अपनी किरणों द्वारा बादलों का निर्माण करता है, और स्वयं ही किरणों द्वारा उन्हें द्रवित कर स्वयं उनसे मुक्त होता है । कर्म का सिद्धांत मनुष्य की बहिर्दृष्टि को मोड़कर अन्तर् की ओर लाता है । इसीलिए भगवान् ने कहा है —

अप्पा कत्ता विकत्ता या दुहाण य सुहाण य ।

— आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्त्ता है, और वही उनका भोक्ता है ।

विपत्ति को एक दिन तूने ही निमन्त्रण दिया था, आज वह आई है तो उससे भागने की और अपनी गलती को दूसरे पर मढ़ने, अर्थात्—निमित्त पर आक्रोश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तेरे ही पूर्वकृत अशुभ-कर्मों के उदय से विपत्ति आई है, उसके लिए दूसरों को दोष मत दे। एक अंग्रेज विचारक ने ठीक ही कहा है—

'It is our own past, which has made us, what we are.'

'आज हम जो कुछ हैं, हमारे ही अतीत ने हमें (ऐसा) बनाया है।'

कर्मवाद कहता है—मानव! सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति सब तेरे हाथ में है। शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होना भी तेरे हाथ में है।

कर्मों के बीज और कर्म-सन्तति

आत्मा के जन्म-मरणादि दुःख या बाह्य सुख के मूल हेतु कर्म हैं, यह जान लेने के बाद प्रश्न उठता है कि आत्मा तो अपने आप में कर्मरहित है शुद्ध है, ज्ञानमय है ; फिर कर्म उसके कैसे लगें? कब लगे? क्यों लगे? या पहले कर्म था या आत्मा? इसका समाधान करने के लिए अर्हतर्षि वज्जियपुत्त कहते हैं—

बीया अंकुरणिप्फत्ती, अंकुरातो पुणो बीयं।
बीए संबुज्झज्जमाणम्मि, अंकुरस्सेव संपदा ॥४॥
बीयभूताणि कम्माणि, संसारम्मि अणादिए।
मोहमोहितचित्तस्स, ततो कम्माण संतति ॥५॥
मोहमूलमनिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं।
मोहमूलाणि दुक्खाणि, मोहमूलं च जम्मणं ॥६॥

—(संसार में यह देखा गया है कि) बीज से अंकुर फूटता है, और अंकुरों में से पुनः बीज निकलते हैं। बीजों के संयोग से अंकुरों की सम्पदा बढ़ती है।

—इस अनादि संसार में कर्म बीजवत् है। मोह-मोहित चित्त वाले के कर्मों की संतति (परम्परा) उन्हीं बीजों से आगे बढ़ती है।

—संसार के समस्त देहधारियों के अनिर्वाण—अशांति या जन्म-मरण के चक्र का मूल मोह है। समस्त दुःखों का मूल भी मोह है, तथा जन्म-मरण का मूल भी मोह ही है।

वज्जियपुत्त अर्हतर्षि ने कर्म को नन्हें बीजों से उपमित किया है। अल्परूप में आये हुए कर्म भी अपने में अनन्त संसार लिये आते हैं। उत्तरा-

ध्ययन सूत्र में भगवान् ने कर्म को जन्म-मरणरूप संसार का बीज कहा है। फिर उन्होंने राग-द्वेष को कर्म का बीज बताते हुए कहा—

रागो य दोसो बिय कम्मबीयं।

'राग और द्वेष ये दोनों कर्मबीज हैं।'

आत्मा के राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि विकारमय स्पन्दन भावकर्म हैं और कार्मण-वर्गणा के पुद्गल द्रव्यकर्म हैं। भावकर्म से प्रेरित होकर आत्मा द्रव्यकर्म को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे ही कर्म जब विपाकरूप में उदय में आते हैं, तो कोई न कोई निमित्त बन जाता है। अज्ञानी आत्मा अपने उपादान को न देखकर निमित्त को ही सब कुछ मानकर उसी पर अपना रोष प्रकट करता है। इसीलिए वह उदयगत कर्मों को क्षय करने के साथ-साथ राग-द्वेष के परिणामों से अनन्त-अनन्त कर्म उसी क्षण बाँध लेता है। यही है बीज से अंकुर और अंकुर से पुनः बीज के रूप में कर्मसंतति का रहस्य। आत्मा ने कर्म कब से बांधे ? कर्म पहले था या आत्मा ? इस प्रश्न का प्रत्यक्ष समाधान तो नहीं है, किन्तु प्रवाहरूप से इसी कार्य-कारण-परम्परा से बँधकर आत्मा और कर्म दोनों विरोधी स्वभाव के होने पर भी अनादिकालीन सहयात्री है।

कर्मों के कारण ही जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि दुःख उत्पन्न होते हैं। जहाँ तक मोह है, वहाँ तक ये दुःख आते रहेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र (३२/८) में कहा है—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो

—जिसके मोह (दर्शनमोह-चारित्रमोह – कषाय-नोकषाय) नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है।

शुद्ध आत्मा के कर्म कैसे चिपक जाते हैं ? इसके लिए दृष्टांत द्वारा आपको समझा दूँ—

मोहन नामक एक व्यक्ति किसी उद्यान में गया। वहाँ उसने महकते गुलाब के फूल देखे। (यहाँ तक तो ठीक है। आत्मा ज्ञान-चेतनामय है। कोई भी पदार्थ उसके सामने आये और वह देखे, यह पाप नहीं है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञाता और द्रष्टारूप है।) किंतु देखने के साथ ही मोहन बोल उठा—'कितने सुन्दर एवं सुगन्धित फूल हैं।' (यहाँ इन वाक्यों के साथ ही राग-चेतना आ गई जो कर्मबन्ध का कारण बन गई।) फिर उसका मन मचल उठा उन फूलों को लेने के लिए। (तब यह रागचेतना वासना में परिणत हो गई।) किंतु सोचा कि 'माली आ जाये तो पैसे देकर ले लें।' (यहाँ तक वासना नीति की सीमा में है।) किंतु सोचा—

न जाने माली कब आयेगा ? कौन देखता है, ऐसे ही ले लिए जाएँ, क्यों पैसे खर्च किये जाएँ। (यहाँ वासना नीति की सीमा लांघ गई।) हाथ आगे बढ़े और लोभवश कुछ अधिक फूल लेकर वह चलने को ही था कि तभी माली ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया। चोरी के अपराध में मोहन को पुलिस के हाथों गिरफ्तार करवा दिया गया। (इस घटना में राग, वासना, अनीति, लोभ एवं चोरी ये सब मोह के ही प्रकार हैं।) मोह के कारण ही मोहन को दुःख उठाना पड़ा। यद्यपि मोहकर्म का फल कभी-कभी देर से भी मिलता है, किंतु इस घटना में तुरन्त फल मिल गया। अतः यह याद रखिए कि जहाँ मोह है, वहाँ दुःख अवश्यम्भावी है।

दुःख के मूल को मत सींचो

अतः दुःख को मिटाना चाहते हैं, तो आपको उसके मूलकारण कर्म और कर्म के मूलकारण राग, द्वेष, मोह आदि को मिटाना होगा। यही बात वज्जियपुत्त महर्षि कहते हैं—

> मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं।
> फलत्थी सिंचते मूलं, फलघाती न सिंचति ॥७॥

मूल का सिंचन करने पर फल पैदा होगा और मूल को नष्ट करने पर फल स्वतः ही नष्ट हो जायेगा। जो फलार्थी है, वह मूल को सींचता है, परन्तु जो फल को नष्ट करना चाहता है, वह मूल को नहीं सींचता।

राग-द्वेष-मोहरूप वासना की विषलता के दो फल हैं—सुख और दुःख। जिसे दुःखरूप फल को नष्ट करना है, उसे दुःख के मूल को ढूंढ़कर उसे उखाड़ फेंकना होगा। जब मूल ही नहीं होगा तो अंकुर कहाँ से फूटेगा और अंकुर नहीं फूटेगा तो वृक्ष कैसे होगा ? वृक्ष नहीं होगा तो उसके पत्ते, फूल और फल कहाँ से आयेंगे ?

देवलोक का सुख भी दुःखरूप ही है

कहा जा सकता है कि देवलोक में देवों को दिव्य सुख प्राप्त है। फिर भगवतीसूत्र में चौबीस दण्डकों का विचार करते हुए देवों को दुःखी क्यों कहा गया ?

इसका समाधान यह है कि कर्म स्वयं दुःखरूप हैं और देव भी कर्म से विमुक्त नहीं हैं, उन्हें भी दुःखी कहा है। यह बात दूसरी है कि प्रचुर सातावेदनीय कर्म के उदय से उन्हें कर्मों का दुःख दुःख मालूम नहीं होता। परंतु शुभ हो या अशुभ दोनों प्रकार के कर्म दुःख के ही कारण हैं। और जन्म-मरणादि का दुःख कर्मजनित होने से उसे भी दुःखरूप कहा गया है। इसी कारण देवों को दुःखी कहा गया है।

गले में सेर-दो सेर लोहा लटका दिया जाये तो दुःख प्रतीत होगा, किंतु उतने ही वजन का सोने का हार गले में पहन लिया जाय तो दुःख-रूप नहीं मालूम होगा। इसका कारण है, सोने के प्रति मोह। भार की दृष्टि से लोहा और सोना समान ही हैं। इसी प्रकार ससार का दुःख तो दुःख है ही, संसार का सुख भी दुःख ही है। जब देवों को भी दुःखी कहा गया है तो संसार में अपने आपको सुखी कहने का दावा कौन कर सकता है? इसीलिए एक विचारक कहता है—

> सर्वत्र सर्वस्य सदा प्रवृत्तिर्दुःखस्य नाशाय सुखस्य हेतोः।
> तथाऽपि दुःखं न विनाशमेति, सुखं न कस्यापि भजेत् स्थिरत्वम् ॥

—छोटे से छोटे कीट से लेकर देवेन्द्र तक सर्वत्र सभी जीवों की प्रवृत्ति सदैव दुःख के निवारण और सुख की प्राप्ति के लिए होती है तथापि न तो दुःख नष्ट होता है, और न किसी भी संसारी जीव को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है।

अन्य प्राणियों की बात जाने दें, मनुष्य जाति का ही विचार करें तो उसके सामने भी शारीरिक, मानसिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सैकड़ों प्रकार के दुःख मुँह बाए खड़े हैं। एक दुःख का अन्त नहीं आता, तब तक दूसरा और तीसरा दुःख आ धमकता है। नीतिकार कहते हैं—

> एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं, गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
> तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥

—समुद्र के पार पाने की तरह, मैंने एक दुःख का अन्त (पार) नहीं पाया, तब तक तो दूसरा दुःख आकर उपस्थित हो गया। सच है, जहाँ छिद्र होते हैं, वहाँ बहुत अनर्थ होते हैं। छेद वाली चलनी में से पानी झरता ही रहता है।

जैसे—एक व्यक्ति को बुखार आता था, उसने बुखार के मूल कारण को दूर न करके बुखार मिटाने हेतु ऐसे गलत उपचार किये जिससे बुखार अधिकाधिक बढ़ता ही गया। धीरे-धीरे दूसरे वर्ष उस बुखार ने टी. बी. का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार ज्वर का दुःख फिर तपेदिक रोग का दुःख, तदनन्तर खांसी, दुर्बलता, मस्तिष्क पीड़ा, स्मृति-मन्दता, आदि एक के बाद एक रोगरूप दुःख बढ़ते ही गए।

क्या आप बता सकते हैं कि एक के बाद एक आ पड़ने वाले इन दुःखों का कारण क्या है? ऋषि कहते हैं कि इन दुःखों का कारण यह है कि मनुष्य सांसारिक सुखों में ग्रस्त होकर दुःखों के मूल कारण की खोज करना

भूल जाता है, मगर इतना दुःख होते हुए तथा वैषयिक सुख होते हुए भी तथा सुख-प्राप्ति की लगातार कोशिश के बाद भी मानव दुःख क्यों पाते हैं ? तथा दुःखनाश का उपाय क्या है ? प्रश्न का समाधान अर्हतर्षि-वज्जियपुत्त ने किया है—

दुक्खमूले च संसारे, अण्णाणेण समज्जियं ।
मिगारिव्व सरूप्पत्ती, हण कम्माणि मूलतो ॥ ८ ॥
एवं से सिद्धे बुद्धे विरत्ते विपावे दंते दविए अलंताती ।
णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छत्ति ॥ ९ ॥ त्तिबेमि

—इस दुःखमूलक संसार में (आत्मा) अज्ञान के कारण (संसार सागर में) डूबा हुआ है । अतः जैसे सिंह बाण के उत्पत्तिस्थल (फेंकने वाले) पर प्रहार करता है, इसी प्रकार (दुःखमुक्त होने वाले) व्यक्ति को दुःखोत्पत्ति के कारणभूत कर्मों को समूल नष्ट करना चाहिए ।

— सर्वथा दुःखमुक्त आत्मा सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, दान्त, द्रव्य, अलंत्रायी (सर्वथा कर्मरहित होने के कारण) इस संसार में पुनः नहीं आता ।

संसार दुःखमूलक है, फिर भी आत्मा इसमें अज्ञानवश पड़ा हुआ है । दुनिया के दुःखपूर्ण तत्त्वों में उसे सुख का आभास होता है । यही तो अज्ञान है, और इसी के फलस्वरूप दुःख में सुख की अभिनिवेशात्मक बुद्धि ही जन्म-मरणरूप संसार का मूल हेतु है । यों तो आत्मा कर्मों को प्रतिक्षण नष्ट कर रहा है, किन्तु वह उनके मूल को नष्ट नहीं करता ।

बन्धुओ !

कर्मबन्ध के मूल हेतु राग-द्वेष, अज्ञान, मोहादि को समाप्त करके ही व्यक्ति दुख के मूलहेतु कर्म और उसके फल (दुःख) को समाप्त कर सकता है ; इसमें कोई सन्देह नहीं । ऐसी आत्मा जन्म-मरणरूप संसार में फिर नहीं आती । □□

५

निर्लेप होने का सरल विज्ञान

सिद्ध और संसारी जीव में अन्तर

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! आप जानते हैं कि निश्चयदृष्टि से हमारी आत्मा और सिद्धों की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। फिर भी हमारा यह अनुभव है कि जब तक आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह बार-बार जन्म-मरण करता है, नाना दुःखों और विपत्तियों से ग्रस्त होता है, क्रोध, मान, माया और लोभरूपकषाय की आग में प्रज्वलित होता रहता है।

क्या आप बता सकते हैं, इस अन्तर का क्या कारण है ? राजस्थान के एक विचारक ने इस विषय में संक्षेप में बताया है—

> **सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध होय।**
> **कर्म-मैल का आन्तरा, बूझे विरला कोय ।।**

स्पष्ट है कि सिद्ध और संसारी जीव में अगर कोई अन्तर है तो कर्ममल का है। इसी 'कर्ममल' को तृतीय अध्ययन के प्रवक्ता अर्हतर्षि दविल ने 'लेप' संज्ञा दी है।

द्रव्यलेप और भावलेप का प्रभाव

जब किसी वस्तु पर लेप लगा दिया जाता है तो वह वस्तु भारी हो जाती है, ऊपर उठ नहीं सकती। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में द्रव्यलेप का रूपक देकर आत्मा पर लगे हुए भावलेप का सुन्दर चित्रण किया गया है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, फिर भी वह कभी नरक और कभी तिर्यंच गति में क्यों जाता है ? इसे स्पष्ट रूप से समझाते हुए कहा गया है—एक तुम्बा है, उसका स्वभाव जल में डूबना नहीं, किन्तु जल पर तैरना है। किन्तु उसे धागों से बांध कर और मिट्टी के एक-एक

करके क्रमशः आठ लेप लगाकर पानी में डाल दिया जाए तो वह पानी पर तैरने के बजाय पानी में क्रमशः नीचे-नीचे बैठता जाएगा और अन्त में, वह पानी में डूब जाएगा। यही स्थिति संसारी आत्मा की है, जो भावलेपों से लिप्त होकर ऊर्ध्वगमन के बजाय अधोगमन करता है। उसका पतन होने लगता है। भावलेप से आवेष्टित आत्मा तब तक ऊर्ध्व-गमन नहीं कर सकता, जब तक वह लेपों से उपरत न हो जाए। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए तृतीय अध्ययन के प्रारम्भ में कहा गया है—

> भविदव्वं खलु भो ! सव्वलेवोवरतेणं। लेवोवलित्ता खलु भो जीवा ! अणेग-जम्म-जोणी-भयावत्तं अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चातुरंतं संसारसागरं वीतीकंता सिवमतुलमयलमव्वाबाहमपुणब्भवमपुणरावत्तं सासतं ठाणमब्भु-वगता चिट्ठन्ति।

अर्थात्—मुमुक्षु आत्मा को समस्त लेपों से उपरत होना चाहिए। लेपों से उपलिप्त आत्माएँ अनेक जन्म-योनियों से भयावृत, अनादि, अनव-दग्र (अनन्त—छोर-रहित), सुदीर्घकालभावी, चातुरन्त संसार-सागर में (परिभ्रमण करती हैं) (किन्तु) लेपों से उपरत आत्माएँ इसी संसार सागर को पार करके शिव, अतुल, अचल, अव्याबाध, पुनर्जन्म और पुनरागमन से रहित होकर शाश्वत स्थान (मोक्ष) प्राप्त कर लेती हैं।

आत्मा वै परमेश्वरः, एक चिन्तन

देवल अर्हत्-ऋषि के मुख से यहाँ जैन दर्शन की आत्मा बोल रही है। दूसरे दर्शन जहाँ यह कहते हैं कि साधारण आत्मा कभी परमात्मा नहीं बन सकता, वह साधारण से कुछ विशिष्ट हो सकता है, देव बन सकता है, किन्तु उसका परमात्मा होना असम्भव है। क्या एक नौकर कभी सेठ बन सकता है? नौकर नौकर ही रहेगा, सेठ सेठ ही।

जैनदर्शन कहता है, कि अगर ऐसा ही है कि आत्मा कभी पर-मात्मा नहीं बन सकता, तो फिर इन साधनाओं, महाव्रतों, श्रमणधर्म आदि के व्रत-नियमों अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करने का क्या फायदा है? अतः जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा को आश्वासन देता है, खासकर मनुष्य जाति को कि तुम जीव से शिव, कर्मलिप्त से कर्ममुक्त बन सकते हो। भक्तिरस-गंगा के भगीरथ आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र में स्पष्ट कहा है—

> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
> भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥

भगवन्! विविध गुणों से युक्त आपकी स्तुति करने वाले वे भक्त

भी आपके तुल्य (समकक्ष) हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उस स्वामी से क्या प्रयोजन, जो अपने आश्रित भक्त को अपने समान नहीं बनाता।

यहाँ देवल अर्हतर्षि ने दो प्रकार के आत्माओं की स्थिति का दिग्दर्शन करा दिया है। उसका निष्कर्ष यही है कि लेप से लिप्त आत्माएँ अनन्त, चातुर्गतिक संसार में भटकती रहती हैं, जबकि लेप से रहित हो जाने पर वे संसार सागर को पार करके अव्याबाध शाश्वत मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेती है। भक्ति की भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं—वह संसारी आत्मा से परमात्मा बन जाता है, भक्त से मुक्त भगवान् बन जाता है, ज्योति (आत्मज्योति) परम ज्योति (परमात्मज्योति) बन जाती है।

लेप से उपरत होने का सन्देश

देवल ऋषि प्रस्तुत पाठ में लेप से लिप्त जीवों को सम्बोधित करते हुए आश्वासन की भाषा में कहते हैं—'अनेक जन्म-मरणों के कारण भयावह बने हुए अनादि-अनन्त इस संसार सागर को तुम भी पार कर सकते हो, बशर्ते कि तुम लेप से रहित हो जाओ।

मनुष्यो! ऐसी बात नहीं है कि तुम सदा-सदा के लिए संसारी ही बने रहो। तुम भी एक दिन आत्मा से परमात्मा बन सकते हो। अगर तुम अपनी आत्मा पर लगे हुए लेपों को हटाने का पुरुषार्थ करो तो वह दिन दूर नहीं, जब तुम सर्वथा निर्लिप्त निरंजन निराकार सिद्ध-परमात्मा बन सकते हो।

जैन धर्म इतना उदार धर्म है कि वह स्वतीर्थ, परतीर्थ, (स्वसंघ-परसंघ), स्वलिंग-अन्यलिंग, स्त्री-पुरुष-नपुंसक, गृहिलिंग, आदि पन्द्रह प्रकार से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उद्घोष करता है।

कोई भी दूसरी शक्ति या विभूति तुम्हें तार देगी, या संसार-सागर से पार कर देगी, यह सोचना युक्तिसंगत नहीं होगा। मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से तरता है और अपने ही पुरुषार्थ से डूबता है। कर्मबन्धन और कर्ममुक्ति दोनों उसके हाथ में हैं। तात्विक दृष्टि से सोचें तो आत्मा जब तक विभाव-परिणति में लिप्त है, तब तक वह परमात्मतत्व से दूर है, किन्तु स्वभाव-परिणति में आ जाने पर वह परमात्मतत्व के निकट है, निकट ही क्या, स्वयं परमात्मा है। आत्मा का यह शुद्ध स्वभाव ही परमात्मा है। जब तक आत्मा लेप से युक्त है, तब तक उसका रूप अशुद्ध है, वह संसारी आत्मा है और जब वह लेपरहित हो जाता है, तब विकाररहित निर्लेप,

निरंजन शुद्ध स्वरूप परमात्मा है। निष्कर्ष यह है कि लेपरहित होने पर यह आत्मा ही परम पवित्रता के अन्तिम बिन्दु पर परमात्मा हो जाता है।

जैनधर्म किसी को निराशा और हीन-दीन भावनाओं का शिकार नहीं बनने देता। वह कहता है कि तू भले ही आज लेपों से युक्त है, किंतु पुरुषार्थ करे तो एक दिन लेपों से रहित भी हो सकता है। निराश, हताश और किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनकर मत बैठ, आशा और उत्साह के साथ आगे बढ़ता चल। उत्तराध्ययन सूत्र में साधकों के लिए कहा है—

अदीणमणसो चरे

—वह अदीनभाव को लेकर विचरण करे।

अगर पापी से पापी व्यक्ति परमात्मा न बन सकता तो श्रमण भगवान महावीर अर्जुनमाली जैसे हत्यारे को यही कह देते—"तू कभी संसार सागर से पार नहीं हो सकता, कभी मुक्त नहीं हो सकता।" परंतु उन्होंने ऐसा नहीं कहा, बल्कि अर्जुनमाली को मुनिपद प्रदान करके उसे मुक्त और लेपों से रहित बनने की साधना बता दी। अर्जुनमुनि ने सर्वोत्कृष्ट क्षमाशील और अन्त में समस्त लेपों से रहित बनकर संसार को यह दिखा दिया कि एक उत्कट पापात्मा भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की अप्रमत्त होकर साधना करे तो परमात्मा बन सकता है। स्वयं भगवान् ने अर्जुनमुनि की प्रशंसा की है, उसके जीवन को अभिनन्दनीय बताया है। अगर आत्मा परमात्मा न बन सकता तो भगवान महावीर यही कहते—'अर्जुन तुम कभी परमात्मा नहीं बन सकते।' किंतु भगवान ने अपनी मुक्ति से पहले अर्जुनमुनि की मुक्ति बताई है।

समस्त लेपों से उपरत आत्मा की पहचान

समस्त लेपों से उपरत आत्मा की पहचान और परिभाषा क्या है? इसे जानने के लिए आप उत्सुक होंगे। लीजिए अर्हतर्षि देवल का इस विषय में स्पष्टीकरण—

"लेपोपरत आत्मा समस्त कामों (इच्छाकाम मदनकाम आदि) से रहित होता है, वह सर्वसंग एवं सर्वस्नेह से विरक्त होता है। साथ ही वह समस्त (अशुभ) पराक्रमों से निवृत होकर क्रोध, मन, माया और लोभ के समस्त प्रकारों से दूर रहता है। वह समस्त वासों (निवासस्थानों या वस्त्रों) के परिग्रह से विरत रहता है। वह सभी सावद्य प्रवृत्तियों का संवर (निरोध) करता है। सम्यक् प्रकार से सभी वासनाओं या कामनाओं से वह सर्वोपरत होता है। वह सभी स्थानों (लेप के सभी कारणों) को उपशान्त कर देता है। वह सभी प्रकार से परिबृत—व्याप्त होकर (सभी

के बीच में) रहता है। वह कहीं पर भी आसक्त नहीं होता अर्थात् वह सजीव-निर्जीव सभी के संग (आसक्ति) को त्यागकर निस्संग निर्लेप होता है।"

यह है अर्हतर्षि देवल के शब्दों में लेप-रहित (निर्लेप) व्यक्ति का लक्षण।

महर्षि समस्त साधकों को चेतावनी के स्वर में कहते हैं कि साधको! यह मानव जीवन अत्यन्त अल्प और विनश्वर है, और साधनाकाल तो बहुत ही अल्प है। इसलिए आपको समस्त लेपों (संगों) से रहित होने का सतत पुरुषार्थ करना चाहिये। लीजिए मैं स्वयं संकल्प करता हूँ—

"अतः मैं समस्त लेपों से उपरत होऊँगा।"

कौन व्यक्ति निर्लेप हो सकता है? इस सम्बन्ध में देवल ऋषि कहते हैं—

जस्स एते परिण्णाता, जाति-मरण-बन्धणा।
संच्छिन्न-जाति-मरणा, सिद्धिं गच्छंति णीरया ॥११॥

—जिसे जन्म और मरण के बन्धन परिज्ञात हो चुके हैं, वही परिज्ञात आत्मा (ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) जन्म-मरण के बन्धनों को तोड़कर कर्म-रज से रहित (निर्लेप) हो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुतः बन्धनों का यथार्थ परिज्ञान अर्थात् अनुभवयुक्त ज्ञान होना ही जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अन्यथा अपरिपक्व साधक मौत से भागता है, जन्म से प्यार करता है और स्वर्गादि— वैषयिक सुखों के धाम में जन्म पाने हेतु साधना करता है। किन्तु निःसंग-निर्लेप-स्थितप्रज्ञ आत्मा को न जन्म के प्रति मोह है, न ही मरण से भय है। किन्तु बन्धनों का परिज्ञान करके तोड़ने की दिशा में आगे बढ़ता है।

लेप क्या है? कैसा है?

अब प्रश्न यह है कि लेप क्या है? एक बात प्रारम्भ में सूचित कर दी है कि यहाँ आत्मा पर लगने वाला लेप कोई गारे, मिट्टी या गोबर जैसा द्रव्यलेप नहीं है, किन्तु वह भावलेप है। इसीलिए देवलऋषि कहते हैं—

पाणातिवातो लेवो, लेवो अलियवयणं अदत्तं च।
मेहुणगमणं लेवो, लेवो परिग्गहं च ॥४॥
कोहो बहुविहो लेवो, माणो य बहुविधविधीओ।
माया य बहुविधा लेवो, लोभो वा बहुविधविधीओ ॥५॥

अर्थात—प्राणातिपात (हिंसा) लेप है, असत्यवचन लेप है, अदत्ता-दान और मैथुन-सेवन लेप है, परिग्रह भी लेप है। क्रोध के अनेक रूप हैं, वे सब लेप हैं। माया और मान भी अनेक प्रकार के हैं, वे भी लेप हैं। लोभ भी अनेक प्रकार के हैं, वे भी लेपरूप हैं।

इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जो पाप-कर्म हैं, वे सब आत्मा के लिए लेप हैं।

भावलेप का अर्थ यहाँ दार्शनिक भाषा में आत्मा की विभाव परि-णति है और उसके द्वारा आकर्षित कर्म द्रव्यलेप है। लेप एक प्रकार से आत्मा पर आवरण हैं, कषायादि विकार हैं, अथवा पापकर्म हैं।

कई लोग कहते हैं पापकर्म या विकार के लेप से सर्वथा रहित होना असम्भव है, परन्तु जैनदर्शन कहता है - यह कोई असम्भव बात नहीं है। जैसे एक घी या तेल का बर्तन है, जिसमें से घी या तेल निकाल लेने पर भी थोड़ा-सा घी या तेल का लेप रहता है, उसी प्रकार कर्मों को क्षय करने पर भी थोड़ा-थोड़ा कर्मों का लेप रह जाता है। परन्तु जैसे घी या तेल के बर्तन को तपाकर उसको कपड़े से रगड़कर जो थोड़ी-सी चिकनाई का लेप रह गया है, उसे भी दूर कर दिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों का या कषायों सूक्ष्म लेप रह जाने पर भी बाह्य-आभ्यन्तर तपस्या, धर्मध्यान-शुक्लध्यान, अनुप्रेक्षा, व्रत, नियम, महाव्रत, समिति-गुप्ति के पालन तथा सम्भावपूर्वक परीषह-सहन से शेष रहे सूक्ष्म कर्मों को भी काटा जा सकता है। जिस प्रकार प्रकाशमान होते हुए भी सूर्य पर बादल आ जाने से उसका प्रकाश ढक जाता है, उसी प्रकार आत्मारूपी सूर्य पर पापकर्म के लेपरूपी बादलों के आ जाने से उसका ज्ञानादि प्रकाश आवृत हो जाता है। बादलों के हटते ही सूर्य प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापकर्म लेप रूपी बादलों के हटते ही आत्म-सूर्य अनन्त ज्ञानादि से प्रकाशित हो उठता है। अतः लेप एक प्रकार का भाव-आवरण है।

लेप कब और कैसे लग जाते हैं ?

यह ठीक है कि अठारह प्रकार के पापस्थान लेप हैं और आत्मा इन लेपों से मुक्त होने का पुरुषार्थ करे तो लेप से उपरत भी हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मा मूल में तो लेपरहित, निरंजन, निराकार है, फिर ये लेप उसके कब लग जाते हैं ? मैं एक रूपक द्वारा इसे समझाता हूँ—

एक जगह भाँग घोंटकर लोटे में रखी हुई है। कहते हैं—भाँग नशा चढ़ाती है। परन्तु क्या वह भाँग घोंटी जाने वाली शिला को, लोटे को या

घोंटने वाले व्यक्ति के हाथों आदि को नशा चढ़ा देती है ? ऐसा तो कदापि नहीं होता। किन्तु जब उस भाँग को व्यक्ति पी लेता है, गले से नीचे उतार लेता है, तब वह नशा चढ़ाती है। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि कषाय, वासना तथा हिंसा, झूठ आदि अठारह पापस्थान अपने आप में व्यक्ति के जीवन में कोई विकार या नशा नहीं लाते, न ही ये स्वयं किसी के लिपटते या चिपटते हैं, किंतु जब कोई व्यक्ति राग, द्वेष, काम, क्रोध को या पापकर्मों को अपनाता है, उन्हें शुद्ध आत्मा के साथ लिपटा लेता है, अपना आत्मभाव भूलकर इन विभावों को अपना आत्म-भाव मानकर अपना लेता है; तब वह आत्मा रागद्वेषादि विकारों, कषायों या अठारह पापस्थानों से लिप्त हो जाता है। ये पापकर्म उस आत्मा के लिपट जाते हैं। यही आत्मा पर लेप लगने का रहस्य है।

कोई व्यक्ति शरीर पर तेल चुपड़ ले और फिर जहाँ हवा से धूल उड़ रही हो, वहाँ नंगे बदन खड़ा रहे तो क्या उसके वह धूल नहीं चिप-टेगी ? अवश्य ही थोड़ी ही देर में धूल उसके बदन पर चिपट आएगी। इसी प्रकार जो आत्मा राग, द्वेष, मोह आदि की स्निग्धता से युक्त है, उसके हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्मों की धूल चिपट जाती है। यही आत्मा पर लेप लग जाने का रहस्य है। अर्हतर्षि देवल ने पापकर्म से आत्मा कैसे लिप्त हो जाता है ? इसका रहस्य बताते हुए कहा है—

> सुहुमे वा बायरे वा पाणे जो तु विहिंसइ।
> रागदोसाभिभूतप्पा लिप्पते पावकम्मुणा ॥१॥
> परिग्गहं गिण्हते जो उ अप्पं वा जति वा बहुं।
> गेही मुच्छायदोसेणं लिप्पते पावकम्मुणा ॥२॥
> कोहो जो उ उदीरेइ अप्पणो वा परस्स वा।
> तं निमित्ताणुबंधेण लिप्पते पावकम्मुणा ॥३॥
> एवं जाव मिच्छादंसण सल्लेणं...............।

—राग, द्वेष से अभिभूत आत्मा जब सूक्ष्म या स्थूल किसी प्रकार की हिंसा करता है, तब वह पापकर्म से लिप्त होता है।

—जो साधक थोड़ा या बहुत परिग्रह का ग्रहण करता है, वह गृहस्थों के साथ संसर्ग से आसक्ति दोष के कारण पापकर्म से लिप्त होता है।

जो व्यक्ति अपने या दूसरे के (शांत) क्रोध को पुनः उभारता है, उस निमित्त के अनुबन्ध से आत्मा पापकर्म से लिप्त होता है।

इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पाप-स्थानों के निमित्त से आत्मा पापकर्म के लेप से लिप्त होता है।

जिन कर्मों से आत्मा अशुभबन्ध करती है, वे पाप-प्रवृत्तियाँ पापकर्म कहलाती हैं। वे कुल अठारह हैं। तीन का यहाँ उल्लेख किया गया है। शेष पापस्थानों के नाम इस प्रकार हैं–असत्य, अस्तेय, मैथुन, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन।

इन पापकर्मों के बीजरूप दो पापस्थान हैं–राग और द्वेष। आत्मा इन पाप कर्मों से कैसे लिप्त होता है, इसकी प्रक्रिया बताते हुए ऋषि देवल कहते हैं–आत्मा में जब भी राग-द्वेष के परिणाम आयेंगे, तभी द्रव्यकर्म आकर्षित होते हैं और हिंसा आदि पापस्थानों के निमित्त भी रागद्वेष ही हैं। हिंसा, परिग्रह आदि की वृत्ति भी आत्मा को पापकर्म से लिप्त करने वाली है। साधक की जब पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है, तब वही गृहस्थों के साथ संसर्ग और संग के लिए उसे प्रेरित करती है। जैसे कि देवल ऋषि कहते हैं–

जहा खीरं पधाणं तु मुच्छणा जायते दधिं।
एवं गेहिप्पदोसेण पावकम्मं पवड्ढति ॥८॥

–जैसे श्रेष्ठ दूध भी दही के संसर्ग से दूध के पर्याय को छोड़कर दही बन जाता है, वैसे ही गृहस्थों के संसर्ग-दोष से मुनि भी पापकर्म में लिप्त हो जाते हैं। गृहस्थों के प्रति ममत्व से ही साधक धनसंग्रह करता है और एक के बाद एक पापकर्मों से लिप्त होता जाता है।

कषायों में प्रकट और उत्कट क्रोध कषाय है। कई बार उच्च साधक भी क्रोधादि कषायों को भड़काते हैं। साम्प्रदायिक वैमनस्य, कलह, एक-दूसरे को या दूसरे के सम्प्रदाय को नीचा दिखाने, बदनाम करने, झूठी निंदा करने, वैरभाव को उभारने, आदि चेष्टाएँ भी उच्च कोटि के साधकों द्वारा होती हैं। इस प्रकार आत्मा भयंकर पापकर्मों से लिप्त होती है।

इसके अतिरिक्त लिप्त और अलिप्त का लक्षण तथा फल बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है–

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥

–जो मनुष्य भोगी है–पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में आसक्त है, वही कर्मफल से लिप्त होता है, अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण करता है, जबकि अभोगी–भोगों में अनासक्त संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य जानता है कि धन, परिवार, सत्ता आदि सब नाशवान हैं, फिर भी वह इनके पीछे अपनी शान्ति खोता रहता है, दुनिया भर के दुख-दर्द मोल लेता रहता है।

एक राजा कहीं युद्ध के लिए जा रहा था। रास्ते में एक महात्मा मिल गये। राजा ने महात्मा को नमस्कार किया, महात्मा ने भी पलट कर राजा को नमस्कार किया। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आपने मुझे नमस्कार क्यों किया ?

महात्मा जी ने कहा—आपने मुझे क्यों नमस्कार किया ?

राजा—क्योंकि आप संसार की मोह-माया त्यागकर ईश्वर-भजन में लगे हैं। आप त्यागी हैं।

महात्मा—तुम मुझसे भी बड़े त्यागी हो।

राजा—वह कैसे ?

महात्मा—तुम यह जानते हो कि संसार की मोह-माया झूठी है, फिर भी इसके पीछे पड़कर ईश्वर को छोड़ दिया है, तो बड़ा त्याग किसका हुआ ?

हाँ, तो भोगों को दुःखकारी जानकर भी जो इनमें फँसे रहते हैं, उनको क्या कहा जाय ? ऋषि कहते हैं—

छाछ में गिर कर दूध नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार (विषयों के साथ) राग और द्वेष के मिलने से साधक के ब्रह्मचर्य का तेज समाप्त हो जाता है।

इन लेपों से आत्मा को बचाओ

वस्तुतः पापकर्म में लिपटाने वाले इन पापस्थानों से तथा विषय-भोगों की आसक्ति से साधक को सदैव दूर रहना चाहिए। इनसे सतत सावधान रहना चाहिए। ज्यों ही इनमें से कोई चोर आत्मा में प्रवेश करने लगे, साधक को तुरन्त सावधान हो जाना चाहिए। जैसे जरा-सी असावधानी से बिजली का करंट लग जाता है और उससे तत्काल मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, इसी प्रकार साधक की जरा-सी असावधानी से इनमें से किसी भी पापकर्म का करेंट लग जाता है, और वही साधक की भावमृत्यु है।

अतः आत्मा को परमात्मा—शुद्ध आत्मा का रूप देने के लिए इन लेपों से सतत बचाना अनिवार्य है। □

६

प्रगति का मूलमंत्र : समभाव

साधनामय जीवन के कसकते कांटे

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! हमारे जीवन के मुख्यतया दो रूप हैं—एक ओर शरीर है और दूसरी ओर हमारी आत्मा है।

शरीर जीवन का स्थूल, नाशवान और दृश्यमान रूप है, किन्तु आत्मा उसका सूक्ष्म, अविनाशी और अदृश्य अमूर्त्तरूप है। शरीर से मनुष्य कितना ही बलिष्ठ हो, सुन्दर हो, सुडौल हो और सर्वांगसम्पन्न हो, लेकिन उसकी आत्मा निर्बल, अपवित्र, पतित हो; वह आत्मबल, आत्मविकास और आत्मगुण से दूर हो तो उसका साधनामय जीवन बिलकुल निम्न कोटि का होगा। साधनामय जीवन को परिपुष्ट, सुदृढ़ और सशक्त बनाने के लिए आत्मा को बलिष्ठ, शक्तिसम्पन्न और आत्मगुणों से सुसज्जित बनाना जरूरी है। अगर आत्मा को बलवान बनाना हो तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति जो अहंता और ममता है. जो कुटिलता और माया है और जो निन्दा-प्रशंसा में असमता है, उसे दूर करना होगा। अगर साधनामय जीवन में ये सब हैं, तो समझ लीजिए ये साधना-शरीर में चुभे हुए कसकते तीखे कांटे हैं।

भारद्वाज-गोत्रीय अंगिरस अर्हतर्षि ने चतुर्थ अध्ययन में साधना-शरीर में चुभने वाले इन कसकते तीखे कांटों की ओर संकेत किया है। इनके नाम अंगिरस ऋषि के संकेतानुसार हम यों रख सकते हैं—(१) अहंता-ममता, (२) कुटिलता और माया, तथा (३) निन्दा-प्रशंसा में असमता।

मनुष्य गृहस्थ हो या साधु जब अपना साधना-जीवन प्रारम्भ करता है, तब उसे अपने जीवन में चुभे हुए इन तीनों तीक्ष्ण भाव-कंटकों

को निकाल देना होगा, अन्यथा उसकी साधना आगे चलकर विकृत, दूषित और भारभूत हो जाएगी, उसकी तेजस्विता समाप्त हो जाएगी। साधना की आत्मा निकल जाएगी, केवल क्रियाकाण्डों के खोखे रह जाएँग।

जिन साधकों के जीवन में तेजस्विता और दीप्ति खत्म हो जाती है, उनके जीवन में केवल शुष्क क्रियाकाण्ड रह जाते हैं। कहा जाता है—बंगाल में बाउलसंत हो गए हैं। उन्होंने अपने पीछे आने वाले साधकों के हाथों में प्रकाशमान मशाल थमा दी और वे चले गए। परन्तु जब वह मशाल बुझने लगी तो साधकों ने उसे प्रज्वलित नहीं की, फलतः वह बुझ गई। वही बुझी हुई मशाल वे अपने अनुगामी साधकों के हाथों में थमा गए। अत: उन्होंने उस बुझी हुई मशाल को तो फेंक दी, किन्तु मशाल में लगा हुआ वह डंडा हाथ में पकड़ लिया। आज बाउलसन्त के अनुगामियों के हाथ में शुष्क क्रियाकाण्ड के प्रतीक वे डंडे ही रह गए हैं। साधना की तेजस्वी और प्रकाशमयी जो मशाल थी, वह नहीं रही।

इस रूपक का रहस्य यह है कि साधना की मशाल को तेजस्वी एवं प्रकाशित रखने के लिए अहंता और ममता, माया और कुटिलता, निन्दा और प्रशंसा में असमता, आदि तीन जोड़े वस्तुतः साधक के विकास के लिए भयंकर रोड़े हैं, जब तक इन तीनों के प्रभाव को निर्मूल नहीं किया जाएगा, तब तक साधक आगे नहीं बढ़ पाएगी। न ही उस साधक की साधना में कोई दिलचस्पी रहेगी। वह केवल चारित्ररूपी चन्दन का भार ढोने वाला गधा रह जाएगा।

सर्वप्रथम कण्टकयुगल : अहंता-ममता

इन तीनों कण्टक-युगलों में सर्वप्रथम कांटों का जोड़ा है—अहंता-ममता। अहंता का परिवार भी बहुत बड़ा है और ममता का भी। ये दोनों युगल परिग्रहरूपी विषवृक्ष की जहरीली बेलें हैं। जब तक इन दोनों को उखाड़ा नहीं जाएगा, तब तक ये साधना की जड़ों को खोखली बनाते रहेंगे। अंगिरस ऋषि कहते हैं—

> आयाण-रक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणती।
> असाहुकम्मकारी खलु अयं पुरिसे ॥

—आदान-रक्षी (आदान—ग्रहणरूप परिग्रह का रक्षक) मानव दूसरी कोई बात जानता ही नहीं। ऐसा पुरुष वस्तुतः असाधुकर्म (साधना से विपरीत अशुभकर्म) करने वाला है।

अंगिरस ऋषि ने यहाँ केवल 'परिग्रह' की ओर संकेत किया है।

उनके कहने का भावार्थ यह है कि जो ममतापूर्वक केवल ले-लेकर रखना ही जानता है, उसे किसी भी व्यक्ति के सुख दुःख की परवाह नहीं रहती।

परिग्रह का प्रथम रूप इच्छा है। फिर इसके आकांक्षा, अहंता-ममता, मूर्च्छा, लालसा, तृष्णा आदि विविध रूप प्रकट होते हैं। पहले मनुष्य इच्छाओं का जाल बिछाता है, फिर आकांक्षापूर्वक अभीष्ट वस्तु का संग्रह करता है, फिर संग्रह की हुई वस्तु पर अहंता-ममता करता है। आप सब जानते हैं कि इच्छाओं के भार से दबा हुआ व्यक्ति उपार्जन, संग्रहण और रक्षण के अतिरिक्त दूसरी बात जानता ही नहीं। वह अहर्निश आशाओं व इच्छाओं के पंख लगाकर पुनः-पुनः पापकर्मों के लिए प्रेरित होता है। क्या आप जानते हैं, ऐसे व्यक्ति की क्या दशा होती है ? ऐसा व्यक्ति अहंता और ममता के ग्रहण, रक्षण और संग्रह के वशीभूत होकर कर्तव्य-अकर्तव्य को, हिताहित को एवं कल्याण-अकल्याण को भूल जाता है और परिग्रह के लिए नाना प्रकार के पापकर्म करता है।

बगदाद के खलीफा के यहाँ हसन नामक एक लोभी प्रकृति का व्यक्ति नौकर था। सरकारी नौकरी से प्रचुर धन कमाने के बावजूद भी उसकी धनलिप्सा शान्त नहीं हुई। वह धन जोड़-जोड़ कर रखता जाता, मामूली खा-पीकर गुजारा चलाता। धन के लालची हसन ने एक दिन अपनी बीबी फातिमा से कहा—"तुम बाजार में जाओ और करुण स्वर में पुकार कर कहो—'मेरे पति को खलीफा ने कैद कर लिया है।' ऐसा करने से लोग तुम्हारे प्रति हमदर्दी बताएँगे, तुम्हें रोटी-कपड़े की मदद कर देंगे। मैं रात को घर आ जाया करूँगा।"

फातिमा ने इस तरीके से धन बटोरना शुरू कर दिया। धन बढ़ने के साथ-साथ हसन में कंजूसी भी बढ़ती गई। वह अपनी संग्रहवृत्ति की हविश को पूरी करने के लिए खलीफा के महल से प्रतिदिन एक हीरा चुरा कर लाने लगा। एक दिन हसन से उसकी बीबी ने पूछा—"इतने हीरों का क्या करोगे ?" हसन बोला—"हम इन हीरों को सोने के सिक्कों में बदलवा कर बगदाद से बहुत दूर भाग जाएँगे। फिर चैन से जिंदगी काटेंगे।"

मगर एक दिन हसन चोरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया। उसे गिरफ्तार करके खलीफा के सामने पेश किया गया। खलीफा ने अदालत का फैसला सुनाते हुए कहा—"बाजार में तुम्हारी बीवी राजमहल से चुराया हुआ हीरा बेचती हुई पकड़ी गई। तुम चोरी करते पकड़े गए। इससे साफ जाहिर है कि तुम चोर हो। तुम्हारे पास धन की कमी नहीं

है। परन्तु तुमने धन का दुरुपयोग किया। व्यापारियों, सम्बन्धियों और मुझे ठगने के अपराध की सजा यह है कि तुम्हें सिर से पैर तक पीटा जाए और राजमहल में चोरी करने के अपराध में तुम दोनों को शूली पर चढ़ा दिया जाए।"

सजा सुनकर हसन और फातिमा दोनों घिघियाने लगे। इससे खलीफा को उन पर रहम आ गया। उन्होंने हुक्म दिया कि 'बेईमानी और धोखेबाजी से कमाये हुए धन को इन दोनों के गले में बाँध कर इन्हें अपने घर पहुँचाया जाए।'

इसके बाद खलीफा ने सारे शहर में घोषणा करवा दी कि 'कोई भी व्यक्ति इन दोनों को धन के बदले खाने-पीने और पहनने का सामान न दे। जो व्यक्ति इस हुक्म का पालन नहीं करेगा, उसे फाँसी की सजा दी जाएगी।'

घर आने पर हसन और उसकी बीबी बहुत ही खुश थे कि धन भी मिला और जान भी बची। पर दो-चार दिनों में उन्होंने सोने के कुछ सिक्के देकर खाने-पीने का सामान खरीदना चाहा, परन्तु सभी दुकानदारों ने उन्हें सौदा देने से साफ इन्कार कर दिया। जब उन्हें कुछ भी सामान नहीं मिला तो हैरान होकर वे पुनः खलीफा की अदालत में हाजिए हुए। उन्होंने सारी सम्पत्ति खलीफा के चरणों में रख कर उनसे विनम्र प्रार्थना की –"हजूर! हमारी यह सम्पत्ति लेकर जरूरतमन्दों में बाँट दीजिए ताकि रैयत को यह ज्ञात हो जाए कि दौलत को दबाकर रखने से नहीं, किन्तु सदुपयोग करने से सुख मिलता है।"

धन पर अहंता-ममता की छाप जब लग जाती है तो व्यक्ति सबके सामने प्रशंसा करता है –"मैंने ही इतना धन कमाया है। यह मेरा धन है।" इस प्रकार संग्रह करके मनुष्य स्वयं दुःखी होता रहता है, परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति द्रोह करता है, उसकी अपकीर्ति होती है, राजदण्ड भी मिलता है। राजस्थान में एक कहावत है—

खा गया सो खो गया।
दे गया सो ले गया।
जोड़ गया सिर फोड़ गया॥

वास्तव में, धन का अनाप-शनाप संग्रह ही सबसे अधिक सिरदर्द है। वह यहाँ भी कष्ट देता है, परलोक में भी त्रास देता है और वर्तमान में भी फजीहत होती है। ऐसे धन को जोड़-जोड़ कर रखने और रात-दिन उसके रक्षणादि में ही लगे रहने वाले मम्मण सेठ की क्या दशा हुई थी? वह

चैन से खा-पी भी नहीं सकता था। परिग्रह में आकण्ठ डूबा हुआ मम्मण सेठ कुछ भी तो साधना नहीं कर सका, क्योंकि उसका लक्ष्य भौतिक था, आध्यात्मिक कतई नहीं।

दूसरा कण्टक युगल : कुटिलता और माया

साधना के मार्ग में दूसरा कण्टक-युगल है कुटिलता और माया। माया और कुटिलता का सम्बन्ध हृदय से है। ऐसा मनुष्य शरीर से सुन्दर, सुडौल, सुरूप और समतौल दिखाई देता है, परन्तु उसके हृदय में कुटिलता, वक्रता, माया, छल-कपट या टेढ़ापन या दम्भ होता है। जिस हृदय में कुटिलता होती है, उसकी प्रतिच्छाया वचन पर भी पड़ती है, और व्यवहार पर भी। अर्थात् --उसके वचन में भी वक्रता होगी, और व्यवहार में भी दम्भ या छल-छद्म होगा।

अर्हतर्षि अंगिरस ने ऐसे व्यक्ति के कुटिल व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कहा है —

> अण्णहा स मणे होइ, अन्नं कुणंति कम्मुणा।
> अण्णमण्णाणि भासंते, मणुस्स गहणे हु से ॥

—जिनके मन में कोई दूसरी बात है, कार्य वे कुछ और ही करते हैं और वचन से इन दोनों से भिन्न ही बोलते हैं, ऐसे मनुष्य अत्यन्त गहन (दुर्विज्ञात) होते हैं। ऐसे लोगों के लिए कहा गया है—

> तन उजला मन साँवला, बगुला कपटी भेख।
> यासूं तो कागा भला, बाहर अंदर एक ॥

नीतिकार दुरात्माओं और सच्चे महात्माओं को पहचानने की एक कसौटी बताते हुए कहते हैं—

> मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कार्ये अन्यद् दुरात्मनाम्।
> मनस्येकं वचस्येकं, कार्ये एकं महात्मनाम् ॥

—दुरात्माओं के मन में कुछ और होता है, वचन में कुछ और है, तथा कार्य में कुछ तीसरी ही बात होती है, जबकि महात्माओं के मन में भी वही है, वचन में भी वही होती है और कार्य में भी वही एक बात होती है।

महात्मा और दुरात्मा की पहचान बाहर की वेशभूषा, चेहरे या शरीर के डीलडौल से नहीं होती। उसकी परीक्षा या पहचान सर्वप्रथम हृदय से, फिर वाणी और कार्य से होती है। अर्हतर्षि अंगिरस ने परीक्षा का माध्यम उस व्यक्ति के साथ 'संवास' को बताया है —

णासंवसता सक्कं, सीलं जाणित्तु माणवा।
परमं खलु पडिच्छन्ना, मायाए दुट्ठमाणसा ॥

—(अच्छे-बुरे) मनुष्यों के (शील) स्वभाव को उनके साथ रहे बिना जाना नहीं जा सकता, क्योंकि दुष्ट-प्रवृत्ति के मानव माया से ढके रहते हैं।

इसीलिए अंगिरस ऋषि ने आगे कहा कि दीवारों पर अंकित सूत्र और काष्ठ पर आलेखित चित्र जितने सुविज्ञात हैं, उतना ही गहन और दुर्विज्ञात मानव का हृदय है।

ऐसे वक्र हृदय वाला व्यक्ति बड़ी सफाई के साथ अपने दोषों को छिपाये रखता है। वह निःशंक रहता है कि इस घटना को केवल मैं ही जानता हूँ, दूसरा कोई नहीं। ऐसा मायावी साधक 'पंचतंत्र' में अंकित उस गधे के समान है, जिसे बाघ का चमड़ा ओढ़ा दिया था। वह कहानी इस प्रकार है –

एक गधे के मालिक ने सोचा—'इस गधे को रोज-रोज काफी खिलाना पड़ता है। गाँव के बाहर किसानों के खेत अनाज से लहलहा रहे हैं, वहाँ किसी भी खेत में बाघ का चमड़ा ओढ़ाकर छोड़ दिया जाए तो छक कर चर लेगा और वापस चला आएगा। इससे किसान भी इससे डर कर निकट नहीं जाएँगे, न ही इसे खदेड़ सकेंगे।' उसी दिन रात्रि में गधे को बाघ का चमड़ा ओढ़ाकर एक खेत में छोड़ दिया। गधा खूब मस्ती से चरने लगा। सुबह होते ही किसान आए तो वे खेत में घुसे हुए व्याघ्र जैसे जानवर को देखकर घबरा गए। एक चतुर किसान ने गौर से देखा तो शक हुआ कि हो न हो यह कोई दूसरा जानवर हो, क्योंकि बाघ होता तो वह हरी पत्ती खाता ही नहीं। चलो, लाठी लेकर चलें। सब किसान मिलकर खेत में घुसे और उस गधे को खदेड़ने लगे। एक ने उसकी पीठ पर लट्ठ जमाया तो ढेंचू-ढेंचू करता हुआ वह भागा। सबने समझ लिया यह बाघ का चमड़ा ओढ़ा हुआ गधा है।

ऐसे ही कई कपटी साधक होते हैं, जिनका बाहरी रूप कुछ दूसरा होता है, भीतरी रूप कुछ और। अर्थात्– बाहरी सिक्का तो पूर्ण आत्म संयमी साधक का रहता है और भीतरी सिक्का खराब होता है।

ऋषि कहते हैं—

अदुवा परिसामज्झे, अदुवा विरहेकडं।
ततो निरिक्ख अप्पाणं, पावकम्मा णिरुम्भति ॥८॥

-जिसका मन त्याग की ओर आकर्षित नहीं है, ऐसा साधक सभा में बैठता है, तब उसका रूप दूसरा होता है, और एकान्त में होता है, तब कुछ और ही रूप होता है। इसके विपरीत सच्चा साधक अपना आत्म-निरीक्षण करके अपने आपको पापकर्म से रोकता है।

यह मायावी साधक के जीवन का बहुरूपियापन है कि जनता के सामने दूसरा रूप रखना और उसके दूर होते ही दूसरा रूप अपनाना। यह मायाचार जीवन को ले डूबता है। वह साधक अपने और समाज के प्रति ईमानदार नहीं है, जो जनता के देखते तो अपनी चर्या संयमी जैसी बना लेता है किन्तु उसके दृष्टि से हटते ही अपना रूप और तर्ज बदल लेता है। दुनिया की आँखें देखें या न देखें, साधक की अपनी आँखें तो उसे देख रही हैं। भगवान् महावीर ने साधक के लिए कहा है--

"से गामे वा नगरे वा, दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा ...... ।"

— वह भिक्षु या भिक्षुणी छोटे-से गाँव में हो, या बड़े शहर में हो, वन के सूने एकान्त में अकेला हो, या हजारों के बीच परिषद् में बैठा हो, सोता हो, या जागता हो ... उसकी साधना की धारा सदैव एक रूप में बहनी चाहिए।

माया के कटुफल

माया के कुटिल पंजों में पड़कर मानव अपने वास्तविक जीवन का गला घोंटने लगता है, अंदर और बाहर का मायामय भेद उसके मन के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। धर्मस्थान में मायावी व्यक्ति का रूप धार्मिक दिखाई देगा, परन्तु उस व्यक्ति को दुकान में या घर में अथवा अन्य किसी स्थान में देखेंगे तो शायद वह आपको माया और दम्भ की घिनौनी प्रवृत्तियों से घिरा हुआ प्रतीत होगा। आप पूछेंगे, ऐसा क्यों होता है? वास्तव में माया का अर्थ ही है—सत्य को छिपाना। जहाँ माया होती है, वहाँ दम्भ, आडम्बर, थोथा प्रदर्शन, आवरित असत्य होता है। मायावी मानव जिस रूप में है, उससे दूसरे रूप में स्वयं को दिखाता एवं समझाता है। जहाँ सत्य को छिपाने का ही दुर्लक्ष्य हो, वहाँ मनुष्य को आत्मोन्नति की राह कैसे मिल सकती है, वह जन्म-मरण के बंधनों को, शुभाशुभ कर्म की जंजीर को कैसे काट सकता है? क्योंकि माया के फलस्वरूप उसे अनन्त बार गर्भ में आना पड़ता है। माया करने वालों के लिए शास्त्र में बहुत ही कटुफल बताया है। एक कवि ने कहा है—

जो माया करे उसे रोना पड़ेगा ।
रोना पड़ेगा, दुःख ढोना पड़ेगा, नारी होना पड़ेगा ।
पापों का प्रेमी माया करेगा,
प्रपंचों से वह तो जरा न डरेगा ।
कहेगा सही, किन्तु करेगा नहीं,
उसको पाखण्ड ढोना पड़ेगा ।''' रोना पड़ेगा ॥

पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में भी माया का फल बहुत कड़वा माना गया है। 'माया मित्ताणि नासेइ' कहकर भगवान् ने कहा है, कि जिसमें माया होती है, उसके प्रति अविश्वास बढ़ता जाता है। अविश्वास के कारण मायावी के साथ मित्रता टूट जाती है। विश्वासघातक होने के कारण मायावी मनुष्य को आगामी जन्म में स्त्रीपर्याय मिलती है। तीर्थंकर भगवती मल्लिनाथ का पूर्वभव इस तथ्य का साक्षी है। पूर्वभव में वे एक साधु थे और अन्य साधुओं के साथ-साथ वे भी आत्मशुद्धि एवं कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करते थे। कर्ममुक्ति की दृष्टि से तप जैसे पवित्राचरण के साथ-साथ मल्लिनाथजी के जीव ने कपट का आचरण शुरू कर दिया, इस विषम भाव से कि अपने साथियों से बढ़कर फल प्राप्त कर सकें। इस जरा-से कपटाचरण के फलस्वरूप उन्हें स्त्रीलिंग प्राप्त हुआ। इससे भी आगे बढ़कर कहूँ तो माया एवं गूढ़माया करने वाले मानव को तिर्यञ्चयोनि मिलती है। तत्वार्थ सूत्र में कहा है—

'माया तैर्यग्योनस्य' (६/१७)

माया, गूढ़माया, कपट, छल-छद्म, दम्भ आदि सब तिर्यंन्चगति में निकृष्ट योनि के कारण हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी माया का बहुत कड़वा फल बताया है। यह तो स्पष्ट है कि माया के मैल में लिपटा हुआ मन अपनी निर्मलता को खो देता है, छलों की आंधियों में वह प्रकाशहीन बन जाता है, अस्थिर और अशान्त बन जाता है। जैसे— मनभर दूध में खटाई पड़ते ही वह फट जाता है, इसी प्रकार एक कपट से हजारों सत्य का नाश हो जाता है। जहाँ कपट होगा, वहाँ आलोचना—आत्मा पर लगी हुई अशुद्धियों का प्रकटीकरण—शुद्ध नहीं होगी, न ही प्रतिक्रमण, निन्दना एवं गर्हणा होगी। ऐसी स्थिति में आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। अंगिरस ऋषि कहते हैं—

दुप्पचिण्णं सपेहाए, अणायारं च अप्पणो।
अणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पति ॥६॥

— (अपनी दुर्वासना से अर्जित) दुष्प्रचीर्ण कर्म और अपने अनाचार के प्रति देखता हुआ भी जो जान-बूझकर उपेक्षा करता है तथा (शुद्ध हृदय

न होने से) धर्म के लिए सदैव अनुपस्थित (अनुद्यत) रहने वाला व्यक्ति जीवन की सन्ध्यावेला में पश्चाताप करता है।

क्योंकि वह शुद्ध आलोचना आदि नहीं कर पाता। आलोचना आदि के अभाव में वह साधु आराधक नहीं, विराधक होता है।

व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि जो कपट सहित आलोचना करता है, उसे दुगुना प्रायश्चित्त आता है। एक तो दोष-सेवन का और दूसरा कपट करने का। माया से मिश्रित आलोचना साधक-जीवन को पतन की राह पर ले जाती है। वह धर्म से कोसों दूर हो जाता है। भगवान् महावीर ने आत्मशुद्धि के साधनरूप धर्म के स्थायित्व का रहस्य बताते हुए कहा है—

'सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।' (उत्तरा ३/१२)

—जिसका मन-वचन-काय सरल है, जिसका हृदय ऋजुभूत है, उसी की आत्मशुद्धि होती है। और शुद्ध आत्मा में ही धर्म का स्थायी निवास होता है।

सरलता से युक्त अपने श्रेष्ठ आचार के प्रति सतर्क और धर्म में सुप्रतिष्ठित रहने वाला साधक सदा आनन्दित रहता है, उसे जीवन के सन्ध्याकाल में पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता।

तृतीय कण्टक युगल : निन्दा-प्रशंसा में असमत्व

साधना के पथ में आगे बढ़ने वाले साधक को कभी प्रशंसा के फूल मिलते हैं, तो कभी निन्दा के शूल मिलते हैं। कच्चे साधक प्रशंसा मिलने पर राग से और निन्दा होने पर द्वेष से ग्रस्त हो जाते हैं, वे निन्दा और प्रशंसा के समय दीर्घदृष्टि से विचार करके समता की पगडंडी पर स्थिर नहीं रह सकते। इस सम्बन्ध में साधक को मार्गदर्शन देते हुए अंगिरस अर्हतर्षि कहते हैं—

नरं कल्लाणकारिं पि, पावकारिति बाहिरा।
पावकारिं पि ते बूया, सीलमंतो त्ति बाहिरा ॥१३॥
चोरं पि ता पसंसंति, मुणीवि गरिहिज्जती।
ण से एत्तावताऽचोरे, ण से इत्तवताऽमुणी ॥१४॥
णण्णस्स वयणा चोरे, णण्णस्स वयणा मुणी।
अप्पं अप्पा वियाणाति, जे वा उत्तम णाणिणो ॥१५॥
जइ मे परो पसंसाति, असाधुं साधुमाणिया।
न मे सातामए भासा, अप्पाणं असमाहितं ॥१६॥

जति मे परो विगरहाति, साधुं संतं निरंगणं ।
ण मे सक्कोसए भासा, अप्पाणं सुसमाहितं ॥१७॥
जे उलूका पसंसंति, जं वा निंदंति वायसा ।
निंदा वा सा पसंसा वा, वायुजालेव्व गच्छति ॥१८॥
जं च बाला पसंसंति, जं वा णिंदंति कोविदा ।
णिंदा वा सा पसंसा वा, पप्पाति कुरुए जेगे ॥१९॥

बाहरी दृष्टि वाले कल्याणकारी आत्मा को भी पापकारी बतलाते हैं और अन्तस्तल तक न पहुँचने वाले लोग शीलवान् (सदाचारी) को भी दुराचारी कह डालते हैं ॥१३॥

स्थूलदृष्टि जनता कभी चोर की भी प्रशंसा कर देती है और मुनि को भी घृणा मिलती है। किन्तु इतने मात्र से चोर साधु नहीं बन जाता और न ही सन्त असन्त बनता है ॥१४॥

किसी के कहने मात्र से कोई चोर नहीं बन जाता और कहने पर से कोई सन्त नहीं बन जाता। मनुष्य अपने आपको या तो स्वयं जानता है, या उत्तमज्ञानी (सर्वज्ञ) उसकी वृत्तियों को जानते हैं ॥१५॥

यदि मैं असाधु हूँ और दूसरा साधु मानकर मेरी प्रशंसा करता है, किन्तु मेरी आत्मा समाधिस्थ (सुखसाता में) न हो तो प्रशंसा की मधुर भाषा मुझे समाधिस्थ नहीं बना सकती ॥१६॥

यदि मैं निर्ग्रन्थ हूँ और जनता मेरी अवमानना करती है तो निन्दा की वह भाषा मुझ में आक्रोश नहीं पैदा कर सकती, क्योंकि मेरी आत्मा सुसमाधि में स्थित है ॥१७॥

उल्लू जिसकी प्रशंसा करें और कौए जिसकी निन्दा करें, वह निन्दा या प्रशंसा दोनों ही हवा की भाँति उड़ जाती है ॥१८॥

अज्ञानी जिसकी प्रशंसा करता है और विद्वान् जिसकी निन्दा करता है। ऐसी निन्दा और प्रशंसा इस छली दुनिया में सर्वत्र उपलब्ध है ॥१९॥

वस्तुतः अपनी अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध में या अच्छे और बुरे कर्मों के सम्बन्ध में आत्मा स्वयं ही अपना गवाह है। दूसरा व्यक्ति किसी के अच्छे और बुरे कर्मों को जान नहीं सकता। अपनी अच्छाई और बुराई का नाप-तौल व्यक्ति स्वतः जितना कर सकता है, उतना दूसरा नहीं। अतः स्थूल दृष्टि वाली दुनिया के द्वारा की गई निन्दा और प्रशंसा के गज से अपनी अच्छाई और बुराई को साधक न नापे; क्योंकि दूसरे को नापने में दुनिया के गज गलती भी कर सकते हैं।

दुनियाँ सिर्फ बाहर को देखती है और बाहर से जिसका जीवन घृणास्पद दिखाई दे रहा है, उसके ऊपर का कठोर आवरण हटाने पर अन्तर् में करुणा और मैत्री का मधुर झरना बहता हुआ मिल सकता है और दुनिया की नजरों में जो सन्त है, उसके ऊपरी आवरण को हटाने पर भीतर में वह चोर भी निकल सकता है। अतः किसी के कहने मात्र से जो साधक फिसल जाता है, प्रशंसा से फूल जाता है, निन्दा से उद्विग्न हो जाता है, निन्दा और प्रशंसा के क्षणों में समभाव नहीं रख सकता, वह साधना के अवसर को खो देता है। ऐसे समय में उसे सन्तुलित और सुसमाधिस्थ होकर सोचना चाहिए कि मैं यदि संयम से रहित साधु हूँ तो स्वार्थ या अन्धश्रद्धा से प्रेरित व्यक्ति द्वारा चढ़ाए हुए श्रद्धा के सुमन या सम्मान के पुष्प मुझे साधु के रूप में बदल नहीं देंगे, न ही सच्चे निर्ग्रन्थ की किसी के द्वारा की हुई निन्दा या अवमानना उसे समभाव से विचलित कर सकती है। यदि निन्दा और प्रशंसा में साधक की जीवन-तुला सम नहीं रहती है, तो उसकी साधना में यह कसकता कांटा चुभा हुआ है।

यदि साधक में समभाव है तो प्रशंसा के फूल उसके मन में गुदगुदी नहीं पैदा कर सकते और न ही निन्दा के शूल उसके मन में टीस पैदा कर सकते हैं। दुनिया की आलोचनाएँ उसे अपने मार्ग से हटा नहीं सकती।

एक रूपक द्वारा अंगिरस ऋषि इस तथ्य को समझाते हैं– उल्लू प्रकाश की निन्दा और अन्धकार की स्तुति करता है, कौआ रात्रि की निन्दा और दिन की प्रशंसा करता है, यह निन्दा और प्रशंसा वस्तु की अच्छाई और बुराई के प्रति नहीं है, अपितु अपनी स्वार्थ-पूर्ति अंधेरे में होती देख उल्लू रात्रि की प्रशंसा करता है और कौआ अपने स्वार्थ की क्षति होती देख रात की निन्दा करता है। मतलब यह है कि जिस निन्दा या प्रशंसा के पीछे केवल स्वार्थयुक्त ममत्व है, वे दोनों ही तथ्य-विहीन हैं।

अज्ञानी और भोली जनता सत्य से अनभिज्ञ रहने के कारण अन्ध-श्रद्धा में पलती है, उससे प्रशंसा प्राप्त कर लेना आसान है। विद्वानों के जगत् में प्रशंसा उतनी सस्ती नहीं है, क्योंकि वे भावुक नहीं होते, उनमें दूसरों की प्रशंसा को पचाने की क्षमता भी कम होती है। अतः साधक को गहराई से विचार करना चाहिए कि इस मायाशील विश्व में निन्दा और प्रशंसा कदम-कदम पर मिलती हैं, उसे दोनों स्थितियों में समता रखनी है, मन में असमता नहीं आने देनी है।

दुनिया की आलोचना से क्षुब्ध न हो

कोई भी मानव सारी दुनिया को प्रसन्न नहीं कर सकता। सूर्य सब को प्रकाश देता है, फिर भी उल्लू उसकी बुराई करेगा ही। अंगिरस ऋषि प्रत्येक साधक को स्थितप्रज्ञ होने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

> वदतु जणे जं से इच्छियं, किण्णु कलेमि उदिण्णमप्पणो।
> भावित मम णत्थि एलिसे, इति संखाए न संजलामहं॥

"कोई भी व्यक्ति चाहे जो कुछ बोल सकता है, मैं अपने आपको उद्विग्न क्यों करूँ ? मुझसे वह सन्तुष्ट नहीं है, यही समझकर मैं कुपित नहीं होता।"

वास्तव में, जिसके स्वार्थ को ठेस लगेगी, वह अवश्य आलोचना करेगा। उस स्थिति में साधक अपना मानसिक सन्तुलन न खोए। वह यह सोचे कि दुनिया चाहे जो कुछ बोल सकती है। यदि मैं संयम और साधना के प्रति वफादार हूँ तो मुझे इन आलोचनाओं से घबराना नहीं चाहिए। मेरे द्वारा किसी की स्वार्थ सिद्धि नहीं हो रही है, अथवा मेरा आचरण उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं है, इसलिए वह मेरे प्रति क्षुब्ध है, फिर मैं उसके द्वारा की गई आलोचना से उद्विग्न होकर अपनी शान्ति क्यों भंग करूँ ?

वस्तुतः दुनिया में सबकी आलोचना होती है। सच्चा साधक आलोचना सुनकर उद्विग्न नहीं होता। पुराने सन्त एक कहानी सुनाया करते थे—

पिता और पुत्र एक गधा साथ में लेकर किसी दूर के गाँव में जा रहे थे। रास्ते में जब पहला गाँव आया तो दोनों को पैदल चलते देख कुछ लोगों ने मजाक की—'कितने मूर्ख हैं, ये दोनों ? सवारी होते हुए भी पैदल चल रहे हैं।' उनकी आलोचना सुनकर बेटे ने कहा—"पिताजी! आप बूढ़े हैं, अतः आप गधे पर बैठ जाइए। मैं पैदल चलता हूँ।"

'अच्छा बेटा!', यों कहकर बूढ़ा पिता गधे पर बैठ गया। अगला गाँव आते ही लोगों ने फिर आलोचना शुरू की—"देखो! इस बूढ़े में अपने छोटे बच्चे के प्रति जरा भी प्यार नहीं है। स्वयं गधे पर चढ़ा चल रहा है और बच्चे को पैदल चला रहा है।" यह सुनकर बूढ़ा स्वयं उतर गया और बच्चे को बिठा दिया। कुछ ही दूर आगे बढ़े होंगे कि अगले गाँव के कुछ आदमी इन्हें देखकर बोले—"हाय! घोर कलियुग आ गया है। देखो, बेचारा बूढ़ा बाप घिसटता हुआ चल रहा है और जवान बेटा

गधे पर चढ़ा हुआ है। जरा भी शर्म नहीं आती।" यह सुनकर बाप-बेटा दोनों गधे पर बैठ गए। इससे अगला गांव आया तो लोग तीखी आलोचना करने लगे—"देखो, देखो! ये कितने निर्दय हैं। बेचारा एक अबोल सीधा-सादा प्राणी है, उस पर ये दोनों पट्ठे जम गए हैं, मार डालेंगे, बेचारे को।" यह आलोचना सुनते ही दोनों गधे से उतर पड़े और पुनः दोनों गधे को आगे करके पैदल चलने लगे।

तो, यह है दुनिया द्वारा की गई आलोचना के समय समत्व भंग होने का परिणाम। इसीलिए महर्षि अंगिरस कहते हैं—

जो जत्थ विज्जती भावो, जो वा जत्थ ण विज्जती।
सो सभावेण सव्वोवि, लोकम्मि तु पवत्तती ॥२०॥
विसं वा अमृतं वा वि, सभावेण उवट्ठितं।
चंदसूरा मणी जोती, तमो अग्गी दिवं खिती ॥२१॥

—जो भाव जहाँ उपलब्ध है, या जो भाव जहाँ नहीं है, यह सद्भाव या अभाव, सब कुछ लोक में स्वाभाविक ही है ॥२०॥

—दुनिया में अमृत भी है, विष भी है। चन्द्र और सूर्य, अंधकार और प्रकाश, मणि और अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी, सब कुछ स्वभाव से ही उपस्थित है ॥२१॥

बन्धुओ!

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभाव में स्थित है। हमारे चाहने या न चाहने से किसी का सद्भाव या अभाव नहीं हो जाता। संसार में अंधेरा भी अनन्त काल से है और प्रकाश भी, अमृत भी अनादि है, विष भी। साधक को इष्ट-अनिष्ट के पचड़े में नहीं पड़ना है। उसे सीधी राह पर अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाना चाहिए तथा इन कांटों में उलझना नहीं चाहिए, सदा-सर्वदा समभाव में रहना चाहिए। यही साधक की प्रगति का मूल मंत्र है। □□

७

अहंकार-विजय के सूत्र

मेरे प्यारे श्रोताओ !

आपसे एक बात पूछूँ – यदि कोई पंडित नहा-धोकर, साफ सुथरे कपड़े पहनकर, चारों तरफ गंगाजल छिड़ककर, चौका लगाकर खाना बनाने बैठे और खाने में बनाता हो गंदी वस्तुएँ (मांस आदि) तो आप उसकी बाहरी सफाई को क्या कहेंगे ? बाहर पवित्रता और भीतर अपवित्रता। इस नाटक को क्या समझेंगे ?

इसी प्रकार आप कपड़े बदलकर मुखपत्ती लगाकर सामायिक करने लगें या हम मुखपत्ती ओघा धारण करके, साधु का बाना पहनकर क्रोध, अहंकार, दंभ, ईर्ष्या, ममता, वासना आदि अपवित्र विचारों को मन में छुपाकर रखें तो आप क्या कहेंगे ? महज एक नाटक ; ढोंग ! क्योंकि जब तक भीतर में पवित्रता नहीं आती बाहरी पवित्रता का कोई महत्व नहीं। इसलिए साधक-जीवन में अन्तर् की पवित्रता पर जोर दिया गया है। बाहर से आप कितने ही क्रियाकाण्ड कर लें, प्रतिक्रमण, पौषध, सामायिक या व्रत-प्रत्याख्यान कितने ही कर लें, किन्तु अन्तर् में पवित्रता नहीं है, वहाँ क्रोध और अहंकार अपना अड्डा जमाए बैठे हैं तो बाह्य क्रियाओं का कोई मूल्य नहीं है।

अहंकार के नये पैंतरे

जैसे एक अंक के अभाव में हजारों शून्यों का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार आन्तरिक पवित्रता के बिना बाह्य आचार का कोई भी मूल्य नहीं है। जो क्रियाकाण्ड केवल काया से किया जाता है, जिसके साथ मन के तार जुड़े हुए नहीं हैं, उससे आत्मा पवित्र नहीं बनती। आत्मा को निर्मल एवं पवित्र बनाने के लिए अन्तर् से क्रोध और मान को निकालना अनिवार्य है, उसके पश्चात् ही क्रियाकाण्ड जीवन को चमकाता है।

बहुत-से साधक अत्यन्त फूंक-फूंककर चलते हैं। वे क्रियाकाण्ड तो बहुत ही सावधानी से करते हैं। परन्तु उन्हें उक्त क्रियाएँ करने का अत्यधिक अहंकार होता है। वे अपने या अपने सम्प्रदाय के साधकों के सिवाय सबको असाधु या कुसाधु समझते हैं। अपने आपको बहुत ही उच्च क्रियापात्र समझते हैं। क्रिया-काण्डों का आडम्बर और प्रदर्शन इतना है कि वे अपने अभिमान का पोषण करने के लिए अपने व्याख्यान में, दर्शनार्थियों के समक्ष केवल अपना या अपनों का ही बखान करते हैं, दूसरे साधकों में चाहे जितने गुण हों, चाहे जितनी अन्तःशुद्धि हो, वे उनका नाम लेना ही नहीं चाहते। कोई उनके सामने दूसरे सम्प्रदाय वालों की प्रशंसा करे या महत्ता की गुणगाथा गाए तो वे सहन नहीं करेंगे, एकदम आगबबूला होकर उस व्यक्ति को बोलने से टोक देंगे। अपनी ही ठकुरसुहाती करने वालों को वे पसंद करेंगे, उन्हीं से बात करना चाहेंगे। अगर कोई उनको किसी भी गुणी व्यक्ति से अमुक विद्या या अमुक ज्ञान प्राप्त कर लेने का सुझाव देगा तो चट् से उत्तर देंगे कि हमारे पास किस ज्ञान की कमी है, जो हम उस व्यक्ति से, उस आचारभ्रष्ट से या उच्चकोटि का क्रियाकाण्ड न करने वाले से सीखने जाएँ?

ऐसे साधक मान—शैल पर चढ़े रहकर अन्य को अपने से हीन समझते हैं।

अहंकार मिटाने का अनुभूत उपाय

अतः साधक जीवन के विकास में सबसे पहला रोड़ा है—अहंकार। यही उसे आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने तथा अपनी आत्मा को स्वभाव में स्थिर रखने से रोकता है। अतएव पंचम अध्ययन में अर्हत्-ऋषि पुष्पशालपुत्र द्वारा अपने आत्मविकास के अवरोधक मान को दूर करने से आत्मभावों में होने वाली स्थिरता के अनुभवों का दिग्दर्शन करते हुए कहा गया है—

माणा पच्चोरित्ताणं, विणए अप्पाणुवदंसए।
पुप्फसाल-पुत्तेण अरहता इसिणा बूइयं ॥१॥
पुढवीं आगम्म सिरसा, थले किच्चाण अंजलिं।
पाण-भोजण से किच्चा, सव्वं च सयणासणं ॥२॥

अर्थात्—मान से नीचे उतरे हुए तथा विनय में अपनी आत्मा को स्थिर रखने वाले पुष्पशालपुत्र नामक अर्हतर्षि ने (यह अध्ययन) कहा है।

—उन्होंने मस्तक से पृथ्वी को छूकर भूमि पर अंजलि करके (कषायों

पर विजय प्राप्त करके अन्तिम समय में) भोजन, पानी और समस्त शयनासन का त्याग कर दिया था।

प्रस्तुत दो गाथाओं में अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र का संक्षिप्त परिचय देते हुए अभिमान को दूर करके विनय में अपनी आत्मा को स्थिर करने की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है।

अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र ने अपने जीवन में यह अनुभव करके देख लिया कि अभिमान साधक को कितना नीचे गिरा देता है?, किस प्रकार से उसकी साधना को चौपट कर देता है?, साधक के आत्म-विकास, आत्म-शोधन एवं आत्म-निरीक्षण में अहंकार किस प्रकार बाधक बनता है?, यही कारण है कि उन्होंने जीवन की अन्तिम घड़ियों में चतुर्विध आहार और शयनासन का त्याग करने के बाद भक्तों से मिलने वाली वाहवाही, प्रशंसा, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और अहंपोषक प्रक्रियाओं का त्याग कर दिया था एवं अपने-आपको पृथ्वी की तरह नम्रातिनम्र, बनाकर विनय धर्म में स्थिर कर लिया था।

एक पहुँचे हुए अनुभवी साधक का यह बोलता हुआ जीवन-पृष्ठ प्रत्येक साधक को मानरूपी हाथी से नीचे उतरने की प्रेरणा दे रहा है।

ज्ञान आदि का अहंकार

कई बार यह देखा जाता है कि साधक थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर, मदान्ध हो जाता है, दूसरों को कुछ नहीं समझता। योगी भर्तृहरि ने अपने ज्ञानमद का उल्लेख करते हुए कहा है—

> यदा किंचिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवम्,
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किंचित् किंचिद् बुधजन—सकाशादवगतम्,
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

—जब मैंने थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त किया तो मैं हाथी की तरह मदान्ध हो गया। (मेरे मन की आँखें बंद हो गईं). 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस प्रकार ज्ञानमद से मेरा मन लिप्त हो गया। किन्तु जब मैंने विद्वानों के सान्निध्य में रहकर विनयपूर्वक उनसे (आत्मा के विषय में) कुछ जाना, तब मुझे प्रतीत हुआ कि 'मैं तो अभी मूर्ख हूँ' मेरा जो ज्ञानमद था, वह ज्वर की तरह उतर गया।

बन्धुओ! ज्ञान का अभिमान मनुष्य के अन्तर् की आँखों को बन्द कर देता है, उसी प्रकार तप का, पदवी आदि ऐश्वर्य का, जाति, कुल, बल

और शील का मद भी मनुष्य को साधना-पथ से भ्रष्ट कर देता है। कर्म-मुक्त होकर आत्मविशुद्धि करने के बदले ऐसा अभिमानी साधक आठ प्रकार के मदों (अहंकारों) में से किसी भी मद से मत्त होकर अशुभ कर्मबन्धन करके आत्मा को और भी अशुद्ध बना लेता है।

ज्ञानमद के दुष्परिणाम

बात यह है कि साधक को जब अपने ज्ञान (भाषाज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान या शास्त्रीयज्ञान) का अभिमानरूपी ज्वर चढ़ जाता है, तब वह अपने से बढ़कर किसी को भी कुछ नहीं समझता। इस प्रकार वह सर्वज्ञों की आशातना तो करता ही है, साथ ही छद्मस्थ ज्ञानियों, श्रुतकेवलियों, एवं आगमज्ञों की भी अवहेलना करता है। इस घोर आशातना के फलस्वरूप वह घोर अशुभ कर्मों का बन्ध करता है। साथ ही वह इतना अभिमानी हो जाता है कि नया ज्ञान सीखने के द्वार बन्द कर देता है। इससे ज्ञान का विकास रुक जाता है, अनन्तज्ञानरूप समुद्र का एक बिन्दुभर ज्ञान पाकर ही रह जाता है, वह कूपमण्डूक बन जाता है। ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण नया ज्ञान उसे प्राप्त नहीं होता। उसकी जिज्ञासा के द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। सम्यग्ज्ञान के अभाव में उसकी विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है। उसकी ज्ञानपिपासा बढ़ती ही नहीं, फलतः वह ज्ञान का अंशमात्र पाकर अपने आपको ज्ञानी, उपदेशक, पण्डित, विद्वान् आदि मानने लगता है। फिर वह ज्ञानी पुरुषों की निन्दा करके अपने मनमाने विचारों, मनगढ़न्त सिद्धान्तों का प्रचार करने लगता है।

वास्तव में देखा जाए तो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति का मूल यह ज्ञानमद ही है। अधूरे और अपरिपक्व ज्ञान के कारण व्यक्ति में दूर-दर्शिता, विनीतता, ग्रहणशीलता, जिज्ञासा आदि गुण नहीं पनप पाते। फलतः संकुचित विचारों के कीड़े उसके दिमाग में कुलबुलाने लगते हैं। वह क्रिया-काण्डों को अधिक तूल देकर सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के दरवाजे बंद कर देता है, अपने शिष्यों और अनुगामियों को वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने से रोक देता है। वह ज्ञानी पुरुषों से ईर्ष्या और द्वेष करने लगता है, ज्ञान और ज्ञानी के दोष निकालने लगता है, यहाँ तक कि उसने जिनसे ज्ञान प्राप्त किया है, उनका नाम छिपाने लगता है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी की आशातना से ज्ञानावरणीय कर्म का घोर बन्धन होता है। तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन के ये ही पाँच मुख्य कारण बताए हैं—

"तत्प्रदोष-निन्हव-मात्सर्यान्तरायाऽशादनोपघाताः ज्ञान-दर्शनावरणयोः।"

सम्यग्ज्ञान और ज्ञानी के दोष निकालना, जिन शास्त्रों या ग्रन्थों से अथवा ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनके नाम छिपाना, ज्ञान और ज्ञानी के प्रति डाह करना, उनकी प्रशंसा और प्रसिद्धि सुनते ही ईर्ष्या के मारे जलना, ज्ञान सीखने-सिखाने में आशातना (अविनय-अभक्ति) करना, ज्ञान के साधनों को तोड़ना-फोड़ना तथा ज्ञानी पुरुषों को मारना-पीटना, उन्हें चोट पहुँचाना; ये सब ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन के कारण हैं।

आपको यह भी बता दूँ कि इन सब ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धनों का मूल अहंकार है—ज्ञानमद है—श्रुत-गर्व है।

जातिमद और कुलमद भी विकास के अवरोधक

इसी प्रकार जाति और कुल का अहंकार भी साधना के मार्ग में विकास का अवरोधक है। जातिमद और कुलमद वाला साधक अपनी उच्चता का बखान जाति और कुल के माध्यम से करता है। परन्तु आपको पता होगा कि जाति और कुल कोई तात्विक वस्तु नहीं है, किसी हद तक ये साधना में सहायक होते हैं, किन्तु जब वे अपनी उच्चता और दूसरों की निम्नता प्रदर्शित करने के रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब रत्नत्रय की साधना में बाधक हो जाते हैं। ऐसे साधक जाति और कुल के आधार से अपनी आजीविका चलाने लगते हैं, प्रसिद्धि और सम्मान पाने को लालायित रहते हैं। जाति और कुल के आधार से प्रसिद्धि की तृष्णा उनके त्याग और वैराग्य को फीका कर देती है। आभ्यन्तर परिग्रह उनके जीवन में आ जाता है, जिससे वे धन के परिग्रही से भी बढ़कर प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के परिग्रही बन जाते हैं।

बल, लाभ, ऐश्वर्य आदि का अभिमान भी बाधक

बल का अभिमान भी साधना में घातक है। बलमद में आकर साधक कई बार हिंसा पर उतारू हो जाता है। निर्बल को सताने-दबाने की अपेक्षा उसे सहारा देकर बलवान् बनाना, आत्मबली बनाकर साधना दृढ़ करना, बलवान् साधक का कर्तव्य है।

इसी प्रकार लाभमद एवं ऐश्वर्यमद भी साधना के मार्ग में अवरोधक हैं। मनुष्य धन, यश या साधनों की प्रचुरता होने पर अभिमान में आकर दूसरों का अपमान कर बैठता है, उन्हें नीचा दिखाता है, यहाँ तक कि उन्हें दबाता है, सताता है, परेशान कर डालता है। अतः ये मद भी मानसिक और सामाजिक हिंसा के कारण बन जाते हैं।

मान या अहंकार पर विजय पाने के उपाय

मान या अहंकार आत्मा के सूक्ष्म शत्रु हैं, अगर मन में उठते हुए मान या अहं को दबाया नहीं जाता है तो वह धीरे-धीरे भयंकर रूप लेने लगता है, साधक को पद-पद पर मानरूपी सर्प आकर डसता है और उसकी साधना को विषाक्त बना देता है।

मान, गर्व, दर्प या अहंकार को दबाने या मिटाने के लिए भगवान् महावीर ने विनय धर्म का उपदेश दिया है। विनय धर्म का व्यावहारिक रूप अपने से बड़े ज्ञान दर्शन-चारित्र में ज्येष्ठ को नमन करना। अर्हतर्षि पुष्पशाल-पुत्र ने अपने जीवन से साधकों को विनय और उससे होने वाले परमलाभ की प्रेरणा देते हुए कहा—

णमंसमाणस्स सदा संति आगम वट्टती।
कोह-माण-पहीणस्स; आता जाणइ पज्जवे ॥३॥

कोह-माण-परिण्णस्स, आता जाणाति पज्जवे।
कुणिमं च ण सेवेज्जा, समाधिमभिदंसए ॥४॥

ण पाणे अतिपातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए।
ण मेहुणं च सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे ॥५॥

अर्थात्—'नमस्कार करने वाले' की आत्मा सदैव शान्ति और आगम (ज्ञान) में लीन रहती है। (आत्मज्ञान प्राप्ति से) क्रोध और मान (आदि कषायों) से रहित आत्मा समस्त पर्यायों को जानती है।

ज्ञपरिज्ञा से क्रोध और मान को जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनका त्याग करने वाला परिज्ञाता आत्मा सर्व पर्यायों का परिज्ञाता हो जाता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझने वाला वह साधक प्राणियों का मांसाहार तो कर ही नहीं सकता, साथ ही किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता. किसी के साथ असत्य नहीं बोलता, किसी की चोरी नहीं करता, मैथुन-सेवन नहीं करता, वह सदैव अपरिग्रही रहता है।

नमनशील आत्मा की मुख्य उपलब्धि

बन्धुओ ! नमनशील आत्मा नम्र और विनयी होती है, वह देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति नम्रातिनम्र बनकर उनकी आज्ञाओं का पालन करता है। तीर्थंकर देवों द्वारा प्ररूपित, सद्गुरुओं द्वारा उपदिष्ट एवं धर्मशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट वचनों के प्रति उसकी पूर्ण निष्ठा होती है। इनके द्वारा प्रतिपादित आगमों का वह पूर्ण विनयपूर्वक अध्ययन करता है। आगमों का अध्ययन करने से उसकी आत्मा शान्ति-पथ में लीन रहती है। ऐसा साधक अशान्ति

के मूल क्रोध, मान आदि कषायों से उपरत होकर समस्त पर्यायों को जानने लगता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब साधक कषाय और मोह को क्षय कर लेता है, तब अन्तर्मुहूर्त में शेष तीनों घाती कर्मों को नष्ट करके सर्वज्ञ बन जाता है। सर्वज्ञ हो जाने पर वह समस्त द्रव्यों की अनन्त पर्यायों को युगपत् जानते हैं। मति-श्रुतज्ञान का धनी छद्मस्थ समस्त द्रव्यों को जान सकता है, किन्तु वह एक द्रव्य की भी समस्त पर्यायों को नहीं जान सकता। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता वाचक उमास्वाति भी यही कहते हैं—

'मति-श्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। १/२७

'सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य।' १/३०

अर्थात्—"मति और श्रुतज्ञान का विषय-प्रबन्ध सर्वद्रव्यों में है, किन्तु समस्त पर्यायों में नहीं है, जबकि केवलज्ञान का विषय-निर्बन्ध समस्त द्रव्यों और पर्यायों में युगपत् है।"

यह है, मान रूप गज से नीचे उतर कर आत्मा को विनयधर्म में स्थापित करने का फल! क्रोध-मान से विहीन आत्मा सर्वप्रथम क्रोध के स्थान पर शान्ति और मान के स्थान पर मृदुता को प्राप्त करता है, फिर वह विनय-धर्माचरण से कषाय और मोह को क्षय करके सर्वद्रव्य-पर्यायों को जानने लगता है।

प्राग् ऐतिहासिक युग का भगवान् ऋषभदेव के धर्म शासनकाल का एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिए—प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने भागवती दीक्षा लेकर अपने चतुर्विध संघ की स्थापना कर दी थी। उनके पास उनके ९८ पुत्र संसार से विरक्त होकर दीक्षित हो चुके थे और संयम की साधना कर रहे थे। इसके पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने अपनी राज्य सत्ता के मद में आकर अपने छोटे भाई बाहुबली को नमाना चाहा। उनके पास अपना संदेश भेजा कि तुम यथाशीघ्र मेरी अधीनता स्वीकार कर लो। मगर बाहुबली इसे अपने स्वाभिमान में बाधक समझ कर अधीनता स्वीकार नहीं की। दोनों युद्ध के लिए तत्पर हो गए। दोनों की सेनाएँ आमने-सामने रणभूमि में आ गयीं। आदेश मिलने की देर थी। तभी बाहुबली के मन में एक विचार स्फुरित हुआ कि हम सेनाओं को लड़ाकर व्यर्थ ही हिंसा और नरसंहार क्यों करें? लड़ाई तो हम दोनों की है। हम दोनों ही द्वन्द्व युद्ध करके क्यों नहीं हार-जीत का फैसला कर लें। भरत को भी यह बात जच गई। प्रस्ताव रखा गया दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि का। सभी युद्धों में

बाहुबली विजयी हुए। जब मुष्टियुद्ध का प्रसंग आया तो बाहुबली ने सोचा—मेरी भुजाओं में अत्यधिक शक्ति है। मेरी एक मुष्टि के प्रहार से बड़े भाई—भरत जमीन में धंस जाएँगे। मैं इस प्रकार से अपनी मुष्टि शक्ति का दुरुपयोग करने के बदले, इसी मुष्टि से अपने मस्तक का पंचमुष्टि लोच क्यों न कर लूं और क्यों नहीं इस अपार शक्ति को संयम साधना में लगा लूं। पृथ्वी का भौतिक राज्य पाने की अपेक्षा मोक्ष का शाश्वत राज्य क्यों न प्राप्त करूँ ?

बस, सारा ही पासा पलट गया। बाहुबलि ने अपने बड़े भैया भरत चक्रवर्ती को अपना सर्वस्व राज्य आदि सौंपकर मुनिदीक्षा स्वीकार की। चल दिये साधना भूमि की ओर।

पंच महाव्रत स्वीकार कर लिये और गोम्मट गिरि पर एकाग्रचित्त होकर कायोत्सर्ग में प्रस्तर की भाँति लीन हो गए। न शरीर की परवाह की और न ही भूख-प्यास की चिन्ता की। कहते हैं—पक्षियों ने बाहुबली मुनि के शरीर पर यत्र-तत्र घोंसले बना लिये। बेलें उनके देह पर छा गईं। उनकी इस कायोत्सर्ग-साधना को बारह महीने हो गए। शरीर कृश हो गया। परन्तु अभी तक उन्हें केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) प्राप्त नहीं हुआ।

सर्वज्ञता प्राप्त न होने का कारण था—अभिमान। बात यह थी कि कि उनके मन में अपनी साधना का अभिमान था। इसलिए वे भगवान् ऋषभ के पास जाकर संघ में प्रविष्ट नहीं हुए। सोचा—'वहाँ जाऊँगा तो मेरे से पूर्वदीक्षित, ९८ लघु भाइयों को वन्दना करनी पड़ेगी। मैं अपनी व्यक्तिगत साधना में ही ठीक हूँ।'

भगवान् ऋषभदेव ने बाहुबली मुनि के मन में प्रविष्ट अहंकार की स्थिति जानी। सोचा—साधना बहुत ऊँची है, परन्तु अहंकार कषाय क्षय न होने के कारण केवलज्ञान नहीं हो रहा है। इस अहंकार को दूर करने के लिए भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी साध्वीं को प्रतिबोध देने हेतु भेजा। दोनों भगिनियों ने मृदुस्वर से प्रबुद्ध करते हुए कहा—

वीरा म्हारा ! गजथकी उतरो,
गज चढियाँ केवल न होसी रे ॥ वीरा० ॥

अर्थात्—आप जिस अहंकार के गज पर सवार हैं, उससे नीचे उतरिये। वहाँ चढ़े रहने से केवलज्ञान नहीं होगा।

दोनों साध्वी बहनों का स्वर सुनकर बाहुबली मुनि चौंके। उन्हें अपनी भूल का भान हुआ। उन्होंने मन ही मन अपने लघु-बान्धव-मुनियों

को बन्दन करने की भावना की, और ज्यों ही उसके लिए कदम उठाया, त्यों ही उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

यह ऐतिहासिक घटना बताती है, पाँचों महाव्रतों का पालन करते हुए तथा उत्कट तपःसाधना करते हुए भी जिस अभिमान के कारण ऐसे उच्च साधक का केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) रुका हुआ था, वह अभिमान दूर होते ही, उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वे युगपत् समस्त द्रव्यों और उनकी सर्वपर्यायों के ज्ञाता (सर्वज्ञ) बन गए।

विनयधर्म की अन्य उपलब्धियाँ

विनयधर्म की सबसे बड़ी उपलब्धि सर्वज्ञता का तो मैंने अभी-अभी जिक्र किया था। अन्य उपलब्धियों के विषय में अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र का कहना है कि विनयधर्म के पालन से साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति भी नम्रातिनम्र बनता है। इससे वह केवलज्ञान-केवलदर्शन को उपलब्ध कर लेता है। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच महाव्रतों का प्राणप्रण से पालन करने में जुट जाता है, क्योंकि विनय धर्म का साधक प्राणिमात्र के प्रति आत्मभाव, आत्मतुल्य भाव को लेकर चलता है, ऐसी स्थिति में वह किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा, असत्य, चौर्य अब्रह्मचर्य या परिग्रह का आचरण कैसे कर सकता है ? यही कारण है कि ज्ञाताधर्म-कथा सूत्र एवं उत्तराध्ययन में भगवान् महावीर ने विनयधर्म के अन्तर्गत पाँचों महाव्रतों को समाविष्ट कर दिया है।

विनयधर्म के पालन से एक ओर तो साधक अहंकारादि कषायों का एवं मोह का क्षय कर देता है और दूसरी ओर सम्यक्चारित्र की आराधना से समस्त घाती कर्मों का क्षय कर देता है। अर्थात्—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घाति कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

"मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।" (१०/१)

कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः।" (१०/२)

मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तरायकर्म के क्षय होने से साधक केवलज्ञान तथा बाद में समस्त कर्मों का क्षय होने से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

विनयधर्म की और भी अनेक उपलब्धियाँ हैं, जो इसके पालन से प्राप्त होती है। इसीलिए अर्हतर्षि पुष्पशालपुत्र ने अहंकार-विजय के सन्दर्भ में विनयधर्म-पालन की प्रेरणा दी है। □

८

जीवन : एक संग्राम

बाह्य युद्ध का रेखाचित्र

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! जीवन एक संग्राम है। जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र में दोनों ओर पक्ष-विपक्ष की सेना खड़ी रहती है। दोनों ओर की सेना के हाथों में शस्त्र-अस्त्र होते हैं। युद्ध शुरू होता है, तब दोनों ओर के सैनिकों को इच्छा से या अनिच्छा से लड़ना पड़ता है। अगर कोई सैनिक भागना चाहे तो भाग नहीं सकता। वहाँ सैनिकों की व्यूह रचना इस प्रकार की जाती है कि अगर कोई सैनिक कायर बनकर बीच में से भागना चाहे तो भाग ही नहीं सकता है।

किसी विचारक ने कहा है—

The life of the man is a field of battle.

—मनुष्य का जीवन युद्ध का मैदान है।

यह युद्ध संघर्ष मनुष्य के जीवन में निरन्तर प्रतिक्षण चलता रहता है।

इस आन्तरिक जीवन-युद्ध में एक ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष, अहंकार, माया, तृष्णा आदि की सेना डटी रहती है, तो दूसरी ओर शील, क्षमा, निर्लोभता, सन्तोष, अनासक्ति, निर्मोह, विनय, नम्रता, समभाव, दया आदि की सेना डटी है। दोनों में परस्पर युद्ध चलता है। उत्तराध्ययन सूत्र (९/३४-३५) में इन्द्र के प्रश्न के उत्तर में नमिराजर्षि ने इसी आन्तरिक युद्ध की ओर संकेत किया है—

> जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
> एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥३४॥
>
> अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
> अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥३५॥

अर्थात्—जो दुर्जय संग्राम में लाखों सुभटों पर विजय प्राप्त करता है, उससे अच्छा है कि वह एकमात्र आत्मा पर विजय प्राप्त करे। यही उसके लिए परम जय है। हे साधक ! तू आत्मा के साथ युद्ध कर। तुझे बाह्य, (हिंसक) युद्ध से क्या प्रयोजन है ? अपनी आत्मा अपने से जीतकर ही व्यक्ति सुख पाता है।

सचमुच बाह्य युद्ध में तो हिंसा, वैर-विरोध, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अभिमान आदि के पनपने और इनके फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध होने का खतरा है। मगर इस आध्यात्मिक युद्ध में कहीं भी हिंसा, द्वेष, वैर-परम्परा, क्रोध, लोभ, छल आदि के पनपने और कर्मबन्ध होने की सम्भावना नहीं है। इस युद्ध से जीवन में शान्ति, क्षमा, समता, मैत्री, नम्रता, दया आदि, जो आत्मा के निजी गुण हैं, उन्हीं की वृद्धि होती है। इस आध्यात्मिक युद्ध की प्रेरणा चतुर्थ अध्ययन में अंगिरस ऋषि भी करते हैं—

अक्खोववंजणमाताया, सीलवं सुसमाहिते।
अप्पणा चेव अप्पाणं, चोदितो वहते रहं ॥२३॥

सीलक्ख रहमारूढो, णाण-दंसण-सारही।
अप्पणा चेवमप्पाणं, जदित्ता सुभमेहती ॥२४॥

अष्ट प्रवचन-माता—(पाँच समिति, तीन गुप्ति) रूप (तेल लगे हुए) अक्ष (धुरा) से युक्त शीलवान् सुसमाहित आत्मा का रथ (जीवन-रथ) आत्मा के द्वारा (अपनी गति से) स्वतः प्रेरित होकर आगे बढ़ता है। ब्रह्मचर्य (शील) की सुदृढ़ धुरा वाला रथ और ज्ञान-दर्शन जैसे कुशल सारथि को पाकर शुभ (शुद्ध) आत्मपर्याय अशुभ स्थित आत्मपर्याय से युद्ध करके तथा उस पर विजय प्राप्त करके शुद्ध रूप में स्थित होता है।

जीवन : लड़ने के लिए है

मानव-जीवन को एक संग्राम बताते हुए कवि ने प्रेरणा दी है—

"जीवन है संग्राम, बंदे ! जीवन है संग्राम।
जन्म लिया तो जी ले बंदे ! डरने का क्या काम ॥ जीवन है० ॥ टेर ॥

जो डरता सो मरता बंदे ! जो लड़ता कुछ करता।
जो रोना था, तो क्यों आया, जीवन के मैदान ॥ जीवन है० ॥२॥

ले हिम्मत से काम, बंदे ! होगा काम तमाम।
सेज नहीं फूलों की दुनिया, है कांटों की खान ॥ जीवन है० ॥३॥

सर्दी गर्मी वर्षा सूखा, रैन दिनों का तांता।
फैंक खिलाड़ी फिर से पासा, तू भी चल मैदान ।। जीवन है० ।।४।।

कवि ने जीवन-संग्राम के विषय में कितनी मार्मिक प्रेरणा दी है। बन्धुओ !

अब आपको जीवन का उद्देश्य बदलना पड़ेगा। अधिकांश लोग कहते हैं—जीवन आनन्द के लिए। परन्तु मैं कहता हूँ कि 'मानव-जीवन एक संग्राम है, वह लड़ने के लिए है।' आनन्द लेना मनुष्य जीवन नहीं, पशु जीवन है। क्योंकि पशु जीवन में कोई बन्धन, मर्यादा, नियम, व्रत आदि नहीं, कोई विवेक नहीं होता। किन्तु मनुष्य के पास विवेक है, वह हमेशा अपने विवेक-दीपक को प्रज्वलित रखकर जीवन की घोर अंधकारपूर्ण परिस्थितियों में भी अपना मार्ग देखता हुआ चलता है और दुष्ट वृत्तियों से संघर्ष करता रहता है।

आप अपना अन्तर्निरीक्षण करके देखिये कि आपको बाह्य युद्ध या संघर्ष से शान्ति रहती है, या आन्तरिक शत्रुओं के साथ युद्ध करके उन पर विजय पाने से शान्ति मिलती है, जो आपको बराबर गुलाम बनाते हैं। आन्तरिक शत्रुओं के साथ मैत्री करके, जन्म-जन्मों तक परिभ्रमण करके नाना दुःख उठाये, उसकी अपेक्षा इस जीवन में उनके साथ जूझकर उनका दमन करके विजय पाने में ही सच्चा सुख है।

यों तो यह संसार और मानव-जीवन संघर्षमय है। छोटे-से-छोटा बच्चा भी जब भूखा और प्यासा होता है, या अरक्षित होता है, तब अपनी भूख-प्यास मिटाकर सुरक्षा पाने के लिए रोने, चिल्लाने, हाथ-पैर पटकने का संघर्ष करता है। मानव का स्वभाव ही संघर्षमय है। बिना संघर्ष के जीवन-पथ पर एक कदम भी आगे बढ़ना संभव नहीं है। गति का अभाव या स्थिति-स्थापकता मृत्यु है। जो अपने जीवन में विशेष उपलब्धि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें तो और भी अधिक संघर्ष करना पड़ता है। कोई व्यक्ति यह चाहे कि मुझे संघर्ष न करना पड़े और बैठे-बैठे ही बिना किसी पुरुषार्थ के ही सफलता मिल जाए, यह असम्भव है। परीक्षा देने वाले विद्यार्थी को भी अपनी आदत, आलस्य, एवं प्रमादी स्वभाव से संघर्ष करके सही दिशा में पुरुषार्थ करना पड़ता है, तब कहीं जाकर उसे उत्तीर्णांक मिलते हैं। इस संसार एवं मानव-जीवन की रचना ही ऐसी है कि संघर्षहीन या संघर्ष से बचकर भागने वाले, प्रमादी, आलसी या जीवन के प्रति लापरवाह व्यक्ति को पराजय, असफलता, पतन या विनाश का मुँह देखना पड़ता है।

संघर्ष से बचकर भागने से एक ओर तो जीवन-रक्षा संदेह या खतरे में पड़ जाती है, दूसरी ओर विरोधी शक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। फलतः चाहे या न चाहे, अपने या परिवार के जीवन निर्वाह की गति ठप्प होने का खतरा उपस्थित होने पर वह शान्त या चुपचाप बैठ ही नहीं सकता। इसलिए सम्मान सहित जीवित रहने का एक ही मार्ग है कि साहस एवं दृढ़ता के साथ संघर्ष का पूरी तरह डटकर मुकाबला किया जाए। जो शूरवीर और साहसी होता है, वह संग्राम को देखकर कभी भागता नहीं। कहा भी है—

सूर संग्राम को देख भागे नहीं
देख भागे सो ही शूर नाहीं।

आन्तरिक संग्राम का स्वरूप

मैं आपके सामने जिस संघर्ष, युद्ध या संग्राम की बात कर रहा हूँ, वह जीवन के अन्य व्यावहारिक, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय संघर्षों की नहीं, अपितु ऐसे आध्यात्मिक जीवन-संघर्ष की बात कर रहा हूँ, जो हमारे जीवन में चल रहा है, हमारी आत्मा के उत्थान या पतन का, विकास या ह्रास का, सफलता-असफलता अथवा जय-पराजय का दारोमदार उसी संघर्ष या युद्धपर है, जो आत्मिक विजय-रूप ध्येयलक्ष्यी हो। आन्तरिक जीवन में चल रहे इस संग्राम में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की सेनाएँ अन्तःकरण के मैदान में डटी हुई रहती हैं। दैवी और आसुरी वृत्तियों-प्रवृत्तियों का यह परस्पर संघर्ष सदैव चलता रहता है। इसे ही जैन परिभाषा में धर्म और शुभाशुभ कर्म की संग्राम कहते हैं। अथवा दार्शनिक भाषा में शुद्ध परिणति और शुभाशुभपरिणति का युद्ध कहते हैं।

भगवद्गीता में जिस महाभारत का वर्णन है, वह इसी प्रकार का आन्तरिक या आध्यात्मिक युद्ध है। वैदिक पुराणों में देवासुर-संग्राम का वर्णन है, वह इसी आध्यात्मिक-साधना-समर का आलंकारिक निरूपण है। इस समर में असुर प्रायः प्रबल होते हैं, देव उनसे भयभीत हो जाते हैं। दोनों पक्ष लड़ते हैं, देव बहुधा संगठित न होने के कारण हार जाते हैं। महाभारत के वर्णन में भी कौरवों के रूप में आसुरी वृत्तियाँ बड़ी प्रबल, बहुसंख्यक और संगठित हैं, जबकि दैवी वृत्तियों के रूप में पाण्डव पाँच ही हैं, उनके सहायक एवं सैनिक भी थोड़े ही हैं। तथा वे शांतिप्रिय, न्यायप्रिय एवं संघर्ष से दूर रहने वाले हैं; वे प्रायः-झंझट में पड़ने से कतराते हैं। राम के पक्ष की सेना और रावणपक्ष की सेना का और खासकर दोनों पक्ष के योद्धाओं का युद्ध भी एक प्रकार से हमारी आन्तरिक स्थिति का बाह्य चित्रण है। अध्यात्म-रामायण में इसका निरूपण स्पष्ट रूप

से हुआ है और इसी आध्यात्मिक जीवन-संग्राम का संकेत अर्हत्-ऋषि वल्कलचीरी छठे अध्ययन के प्रारम्भ में करते हैं—

तमेव उवरते मातंग—सड्ढे कायभेदाति ।
आयति तमुदाहरे, देव-दाणवाणुमतं ॥१॥

तेणेमं खलु भो लोकं, सणरामरं वसीकतमेव मण्णामि ।
तमहं बेमि विरयं वागलचीरिणा अरहता इसिणा बुइतं ॥२॥

ण णारीगण-पसत्ते, अप्पणो य अबंधवे ।
पुरिसा जत्तो वि वच्चह, तत्तो वि जुधिरे जणे ॥३॥

इत्थीणुगुद्धे वसए, अप्पणो य अबंधवे ।
जत्तो विवज्जती पुरिसे, तत्तो विज्झविणे जणे ॥११॥

अर्थात्—देह-भेद न होने पर भी गजेन्द्र की-सी श्रद्धा रखने वाला साधक भविष्य में (मारणान्तिक उपसर्ग आए तो भी) अशुभ वृत्तियों (आसुरी वृत्तियों) से उपरत रहे । देवों और दानवों (असुरों) द्वारा अनुमत (मान्य) बातों को अर्हतर्षि (वल्कलचीरी) कहते हैं ।

— देव, दानव और मानवों के समग्र लोक को जिसने वश में कर लिया (जीत लिया) है, संसार से विरत अथवा विरज (कर्मरज से रहित) वह मैं (वल्कल-चीरी) इस प्रकार कहता हूँ । हे आत्मन् ! (साधक !) तू नारी-वृन्द पर आसक्त मत हो, और अपने आप का शत्रु (अबन्धु) भी मत बन; अत: जितना भी सम्भव है, युद्ध करो और विजयी बनो ।

—नारी-विषयों में गृद्ध (लोलुप) रहने वाला आत्मा अपने आपका अबन्धु (शत्रु) होता है । अत: जो पुरुष इसका जितना भी विवर्जन करता है, उतना ही वह उपशान्त रह सकता है ।

प्रस्तुत गाथाओं में अर्हतर्षि वल्कलचीरी ने साधक के जीवन को एक युद्धस्थल बता कर उसमें प्रतिक्षण काम, क्रोधादि कषाय, राग, द्वेष मोह, ममत्व आदि से सावधान रहकर इनके साथ युद्ध करके विजयी बनने का संकेत किया ।

आध्यात्मिक युद्ध में सावधानी

इस आध्यात्मिक युद्ध में आत्मार्थी साधक को सर्वप्रथम यह जानना होगा कि मेरे आत्म-विकास या आत्मशुद्धि में बाधक शत्रु कौन-कौन हैं ? मेरे पक्ष और विपक्ष में कौन-कौन हैं ? यह युद्ध तो जीवन में सतत चल ही रहा है । मोर्चे पर पक्ष-विपक्ष दोनों ओर के सैनिक डटे हुए हैं, ऐसे समय में

अध्यात्म योद्धा को यह भी पता न हो कि मुझे क्यों और जिसके साथ युद्ध करना है ? बाह्य युद्ध के मैदान में दुश्मन को देखते ही गोली मार दी जाती है, इसी प्रकार इस आन्तरिक युद्ध में भी शत्रु को देखते ही या आक्रमण करने को उतारू होते ही उसे दबा या हटा न दिया जाए या मार भगाया न जाए तो कितनी हानि होगी ? अतः इस आन्तरिक युद्ध के मोर्चे पर शत्रु और मित्र की पहचान अवश्य होनी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना जरूरी है कि आन्तरिक शत्रुओं का सामना करने की तैयारी तब नहीं की जाती, जब शत्रु हमला करने को उतारू हो। यह तैयारी तो शत्रु के आक्रमण से पहले ही कर लेनी चाहिए। आन्तरिक शत्रु का हमला होते ही उसका प्रतिकार तुरन्त कर सके इतनी तैयारी के साथ शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित होकर रहना भी बहुत आवश्यक है। यह याद रखिये कि इन आन्तरिक शत्रुओं के साथ जूझे बिना इन्हें मार भगाया नहीं जा सकेगा। फिर ये शत्रु तो एक जन्म के नहीं, अनन्तकाल से अपनी आत्मा पर हावी हो रहे हैं। अतः इन्हें दूर धकेलने के लिए घोर संग्राम करना पड़ेगा, तथा पल-पल पर सावधान एवं अप्रमत्त होकर चलना है।

इस अध्ययन की प्रथम और तृतीय गाथा में अर्हतर्षि वल्कलचीरी ने स्पष्ट घोषणा की है कि अशुभ वृत्तियों से लड़कर आत्मा की रक्षा करनी है। आत्मा के अन्तरंग शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारों से युद्ध करके शुद्ध आत्मा को विजयी बनाना है; तथा नारी—अर्थात्—पंचेन्द्रिय-काम-भोगों की आसक्ति के साथ युद्ध करके शुद्ध आत्मा की रक्षा करना है। क्या इस युद्ध के लिए मैदान साफ है ? शस्त्रास्त्र सामग्री तैयार है ? तथा युद्ध के लिए व्यूह रचना करने वाले तैयार हैं ? ये तीनों तैयार हों तो आपको कृतनिश्चयी होकर मैदान में उतर जाना है। अगर इस जीवन में कुछ न किया तो फिर दीर्घातिदीर्घ काल तक पश्चात्ताप और रुदन करना पड़ेगा।

अशुभ वृत्तियों पर विजय : क्यों और कैसे ?

अर्हतर्षि ने सर्वप्रथम अशुभ वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने की बात कही है। अनादिकाल से परिभ्रमण करते-करते आत्मा ने बहुत-सी शत्रुतुल्य वृत्तियाँ मित्रवत् बना ली हैं। वही वृत्तियाँ मनुष्य को बार-बार परेशान करती हैं। वे जागृत रहती हैं, मनुष्य सो जाता है।

जैसे—एक मनुष्य को भूख लगी है, अथवा उसे स्वादिष्ट मालपूआ खाने की इच्छा जगी है। बहुत-से लोग तो उन वृत्तियों के साथ लड़ना ही नहीं चाहते, वे उनके साथ समझौता कर लेते हैं, उनका उलटा सिद्धान्त है

कि जो वृत्ति मन में जागी, उसे तृप्त और सन्तुष्ट करो, तब अपने-आप तुम्हें समाधि और शान्ति प्राप्त होगी। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जैसे फुटबाल या गेंद को दबाये जाने पर वह द्विगुणित वेग से उछलने लगती है, उसी प्रकार जिस अशुभ वृत्ति को दबाया जाता है, उससे उस वृत्ति की पूर्ति कर देने से वह शान्त नहीं होती, वह द्विगुणित वेग से उछलती है।

अशुभ वृत्तियों में कामवृत्ति सबसे प्रबल है, उसी का संकेत अर्हतर्षि वल्कलचीरी ने दो बार किया है। गीता में काम को महाशत्रु मानकर उसे नष्ट करने की प्रेरणा दी गई है—

'जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्।'

हे भुजबली अर्जुन! अत्यन्त दुर्धर्ष कामशत्रु को नष्ट करो।

काम के दो अर्थ जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इच्छाकाम और मदन-काम। इनमें से मदनकाम की प्रतीक नारी है। उसके साथ जूझकर विजय प्राप्त करने का भी संकेत किया गया है। काम के द्वितीय अर्थ के अनुसार इच्छाकाम पर भी अंकुश रखने और उससे सतत संघर्ष करने की हिदायत भी अर्हतर्षि ने इन शब्दों में दी है—

णिरंकुसे व मातंगे, छिण्णरस्सी हए वि वा।
णाणप्पग्गहापब्भट्ठे, विविधं पवते णरे ॥४॥
णावा अकण्णधारा व सागरे वायुणेरिता।
चंचला धावते णावा सभावाओ अकोविता ॥५॥
मुक्कं पुप्फं व आगासे, णिराधारे तु से णरे।
दढ सुब्बणिबद्धे तु विहरे बलवं विहिं ॥६॥

—अंकुशविहीन हाथी और लगाम से रहित घोड़े, अथवा ज्ञानरूप लगाम से भ्रष्ट मनुष्य भी नाना रूप में भाग-दौड़ करता है, और विनाश को प्राप्त होता है।

—जैसे मल्लाह से रहित नौका वायु के थपेड़ों से टकरा कर समुद्र में चंचल व लक्ष्यहीन होकर इधर-उधर दौड़ती है। इसी प्रकार मार्गदर्शक अथवा व्रत-नियम से रहित मूढ मानव की जीवननैया भी स्वभावतः डाँवा-डोल हो आती है। वह भी अशुभ वृत्तिरूपी वायु से प्रेरित होकर इधर-उधर भटकती है।

—इसी प्रकार आकाश में फेंका हुआ फूल, निराधार मानव और दृढ़

रस्सी से बंधे हुए पक्षी के लिए विधि ही बलवान है। अर्थात्—इन सब की सफलता और शान्ति भाग्य ही निर्भर है।

निष्कर्ष यह है कि इच्छाकाम भी आत्मा का बहुत-बड़ा शत्रु है। साधक की इच्छा एक प्रकार की वृत्ति है। इच्छा की पूर्ति में सुख की कल्पना मृगमरीचिका जैसी है। यह आत्मा की बद्धदशा है, जो इच्छाकाम एवं मदनकाम के पाश में ऐसा जकड़ देती है कि मनुष्य उसकी पकड़ से निकल नहीं सकता। ऐसा व्यक्ति इच्छा या वृत्ति पर विजय प्राप्त करने के बदले बार-बार पराजित होता है।

इच्छाओं और वृत्तियों का गुलाम सारे जगत् का गुलाम है। आशा के पाश में बंधे हुए मानव की दशा भी सैंकड़ों बंधनों से बंधे हुए अश्व की सी हो जाती है। न वह इस ओर हिल सकता है, और न ही उस ओर।

हमारी आत्मा में अनेक प्रकार की अशुभवृत्तियाँ पड़ी हैं, काम की, क्रोध की, लोभ की, माया की, अहंकार की, ऐश-आराम की, भोग-विलास की, पंचेन्द्रिय विषयभोगों की एवं स्वच्छन्दाचार की। ये और ऐसी अनेकों वृत्तियाँ आप पर हावी हो जाती हैं, आपको मनचाहा नचाती हैं।

पद-पद पर आपको ये वृत्तियाँ तंग करती हैं। इन वृत्तियों ने आत्मा को ऐसा दबा रखा है कि मनुष्य प्रायः इनकी दासता करता है। इनसे बार-बार पराजित होकर भी व्यक्ति भूल जाता है, उसे भान भी नहीं रहता। इन वृत्तियों ने ऐसा चक्रव्यूह रचा है कि उनकी तुलना में 'पाकिस्तान' या 'चीन' की लड़ाई कुछ भी नहीं है। अपने चक्रव्यूह में ये फँसाती रहती हैं। मनुष्य बार-बार इनके सामने हार खा जाता है। ये वृत्तियाँ ही साधक की सबसे बड़ी शत्रु हैं, उसके आत्म-विकास को रोकने वाली हैं।

इसीलिए नमिराजर्षि ने वृत्तियों से सीधी लड़ने की बात न कहकर इन क्रोधादि वृत्तियों से युक्त आत्मा से लड़ने की बात कही है। उन्होंने कहा—

पंचेंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥

—पाँचों इन्द्रियों के (राग-द्वेष-युक्त) विषय, क्रोध, मान, माया तथा लोभ से युक्त आत्मा को जीतना बहुत ही दुर्लभ है। वास्तव में एक आत्मा को जीत लेने पर सबको जीत लिया समझो।

प्रायः मनुष्यों का और कच्चे साधकों का भी सारा जीवन इन वृत्तियों, कषायों या विषयों की गुलामी में जाता है। यह जीव जरा भी

विचार नहीं करता कि मैं कौन हूँ ? मैं अनन्तशक्ति का स्वामी आत्मा हूँ। जड़ पुद्‌गलों एवं कर्मपुद्‌गलों की शक्ति से आत्मा की शक्ति अनेक गुनी अधिक है।

जब तक यह ज्ञान परिपक्व और अनुभव संयुक्त न हो तब तक हम वृत्तियों, कषायों, इच्छाओं आदि के जाल को तोड़ नहीं सकेंगे। जब साधक-योद्धा शत्रु को समझ लेता है, तब उसे हटाने या मिटाने में प्राणों का बलिदान करने में पीछे नहीं हटता।

आप चोर को देखते हैं तो उसका मुकाबला करने की वृत्ति क्यों जगती है ? इसलिए कि सम्पत्ति पर आपकी ममता है। इसी प्रकार क्षमा पर आपकी ममता हो तो आप क्रोध का मुकाबला करते। परन्तु यह तभी सम्भव होता, जब क्षमा को आप अपनी सम्पत्ति मानते। निर्लोभता को आप अपनी सम्पत्ति मानते तो लोभ को शत्रु मानकर मुकाबला करते। इसी प्रकार दया, समता, नम्रता, शील, सन्तोष आदि सद्‌गुणों को धन मानकर इन पर ममत्व हो तभी हिंसा, विषमताओं आदि दुर्गुणों–दुर्वृत्तियों पर विजय पा सकते।

एक बात और है। दूसरे लोगों की अपेक्षा निर्ग्रन्थ महामुनि को प्रतिक्षण सावधान रहने और क्षमा, दया, समता आदि आत्म-सम्पत्ति को विजयी बनाने का अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए। जैसे—किसी साधक को शरीर, सम्प्रदाय, पुस्तक, उपकरण आदि में से किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु पर मन में आसक्ति जागी, तो तुरन्त उसे सावधान होकर उस आसक्ति को समभाव से, निर्लोभता से दूर ठेल देनी चाहिए। तभी आत्मा के अनासक्ति गुण की विजय होगी।

इसी प्रकार किसी गृहस्थ साधक को अपने धन, पुत्र, परिवार, या मकान पर मोह-ममत्व आया, उस समय वह अनित्यता का चिन्तन करके समत्वगुण की विजय करा सकता है।

इस प्रकार साधक जीवन पर क्रोधादि का हमला होने पर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म आदि से एकदम नाता तोड़ ले, उन्हें मुँह न लगाए। जैसे कोई कुत्ता रोटी की थाली पर झपटने आता है, उस समय अगर भोजन करने वाला उसे तुरन्त न भगाए तो वह बार-बार आएगा, रोटी भी खा जाएगा। इसी प्रकार जिस साधक पर क्रोधादि आक्रमण करने आता है, उस समय वह तुरन्त नहीं भगाए; तो वे क्रोधादि शत्रु बार-बार आकर साधनामय जीवन को चौपट कर देंगे।

शान्ति समर के एक अमर गायक ने कहा है—

शान्ति-समर में कभी भूल कर धैर्य नहीं खोना होगा।
वज्रप्रहार भले सिर पर हों, किन्तु नहीं रोना होगा ॥ध्रुव॥

अरि से बदला लेने का मन बीज नहीं बोना होगा।
घर में तूल कान में देकर, किन्तु नहीं सोना होगा ॥१॥

आँखें लाल भौंहें टेढ़ी कर, क्रोध नहीं करना होगा।
बलिवेदी पर तुझे हर्ष से चढ़ कर कट मरना होगा ॥२॥

सरल मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पैर नहीं धरना होगा।
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा ॥३॥

मित्रो ! कहने को तो बहुत है। परन्तु समय की सीमा है। मैं अपनी बात अब समेट रहा हूँ। मूल बात यह है कि साधक को तप, जप, ध्यान, प्रतिक्रमण, सामायिक, महाव्रत-पालन आदि उत्तम धर्माचरण में भी यशोलिप्सा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा भाव, आदि दोष आकर मन के क्षेत्र पर आक्रमण न कर दें, अन्यथा, दुर्गुण प्रविष्ट हो जाने पर तो साधक की जीत नहीं, हार होगी।

चेतावनी

इसीलिए अर्हतर्षि वल्कलचीरी साधकों को चेतावनी के स्वर में कहते हैं—

सुत्तमेत्तगतिं चेव, गन्तुकामेऽवि से जहा।
एवं लद्धा वि सम्मग्गं, सभावाओ अकोविते ॥७॥

जं तु परं णवएहिं, अंबरे वा विहंगमे।
दढसुत्तणिबद्धेत्ति सिलोको ॥८॥

णाणापग्गहसंबंधे, धितिमं पणिहितिंदिए।
सुत्तमेत्तगती चेव, तधा साधु निरंगणे ॥९॥

सच्छेदगतिपयारा, जीवा संसार-सागरे।
कम्मसंताणसंबद्धा, हिंडंति विविहं भवं ॥१०॥

मन्नती मुक्कमप्पाणं पडिबद्धे पलायते।
विरते भगवं वक्कलचीरि उग्गतवेत्ति ॥१२॥

भावार्थ यह है—धागे से बंधा पक्षी गमन करना चाहता है, परन्तु उसकी गति जहाँ तक धागा है, वहीं तक है। इसी प्रकार स्वभावतः अकु-

शल (ज्ञानरहित) परम्परा के धागे से चिपटे रहने के कारण सम्यक्मार्ग प्राप्त करके भी आगे (लक्ष्य) तक बढ़ नहीं पाते ।७।

वे दूसरे को नवीन विचारधारा के आधार पर पक्षी की तरह आकाश में स्वतन्त्र उड़ान भरते देखते हैं, किन्तु अपने आपको परम्परा की रस्सी से बंधा पाते हैं। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा मुक्ति की ओर जाने वाले महापुरुषों को देखता है, तब उसके मन में बन्धन की कठोरता अखरती है ।८।

धृतिमान दमितेन्द्रिय निरंगण साधु अनेकविध नियमों के सम्बन्ध में सूत्र मात्र गति का अवलम्बन लेता है ।९।

स्वच्छन्दमति-गति से घूमने वाली आत्माएँ कर्मसन्तति से सम्बद्ध होकर विविध भवों में भ्रमण करती हैं ।१०।

जो अपने को मुक्त मानता है, किन्तु कर्मश्रृंखलाओं से प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है। यह वदतोव्याघात हुआ। उग्रतपा वल्कलचीरी भगवान संसार के दावानल से सर्वथा विरत हो गए थे ।११।

इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन संग्राम को हर पहलू से हृदयंगम करके विजय प्राप्त करना चाहिए। □

९

दुःख-मुक्ति के आध्यात्मिक उपाय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज हम जिस संसार और समाज में जी रहे हैं, उसमें सुख और दुःख की अपनी-अपनी कल्पना है। मनुष्य बाह्य सुख, क्षणिक सुख अथवा पदार्थजनित मनःकल्पित सुख को सुख मानता है, भले ही उसके पीछे कितना ही दुःख का पुट हो। किसी पदार्थ, परिस्थिति या क्षेत्र-काल में सुख की कल्पना करने वाला मनुष्य उस सुख के कारणभूत माने हुए अभीष्ट पदार्थादि का वियोग होने पर हाय-हाय करता है। अथवा अमुक काल में एक वस्तु सुख देने वाली मान ली जाती है, वही वस्तु दूसरे काल में दुःख देने वाली हो जाती है। स्वस्थ अवस्था में जिस मनुष्य ने मिठाई खाने में सुख माना था, वही व्यक्ति रुग्णावस्था में उसे पाकर दुःखानुभव करता है। जब भी कोई व्यक्ति, प्रसंग या पदार्थ मनुष्य के चित्त में अप्रसन्नता खड़ी कर देता है, तभी वह उसमें दुःख की कल्पना कर लेता है। अर्हतर्षि कुर्मापुत्र, जिन्होंने गृहीजीवन में रहकर कैवल्य प्राप्त किया था, इस सप्तम अध्ययन में दुःख से मुक्त होने पाँच आध्यात्मिक उपाय बताये हैं—

अक्षय सुख शान्ति के पाँच सूत्र

सव्वं दुक्खावहं दुक्खं, दुक्खं सुउसुयत्तणं।
दुक्खीव दुक्करचरियं चरित्ता, सव्वदुक्खं खवेति तवसा ॥१॥

(जिन्हें तुमने सुख माना है वे, तथा जो तुम्हें कष्ट देने वाले हैं, वे) सभी भविष्य में दुःखावह हैं, इसलिए दुःख रूप हैं, (उन्हें सुख मत मानो।) उत्सुकता (अर्थात्—किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति लालसा, आसक्ति या वितृष्णा) ही सबसे बड़ा दुःख है। तथाकथित दुःखी की तरह दुष्करचर्या का आचरण करने से तथा तपस्या से साधक सभी दुःखों का क्षय कर डालता है।

तम्हा अदीणमणसो दुक्खी सव्वदुक्खं तितिक्खेज्जा।

से त्ति कुम्मापुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं ।।२।।

—अत: (कल्पना के दु:ख से) दु:खी मानव अदीनमना होकर समस्त दु:खों को (समभावपूर्वक) सहन करे। यही (अक्षय सुख का राजमार्ग) अर्हत्-ऋषि कुर्मापुत्र ने बताया है।

प्रस्तुत दोनों गाथाओं में अर्हतर्षि कुर्मापुत्र ने अक्षय सुख-शान्ति के पाँच आध्यात्मिक उपाय बताये हैं—

(१) काल्पनिक सुख या दु:ख, दु:खावह होने से सभी को दु:ख रूप मानो।

(२) पदार्थों को पाने या रखने की अभीप्सा भी दु:खरूप मानो।

(३) तथाकथित दु:खी की तरह दुष्करचर्या को अपनाओ।

(४) तपश्चरण से दु:ख का नाश करो। और

(५) अदीनमना होकर समस्त दु:खों को सहन करो।

आइए, हम आज प्रत्येक सूत्र पर चिन्तन करें।

सुख और दु:ख मन की कल्पना है

जिनको आज मनुष्य सुख या दु:ख मानता है। अपने माने हुए इष्ट-संयोग तथा अनिष्टवियोग में सुख की तथा अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग में दु:ख की कल्पना करता है, वे केवल मनुष्य की कल्पना के ही सर्जन है न? मनुष्य के अप्रशिक्षित (untrained) मन ने ही तो इस प्रकार के सुख और दु:ख की कल्पना की है!

जो शाश्वत सुख, आत्मिक सुख पाना चाहता है, उसे इस प्रकार के सुख और दु:ख की कल्पना ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि संसार का कोई भी सजीव या निर्जीव पदार्थ, परिस्थिति, क्षेत्र, काल या संयोग अपने आप में किसी को सुख या दु:ख नहीं देता। परन्तु मनुष्य अमुक पदार्थ आदि में सुख की कल्पना करके फूल उठता है, और अमुक पदार्थ आदि में दुख की कल्पना करके तड़प उठता है। परन्तु अर्हतर्षि कहते हैं कि अगर मनुष्य किसी भी पदार्थ आदि में सुख अथवा दु:ख की कल्पना ही न करे तो उसे न तो तथाकथित सुखद संयोग के वियोग होने पर अथवा तथाकथित दु:खद संयोग के आने पर दु:खी होना पड़े और न ही आर्त्तध्यान करना पड़े। एक सत्यभक्त कवि ने कविता की भाषा में इसी तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया है—

दुःख और सुख मन की माया।
इस माया का पार न पाया॥

भटक-भटक कर थका, मगर पा सका न सुख का द्वार।
कर ले यह संसार मोक्षमय, कर ले यह संसार॥

प्रथम उपाय : सभी बाह्य सुखों को दुःखावह समझो

अर्हतर्षि कुर्मापुत्र तो इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं—जिन पदार्थों में तुम सुख की कल्पना करते हो, वे भविष्य में दुःख लाने वाले होने से दुःख रूप ही हैं, ऐसा मान लो। इसके अतिरिक्त जो पदार्थ या संयोगादि वर्तमान में तुम्हारे हृदय में अप्रसन्नता का संचार कर देते हैं, वे भविष्य के किसी न किसी सुख के कारण भी बन सकते हैं, इस कला को या वैचारिक सूत्र को हस्तगत कर लेने से कभी, कैसी भी परिस्थिति में मनुष्य को दुःख नहीं होगा। इस प्रकार की कला के धनी मानव ऐसे कल्पित सुख–दुःख के समय समत्वभाव रखकर आत्मभाव की मस्ती में लीन हो जाते हैं। फिर उन्हें स्वयं को दीन-हीन मानने की बात ही नहीं रहती। इस कला को प्राप्त करना कोई कठिन भी नहीं है, आप इसे असंभव न समझें। थोड़े-से मानसिक अभ्यास से यह कला हस्तगत हो सकती है।

वास्तव में सुख को कहीं बाहर ढूंढ़ने की जरूरत नहीं। सुख का सागर हमारे अन्तर् में ही लहरा रहा है। मन के विचारों में ही सुख और दुःख है। हमें अपने विचारों को मोड़ने की जरूरत है। सुख की खोज मन में ही करनी है, बाह्य पदार्थों में नहीं। अगर भौतिक पदार्थों में ही सुख मिलता तो संसार में आज कोई भी व्यक्ति दुःखी न रहता। किसी भी पदार्थ का स्वभाव सुख या दुःख देना नहीं है। मैं एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा अपनी बात स्पष्ट कर दूं—

अरब देश की घटना है। एक अच्छे घर का संस्कारी युवक शत्रुओं द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। उन्होंने उसे एक अमीर को गुलाम के रूप में बेच दिया। फिर भी उस युवक के मुख पर प्रसन्नता अठखेलियाँ कर रही थी। पड़ौस में रहने वाले एक व्यापारी ने उससे पूछा—"भाई! इस गुलामी से तुझे दुःख नहीं होता?"

युवक—"दुःख? दुःख किस बात का? भगवान् जिस स्थिति में रखे, उसी में रखना चाहिए। पहले मैं अपने घर में रहकर काम करता और पेट भरता था, अब पराये घर में काम करके पेट भरता हूँ। मेरा घर ही तो बदला है। यह घर भी कदाचित् बदल जाएगा। इसमें दुःख किस बात का?"

पूछने वाला व्यापारी इस जवाब को सुनकर दंग रह गया। वह अनेक वर्षों के बाद फिर इसी युवक से मिला। उसने देखा कि वह युवक गुलामी से मुक्त होकर अपने ही मालिक की पत्नी और बालकों का भरण-पोषण कर रहा है। अब उसने पूछा—'क्यों भाई ! अब तो सुख है न ?"

उसने कहा—"सुख क्या और दुःख क्या ? जीवन तो परिवर्तनशील है। जो आज है, वह कल रहने वाला नहीं है। मैं सदैव सभी परिस्थितियों में सुख में ही रहता हूँ।"

फिर तो उत्तरोत्तर वह युवक तरक्की करता गया। वह अपनी तेजस्विता, प्रतिभा, समझ, सेवा भावना और संयम की वृत्ति से एक दिन वहाँ के राजा का दामाद हो गया। उक्त व्यापारी ने अब उससे पूछा—"क्यों भाई ! अब तो पूर्ण सुखी हो गए न ?"

उसने कहा—"मैं किस दिन अपूर्ण सुखी था ? जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है और चला जाता है, इसी प्रकार इस जीवन के साथ सुख और दुःख की घटमाल चलती जाती है। इस सुख-दुःख की क्रिया को मन पर लाकर मैं उदास क्यों रहूँ ?"

सही स्थिति यह है कि जिस जीवन में मन को सुख-दुःख से अलिप्त रखकर एक मात्र परमात्मा या आत्मा में ही मन को पिरो दिया जाता है, उसमें सुख-दुःख को कहीं स्थान नहीं होता। वास्तव में, सुख और दुःख को जीवनरूपी सिक्के की दोनों बाजू मानना चाहिए। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

सुख-दुःख दुःख-सुख दोनों साथ-साथ हैं।
दोनों आत-जात हैं जी, दोनों आत-जात हैं॥ ध्रुव॥

दिनकर डूब गया, अंधियारा छा गया।
उषा मुसकाई फिर, उजियाला आ गया।
किसी वक्त दिन है, किसी वक्त रात है॥ दोनों० ॥१॥

सूखा-सूखा पेड़ हुआ, रंगरूप खो गया।
मधुऋतु आई फिर, हराभरा हो गया॥
पतझड़ मधुऋतु दोनों ना ठहरात हैं॥ दोनों० ॥२॥

सागर में कभी भाटा, और कभी ज्वार है।
सुख-दुःख दोनों मानो, बिजली के तार हैं॥
इन दोनों में बड़ी गहरी मुलाकात है॥ दोनों० ॥३॥

सुख-दुःख दोनों से ही जीवन गतिमान है।
दोनों के अस्तित्व से ही जीवन की शान है।।
पुण्य-पाप इन्हीं के, मात और तात हैं।। दोनों० ।।४।।

यदि जीवन में अकेला सुख हो तो ऐसा जीवन अधूरा ही रहता है और दुखी जीवन तो अपूर्ण होता ही है। साधक के जीवन में सुख-दुःख दोनों ही आते हैं और सुख-दुःख दोनों में समभाव ही साधक-जीवन का अमृत है। जो मनुष्य सुख में फूल जाता है, और दुःख में डिग जाता है, ऐसी असंतुलित दशा वाला मानव सच्चे सुख का आस्वादन नहीं कर सकता।

द्वितीय उपाय : सुख की लालसा छोड़ो

जहाँ सुख की पिपासा होगी, वहाँ दुःख के प्रति द्वेष, अरुचि, या घृणा भी आवश्यक रूप से होगी। ऐसी स्थिति में मनुष्य की अन्तरात्मा दुःखी और अशान्त हो जाती है। शान्ति का सुमधुर अनुभव करने के लिए तुम्हें सुख का—अर्थात्—सुखलिप्सा का—त्याग करना और दुःख को सहन करना सीखना पड़ेगा। यदि विचार किया जाय तो सुख का भी कहाँ अधिक त्याग करना है? सुख तो इस पंचमकाल में है ही बहुत थोड़ा! तुम्हें पुरुषार्थ तो दुःख को सहने में करना है, क्योंकि दुःख ही अधिक है।

अगर मनुष्य यहाँ ५० से १०० वर्ष तक की जिंदगी में आ पड़ने वाले दुःखों को समभावपूर्वक सहन कर ले, तो उसका भविष्य सुखमय बन जायेगा।

एक बार सत्यभामा, रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण की पटरानियाँ द्रौपदी से मिलने आईं। उन्होंने द्रौपदी का शील, स्वभाव, सदैव प्रसन्नता आदि देखी तो बहुत खुश हुईं। बात ही बात में उन्होंने द्रौपदी से पूछ लिया—"बहन! हम एकमात्र श्रीकृष्ण की इतनी रानियाँ होते हुए भी न स्वयं प्रसन्न और सुखी रहती हैं, और उन्हें ही प्रसन्न कर पाती हैं। किन्तु तुम पाँचों पाण्डवों को अकेली प्रसन्न और संतुष्ट रखती हो और स्वयं भी सुख में रहती हो। वह कौन-सा मंत्र है? हमें भी बताओ।"

द्रौपदी ने एक ही वाक्य में सारा उत्तर दे दिया—

दुःखेन साध्वि! लभते सुखानि।

अर्थात्—दुःख को दुःख न समझ कर सहन करने से सुख प्राप्त होता है।

फलितार्थ यह है कि दुःख को दुःख न मानकर उसे समभावपूर्वक अपना लेने से मनुष्य स्वयं भी सुख पाता है और सम्पर्क में आने वालों के साथ संघर्ष न होने से वे भी सुख पाते हैं, प्रसन्न रहते हैं।

आप में से अधिकांश लोगों से पूछा जाए कि आप क्या चाहते हैं— बाह्य सुख या आन्तरिक शान्ति ? तब आप यदि दोनों मांगेंगे या चाहेंगे तो मिल नहीं सकेंगी; क्योंकि इस संसार की ऐसी व्यवस्था है, काल का भी ऐसा ही प्रभाव है। दोनों में कोई एक पसंद करो। अगर तुम बाह्य सुख मांगोगे तो वह भी मिल सकता है, बशर्ते कि तुम शुद्ध धर्म का आचरण करो। धर्म बाह्य सुख भी प्रदान कर सकता है। परन्तु याद रखो, ये बाह्य सुख तुम्हारे पास टिकेंगे नहीं। बाह्य वैषयिक सुख के साथ दुःख का आगमन निश्चित है। सुखों के उपभोग की आदत पड़ गई तो जब ये सुख तुम्हारे पास से चले जायेंगे, तब तुम्हारी मनःस्थिति कैसी होगी ? जरा विचार तो करो।

अमेरिका के धनकुबेर जॉन० डी० रॉकफेलर ने जिन्दगी के अधिकांश वर्ष धन कमाने में ही बिताये थे। उसे धन एकत्र करने की ही चिन्ता में ब्लडप्रेशर हो गया। उसका स्वास्थ्य चिन्ताजनक हो गया। डाक्टरों ने इलाज करने में कोई कसर न रखी। जिस धन को उसने सुखदायक माना था, वह दुःखदायक बन गया। आखिरकार एक डाक्टर ने उसे राय दी कदाचित् तुम स्वस्थ हो जाओ। तो भी तुम्हें सुख से जीना हो तो यह हाय तोबा छोड़ दो। पैसा मिला है तो स्वयं आनन्द से जीओ और उदार हृदय से दीन-दुखियों के दुःख दूर करो।

रॉकफेलर के गले यह बात उतर गई। वह सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले सुख की स्वयं परवाह न करके दीनदुःखियों की सहायता करने लगा। इसमें उसे आनन्द मिला। रॉकफेलर का स्वास्थ्य सुधरता गया। उसने अपनी ६३ वर्ष की जिन्दगी सुख से बिताई।

बन्धुओ ! सुख का मूल मंत्र यही है कि स्वयं सुखों का त्याग करके दूसरों को सुख दो। कहावत है—

'सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होय।'

जो अपने सुख की परवाह न करके दूसरे के लिए दुःख सहता है, उन्हें सुखी बनाता है, अथवा यों कहें कि सुखी बनाने में निमित्त बनता है, तो उसे भी आत्मिक सुख मिलता है।

अतः सुख का अथवा सुख की लालसा का त्याग करना ही सुख का मूल मंत्र है।

यदि तुम आन्तरिक सुख-शान्ति चाहते हो तो तुम अभी से सुख के त्याग के अभ्यासकाल के दौरान कष्ट सहन करने की आदत भी डालो।

आन्तरिक शान्ति के लिए जैसे बाह्य सुखों का त्याग करना आवश्यक है, वैसे ही आन्तरिक कषायों का भी त्याग करना आवश्यक है। ज्यों-ज्यों दोनों प्रकार के त्याग करने का अभ्यास बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों अन्तर् में शान्ति की अधिकाधिक वृद्धि होती जायगी। गीता में स्पष्ट कहा है—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।

—त्याग करने से तुरन्त शान्ति मिलती है।

यदि त्याग वैराग्य से शान्ति न मिलती, आत्मिक सुख न मिलता तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती या बड़े-बड़े राजा-महाराजा क्यों तथाकथित सुख के इतने साधनों का त्याग करते ? क्यों बाह्य सुखों का परित्याग करते ? उन्हें बाह्य सुखों या सुख-साधनों में वास्तविक सुख की प्रतीति नहीं हुई।

मनुष्य इच्छाओं की पूर्ति होने से सुख मानता है। परन्तु क्या कभी किसी की समग्र इच्छाओं की पूर्ति हुई है? अथवा क्या इच्छापूर्ति के पश्चात् भी किसी को स्थायी सुख मिला है ? इच्छा की पूर्ति सुख न होकर दुःख के द्वार खोलती है।

ओरिसन स्वेट मार्डेन अपना अनुभव लिखता है कि मैं एक ऐसी महिला को जानता हूँ जिसके जीवन में दुःखों की अंधेरी रातें आईं, परन्तु वह दुःख के दिनों में भी उत्साहजनक और आनन्ददायक गीत गाकर उन दुःखों को भी सुख में परिणत कर लेती थी।

लुकमान हकीम बचपन में गुलाम थे। उनके मालिक ककड़ी खा रहे थे। ककड़ी कड़वी थी। थू-थू करके उसने मुँह बिगाड़ा और ककड़ी गुलाम लुकमान को दे दी। वह खा गया। मालिक ने आश्चर्य करके पूछा—कड़वी ककड़ी कैसे खा गया तू ?

नौकर ने जबाव दिया—रोजाना आपकी दी हुई अच्छी-अच्छी चीजें भी खाता हूँ तो आज यह क्यों नहीं खाऊँ ? आपने ही तो कहा है—परमात्मा अनेक प्रकार के सुख देता है, उसके हाथ से कभी दुःख भी मिले तो उसे प्रसन्नतापूर्वक भोग लेना चाहिए।

प्रसन्न होकर मालिक ने लुकमान को गुलामी से मुक्त कर दिया।

तृतीय उपायः दुःख की दुष्कर साधना से सुखप्राप्ति

मनुष्य दुःख से दूर भागना चाहता है। किन्तु गहराई से सोचा जाए तो दुःख दुनिया की निकम्मी चीज नहीं है। दुःख सहने से मनुष्य को दूसरे दुखियों के दुख का ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त होता है। वैराग्य भी

दुःख से प्राप्त होता है। दुःखी व्यक्ति—समभावपूर्वक दुःखसहिष्णु व्यक्ति सबमें आत्मीयता के दर्शन करता है। महाभारत में कहा है—

विपदः सन्तुः न शाश्वत् तत्र-तत्र जगद्गुरो !।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

—जगद्गुरु प्रभो! हमारे जीवन में सदा विपत्तियाँ आती ही रहें, क्योंकि जन्म-मरण के चक्कर को मिटाने वाले आपके दर्शन विपत्तियों में ही होते हैं।

अँग्रेज विचारक ऑस्टिन मैंले का विचार है कि आपत्तियों से बढ़कर और बड़ी शिक्षा नहीं।

राजस्थान के एक मस्त कवि ने कहा है—

दुःख है ज्ञान की खान, मनवा दुःख है ज्ञान की खान ॥टेर॥
दुःख में ज्ञान-ध्यान बहु उपजे सुख में करत पयान ॥ म०॥१॥
दुःख ही शिक्षक है इस जग में, प्रभु का शुभ वरदान।
अति उत्तम यह पाठ पढाये, छूट जाय कटु बान ॥म०२ ॥
जिसने जग में दुःख नहीं देखा वह कैसा इन्सान।
उन्नत पद पर कभी न पहुँचे, दुनिया के दरम्यान ॥म० ॥३॥
ज्यों-ज्यों स्वर्ण अगन में डारे, रूप धरे छबिमान।
वैसे ही दुःख की भट्टी में, तप कर हो मतिमान ॥म० ॥४॥
कौन विराना, कौन है अपना, दुःख में पड़त पिछान।
दुनिया के कसने की कसौटी, खोने को अभिमान ॥म० ॥५॥

दुःख के माहात्म्य का कितना सजीव चित्रण है।

वास्तव में सुख मनुष्य को विलास, प्रमाद और पतन की ओर ले जाता है। जबकि दुःख त्याग, वैराग्य, जागृति और उत्थान की अग्रसर करता है। सुख में वृत्तियाँ बहिर्मुखी और दुःख में अन्तर्मुखी होती हैं। सुख के दिन मस्ती में और दुःख के दिन सुस्ती में व्यतीत होते हैं। सुख में मनुष्य अपनी ही सुनता है, किन्तु दुःख में दूसरों की भी सुनता है। सुख में मनुष्य मदग्रस्त हो जाता है, जबकि दुःख में मद उतर जाता है। सुख में विकारों के आने की सम्भावना है, जबकि दुःख में साधक जागृतिपूर्वक निर्विकारिता की ओर कदम बढ़ाता है।

संसार का इतिहास उठाकर देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि दुःख ने राम, कृष्ण, महावीर, महात्मा गाँधी एवं ईसामसीह आदि को अमर बना दिया, जबकि सुख ने रावण, कंस, दुर्योधन आदि को व्यभिचारी, विलासी, अभिमानी और अन्यायी बनाया है।

इसीलिए संत तिरुवल्लुवर ने कहा है—'आपत्तियों का सामना करने के लिए मुस्कान से बढ़कर कोई चीज नहीं है।' यही कारण है कि कुर्मापुत्र अर्हतर्षि ने दुःखको मिटाने का तृतीय उपाय स्वयं दुःख को झेल लेना बताया है। ऐसा साधक स्थूलदृष्टि से तो दुःखी की श्रेणी में आ जाता है, किन्तु वह आवश्यकताओं को सीमित करके, पंचेन्द्रिय विषयों पर संयम एवं कषायों पर विजय प्राप्त करके अन्तर् से अतीव सुखी हो जाएगा।

चतुर्थ उपाय : तप के द्वारा दुःख का विनाश

व्यक्ति इच्छानिरोधरूप तप की ज्वालाओं से समस्त दुःखों को शमन कर सकता है। दुःख के कारणभूत कर्मों को नष्ट करने के लिए भगवान् ने बाह्य और आभ्यन्तर तप बताएँ हैं।

एक व्यक्ति बाह्य तप का अभ्यासी है, वह भूख और प्यास के दुःख को समभाव से सहन करके उस दुःख का निवारण कर सकता है। जो ऊनोदरी, वृत्ति-परिसंख्यान या रस-परित्याग तप का अभ्यासी है, वह अन्न, पान, वस्त्र आदि आवश्यक साधनों के न मिलने, कम मिलने, अथवा मनो-ऽनुकूल न मिलने पर भी इसे तप समझ कर सन्तुष्ट हो सकता है, यथालाभ सन्तोष मानकर सुखी हो सकता है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर भी साधक तप द्वारा उक्त दुःख का निवारण करके सुखी हो सकता है, किन्तु मन की आवश्यकताओं से बहुत से साधक खिन्न हो जाते हैं, जैसे कि कई साधकों के मन में यश-कीर्ति, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की लालसा उत्कट रूप में होती है। बहुत-से साधक तो इसके लिए बहुत ही उखाड़-पछाड़ करते रहते हैं। वे तपस्या करते हैं, चातुर्मास करते हैं या कहीं व्याख्यान देने जाते हैं तो पहले से वे तथाकथित भक्तों को तैयार करते हैं—पत्रिका छपनी चाहिए, प्रचार होना चाहिए। इसी से धर्म-प्रभावना होती है। सभी पत्र-पत्रिकाओं में इसके समाचार प्रशंसात्मक शब्दों में छपने चाहिए। इस प्रकार वित्तैषणा और पुत्रैषणा (शिष्यैषणा या भक्तैषणा) से ऊपर उठ जाने के बाद भी साधक लोकैषणा को नहीं छोड़ सकते। जबकि भगवान् महावीर ने साधकों को स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है—

न लोगस्सेसणं चरे।

—लोकैषणा में मन को न रमाए।

वर्तमान युग का साधक सेवा (वैयावृत्य तप) भी करता है, बाह्य तप भी करता है, स्वाध्याय-तप भी करता है, ध्यान भी करता है, किन्तु सेवा, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि का तोल वह यश से करता है। उसका लक्ष्य

उक्त आभ्यन्तर तपस्याओं के साथ भी यशोलिप्सा का रहता है। यश का मोह उसे साम्प्रदायिक, धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में बेचैन कर डालता है। अगर साधक को तपस्या, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि के साथ प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि न मिली तो वह आन्तरिक दुःख से बेचैन हो उठता है। अशान्ति छाई रहती है, उसके मानस में। इसीलिए कुर्मापुत्र अर्हतर्षि कहते हैं—

जणवादो ण ताएज्जा, अत्थित्तं तवसंजमे।
समाहिं च विराहेति, जे रिट्ठचरियं चरे ॥३॥

—तप-संयम के अस्तित्व में भी यदि लोकैषणा (जनवाद) है, तो वह साधक की आत्मा की रक्षा नहीं कर सकती, क्योंकि जो साधक लोकैषणा आदि अभीष्ट चर्या (इष्टसंयोग की प्राप्ति) में पड़ता है, वह समाधि को भी खो बैठता है।

वास्तव में लोकैषणा में पड़ने वाले गृहस्थ या साधु दोनों ही अपनी मानसिक शान्ति (समाधि) को खो बैठते हैं। वे रात-दिन इसी उधेड़ बुन में रहते हैं कि किसी प्रकार से प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। कई बार तो दूसरों को नीचा दिखाकर, उनको झूठ-मूठ बदनाम करके, उस पर अपनी प्रतिष्ठा का महल खड़ा करते हैं। अतः साधक को दुःखमुक्ति या सुखप्राप्ति के लिए लोकैषणा रूप इच्छा का निरोध करना चाहिए, यही तप उसकी सुख-शान्ति में वृद्धि करेगा।

सुखशान्ति के लिए निन्द्य आचरण से दूर रहे

इस गाथा का एक दूसरा अर्थ भी है, वह भी दुःखमुक्ति या सुख-प्राप्ति के उपाय के रूप में घटित होता है।

आक्षिप्त, अर्थात्—(जो संयमपथ से गिर जाता है, पद-पद पर साधुजीवन के मौलिक नियमों के विरुद्ध घृणित आचरण करता है, ऐसे) निन्दित पुरुष—को जनवाद त्यागता नहीं है। अर्थात्—जनसाधारण तीव्र-रूप से उसकी निन्दा और भर्त्सना करता है। फलतः ऐसा साधक या गृहस्थ मानसिक दुःख से आक्रान्त होकर तप, संयम और समाधिभाव भी खो देता है, वह कभी हिंसा आदि अनिष्ट आचरण के लिए भी तत्पर हो जाता है।

फलितार्थ यह है, जो साधु या गृहस्थ सुख,शान्ति और समाधि प्राप्त करना चाहता है, उसे जिससे लोकनिन्दा हो, ऐसे निन्दनीय-गर्हणीय आचरण से दूर रहना चाहिये।

कामना, वासना, और प्रमादवृत्ति से दूर रहे

जो साधु या गृहस्थ अपने जीवन में मानसिक एवं शारीरिक सुख-शान्ति चाहता है, उसे ऋषि कुर्मापुत्र प्रेरणा देते हैं—

आलस्सेणावि जे केइ, उस्सुअत्तं ण गच्छति।
तेणावि से सुही होइ, किं तु सिद्धि (सद्धी) परक्कमे ॥४॥

आलस्सं तु परिण्णाए जाती-मरण-बंधणं।
उत्तमट्ठ-वरग्गाही, वीरियातो परिव्वए ॥५॥

कामं अकामकारी, अत्तत्ताए परिव्वए।
सावज्जं णिरवज्जेणं, परिण्णाए परिव्वएज्जासि ॥६॥

—जो व्यक्ति आलस्यवश भी उत्सुकता (लोकैषणादि इच्छा) के पथ पर नहीं जाता, उससे भी वह सुखी हो सकता है। किन्तु वह अनन्तसुखयुक्त मोक्ष की दिशा में पुरुषार्थ (पराक्रम) करे तब तो कहना ही क्या, वह अवश्य ही सिद्धि (सफलता) प्राप्त कर सकता है।

यों तो आलस्य (प्रमाद)—मोक्ष के—कर्ममुक्ति के लिए अपुरुषार्थ—एक प्रकार से जन्म-मरण के बंधन के रूप में परिज्ञात है। अतः उत्तमार्थ (मोक्ष) ग्राही आत्मा को शक्ति (आत्मबल) के साथ मोक्ष मार्ग की ओर चलना चाहिए।

(सुखप्राप्ति दुःखमुक्ति के लिए) साधक को काम को अकाम बनाकर अर्थात् काम पर विजय प्राप्त करके आत्मा की दिशा में विचरण करना चाहिए। सावद्य को उसके प्रतिपक्षी निरवद्य सेज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान (त्याग) करे।

निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति के जीवन में कहाँ प्रमाद और कहाँ अप्रमाद पूर्वक पुरुषार्थ होना चाहिए ? इसके लिए उपर्युक्त तीन गाथाओं द्वारा सुख-प्राप्ति के सन्दर्भ में बताया गया है कि लोकैषणादि, काम (इच्छाकाम और मदनकाम) अर्थात्—कामना एवं वासना, तथा सावद्यक्रिया, इनमें साधक पुरुषार्थ न करे, इनमें प्रमादी रहे, तभी वह इनसे होने वाले शारीरिक—मानसिक दुःखों से मुक्त होकर सुखी हो सकता है। साधक एकान्त रूप से तभी सुखी हो सकता है, जब वह कर्म-मुक्ति—मोक्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे, उसमें जरा भी प्रमाद न करे।

पंचम उपाय : अदीनवृत्ति से दुःख सहन करो

इच्छाजन्य दुःख पर भी साधक विजय पाए, फिर पूर्वकृत अशुभ-कर्मवश उसे शारीरिक वेदना—पीड़ा सता सकती है। उस समय वह उक्त

दु:ख से मुक्त होने के लिए क्या करे ? दु:ख आने पर उसे भोगना तो पड़ता ही है, चाहे व्यक्ति हँसते-हँसते भोगे या रोते-रोते भोगे। जब कोई साधक अपने पर आये हुए संकट, कष्ट या दु:ख को रोते-रोते, दीन-हीन मनोवृत्ति के साथ भोगता है, तो उससे दु:ख कम नहीं होता, बल्कि अशुभ कर्मबन्धन करके वह व्यक्ति भविष्य में अनेक दु:खों के बीज बो देता है। अत: कुर्मा-पुत्र ऋषि का यह परामर्श है कि किसी भी प्रकार के दु:ख से आक्रान्त होने पर साधक दीन-हीनवृत्ति से उस दु:ख में उलझे नहीं, बल्कि तेजस्विता—अदीनता के साथ उस दु:ख का सामना करे, उसे पूर्ण समभाव के साथ, पूर्वकर्मकृत दु:ख मानकर सहन करे। इससे कर्मनिर्जरा भी होगी, व्यक्ति सदा के लिए दु:ख का अन्त भी कर सकेगा।

महासती सीता, अंजना, दमयंती आदि पर दु:खों के पहाड़ टूट पड़े थे, वे सब ओर से तिरष्कृत, निरुपाय, संकटग्रस्त और संतप्त हो चुकी थीं, फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी, उन दुखों के समय किसी भी निमित्त को नहीं कोसा, स्वकृत कर्मों को ही दुखों का कारण माना। अत: न ही दीनता दिखाई, न ही अधीरता बताई, किन्तु दु:खों को समभाव से सहकर कर्म-निर्जरा की, आत्मशुद्धि की।

अत: दुखमुक्ति के जो पांच उपाय अर्हतर्षि ने कुर्मापुत्र बताएँ हैं, उन पर चलकर क्या साधु, क्या गृहस्थ, क्या संघ और क्या राष्ट्र, सभी स्थायी और अक्षय सुख को प्राप्त कर सकते हैं। आप भी इन उपायों पर मुस्तैदी के साथ कदम बढ़ाएँ और अक्षय सुख को प्राप्त करें।

□

१०

दुःख विमुक्ति के लिए ग्रन्थच्छेद

शरीर के सम्बन्ध से आत्मा ग्रन्थयुक्त होता है

धर्मप्रेमी श्रोताजनो ! हमारे जीवन के दो भाग हैं। एक भाग शरीर है और दूसरा भाग आत्मा है। दोनों भाग मिलकर हमारा इहलौकिक जीवन बनता है। केवल आत्मा से हम साधना नहीं कर सकते हैं। शरीर साथ में रहता है, तभी हम साधना कर सकते हैं। भारतीय दर्शनों में शरीर को आत्मा का मन्दिर माना है। आत्मा देवता है, शरीर उसका मन्दिर है। यह ठीक है कि शरीररूपी मन्दिर की सारसं-भाल होनी चाहिए, परन्तु उससे भी बढ़कर हमें ध्यान रखना है, आत्म-देवता की पूजा का, जो शरीर मन्दिर में विराजमान है।

आज अधिकांश लोग शरीररूपी मन्दिर की पूजा करते हैं। इसकी भूख और प्यास के लिए, इसके निवास के लिए, इसकी सर्दी-गर्मी-वर्षा आदि से रक्षा के लिए तथा अन्यान्य आवश्यकताओं—जैसे कि गमनागमन के लिए, आरोग्य आदि के लिए, आवश्यकता से अधिक साधन जुटाये जाते हैं। उदाहरण के तौर पर—शरीर की भूख मिटाने के लिए सादा और स्वास्थ्य-कर आहार चाहिए, परन्तु स्वादवश या मोहवश अधिकाधिक चटपटा, गरिष्ठ, पौष्टिक, तामस या राजस आहार जुटाया जाता है। शरीर को रहने के लिए एक मकान चाहिए, पर पांच दस मकान बनाये जाते हैं, अधिकाधिक मकानों पर स्वामित्व एवं ममत्व रखा जाता है। शरीर की रक्षा के लिए थोड़े-से सादे वस्त्र चाहिए, परन्तु आवश्यकता से अधिक वस्त्र—एक से एक भड़कीले, मुलायम, बारीक वस्त्र जुटाये जाते हैं तथा उन सब पर स्वामित्व और ममत्व रखा जाता है। इसके अतिरिक्त धन-सम्पत्ति, दुकान, कारखाना; मोटर आदि सवारी, पशु धन, आदि भी शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार आदि की सुख-सुविधा के लिए जुटाये जाते हैं।

यह तो हुई शरीर के लिए बाह्य परिग्रह (ग्रन्थ) की बात। फिर शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति मोह, ममत्व, मूर्च्छा, लोभ, राग, द्वेष, वासना-कामना आदि होते हैं, उन्हें भी आप शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में मान लेते हैं। जिस प्रकार धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि ६ बाह्य ग्रन्थ (परिग्रह) हैं, उसी प्रकार १४ आभ्यन्तर परिग्रह (चार कषाय, नौ नोकषाय और मिथ्यात्व) या ग्रन्थ हैं। इन बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों से विरक्त—ममत्वमुक्त रहने वाला 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है। भगवान् महावीर को जैन और बौद्ध ग्रन्थों में 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' कहा गया है।

निर्ग्रन्थ साधु को ग्रन्थ-छेदन का उपदेश क्यों ?

प्रश्न होता है कि साधु तो निर्ग्रन्थ--ग्रन्थमुक्त होता है, फिर उसे ग्रन्थ-विमुक्ति का उपदेश क्यों दिया जाता है ? इसके समाधान के लिए हमें जरा तात्त्विक गहराई में उतरना होगा। यद्यपि साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है, तथापि उसने शरीर, वस्त्र, पात्र, पुस्तक तथा अन्य धर्मोपकरण आदि छोड़े नहीं हैं। इन पर से ममता-मूर्च्छा और आसक्ति छोड़ने के कारण वह निर्ग्रन्थ कहलाता है, परन्तु अगर उसके मन के किसी कोने में इन पर तथा अपने पूर्वाश्रम के सगे-सम्बन्धियों, वर्तमान संन्यासाश्रम के भक्त-भक्ता, श्रावक-श्राविका शिष्य-शिष्या अथवा सम्प्रदाय एवं सम्प्रदायगत साधु-साध्वी के प्रति ममता-मूर्च्छा आ जाती है, या होती है तो वह पुनः ग्रन्थयुक्त हो जाता है।

अथवा पूर्वाश्रम में भुक्त अथवा साधु जीवन में अकल्पनीय वस्त्र, गन्ध, आभूषण, स्त्रियाँ, शय्या, आसन आदि कामभोगों के प्रति मूर्च्छित हो जाए तो वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है। निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट या दूर साधु अनेक अशुभ कर्मों का बन्ध तथा चिन्ता, व्याधि आदि नाना दुःखों को आमंत्रित करता है। जिस प्रकार बाह्य उपकरणों तथा सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति या ममता ग्रन्थ है, उसी प्रकार राग और द्वेष एवं मिथ्यात्व भी आभ्यन्तर ग्रन्थ है। अपने सम्प्रदाय या अपनी परम्परा के प्रति राग और दूसरे सम्प्रदाय या परम्परा के प्रति द्वेष, यह चाहे साधु जीवन में हो, चाहे गृहस्थ जीवन में भयानक ग्रन्थ है। इसी प्रकार के अनेक प्रसंग राग-द्वेष के आते हैं, जब साधु वर्ग भी उसी प्रवाह में बह जाता है, तब निर्ग्रन्थ के बदले वह ग्रन्थयुक्त हो जाता है। निर्ग्रन्थ के जीवन में क्रोध, अभिमान, माया और लोभ, ये चारों आभ्यन्तर ग्रन्थ त्याज्य हैं।

आज सामाजिक मान-प्रतिष्ठा के व्यामोह में फँसे हुए निर्ग्रन्थ दम्भ-

ग्रन्थी से मुक्त नहीं हैं। जिसे निर्ग्रन्थता स्वीकारनी है, उसके अन्तर्मन में यह नाद गूंजता रहेगा—मुझे सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं चाहिए, मुझे तो आध्यात्मिक निष्ठा प्राप्त करनी है। निर्दम्भता के बिना निर्ग्रन्थता नहीं है, यह बात निर्ग्रन्थ मुनि के हृदय में स्थिर हो जानी चाहिए।

अर्हतर्षि केतलीपुत्र ने ग्रन्थ-छेदन को निर्ग्रन्थ जीवन में अनिवार्य बताते हुए कहा है—

इह उत्तमो गंथ-छेयए (चेयए) रह-समिया लुप्पंति।
गच्छती समं वा छिद पावए ॥२॥

सयं वोच्छिदय कम्मसंचयं।
कोसारकीडेव जहाइ बंधणं ॥४॥

तम्हा एवं वियाणिय गंथजालं दुक्खं दुहावहं छिंदिय ठाइ संजमे।
से हु मुणी दुक्खा विमुच्चइ धुवं सिवं गइं उवेइ ॥५॥

अर्थात्—उत्तम निर्ग्रन्थ वह है, जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों को तोड़ता है, अथवा जानता है। जैसे रथ (शम्या) चक्र से बनी हुई रेखा को पीछे छोड़ता जाता है, इसी प्रकार आत्मारूपी रथ की गमनादि क्रिया के अनुरूप जो शुभाशुभ कर्म का बन्ध होता है, उन पाप कर्मों का छेदन—नाश करो।'

—कोशार नामक रेशम का कीड़ा जैसे स्वयंकृत बन्धन को स्वयं तोड़ता है, उसी प्रकार ग्रन्थछेदक महामुनि भी स्वयं बाँधे हुए कर्मों के बन्धन को स्वयं तोड़ता है। अर्थात्—कोशार कीट की भाँति मुनि बन्धन को तोड़कर स्वयं मुक्त होता है।

—इस प्रकार ग्रन्थजाल को दुःखरूप और दुःख का कारण जानकर निर्ग्रन्थ साधक उसका छेदन करता है और संयम में स्थित होता है। वही (ग्रन्थ-छेदक) मुनि दुःख से सर्वथा मुक्त होता है। और आयुष्य पूर्ण होने पर शाश्वत शिव रूप सिद्धगति (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। सचमुच राग-द्वेष की गांठ को तोड़ने वाला उत्तम मुनि लोकबन्धन (संसार के जन्ममरण रूप बन्धन) का त्याग करता है।

ग्रन्थ-विच्छेद क्यों और कैसे ?

हाँ, तो निष्कर्ष यह है कि जब व्यक्ति बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों से युक्त हो जाता है, तब वह शरीर की ही, अर्थात्—आत्मदेवता के मन्दिर की

ही—पूजा करने लग जाता है। आत्मा की पूजा को उपेक्षित और परित्यक्त कर दिया जाता है। इसी दृष्टिकोण को मद्देनजर रखकर अर्हत ऋषि तेतलीपुत्र ने आठवें अध्ययन में इसी ग्रन्थछेच्द पर भार दिया है, ताकि आत्मदेवता की पूजा ठीक तरह से हो सके।

पूर्वोक्त ग्रन्थ का अर्थ पुस्तक नहीं, किन्तु एक प्रकार की गांठ है जो शरीर से सम्बन्धित है। जिससे वह आत्मदेवता की सेवा-पूजा से दूर हट जाता है, केवल शरीर की ही सेवा-पूजा होती है।

आप कहेंगे कि इन गांठों (ग्रन्थों) को तोड़ने का जहाँ तक प्रश्न है, वह केवल निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी के लिए है, हम गृहस्थों के लिए नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। आप भी निर्ग्रन्थोपासक हैं—श्रमणोपासक हैं अथवा श्रमण संस्कृति के उपासक हैं। इसलिए आप भी अगर अपना जीवन सदा के लिए सुखी, सच्चिदानन्दमय बनाना चाहते हैं तो आपको भी इन ग्रंथों का अमुक सीमा में त्याग करना या इन्हें कम करना ही चाहिए। जैसे कि भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रमणोपासक को बाह्यग्रन्थों की सीमा के लिए पाँचवाँ परिग्रह-परिमाणव्रत, छठा दिशापरिमाणव्रत एवं सातवाँ उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत, आठवाँ अनर्थदण्डविरण तथा बारहवाँ आतथि-संविभागव्रत बताए हैं, तथा आभ्यन्तर ग्रन्थ को सीमित करने के लिए पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ व्रत बताया है।

यह तो निर्विवाद है कि श्रमणोपासक के जीवन में अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी कषाय तथा कुछ अंशों में नोकषाय एवं मिथ्यात्व ये १४ आभ्यन्तर ग्रन्थ कम से कम नहीं होने चाहिए। ये ग्रन्थ होते हैं तो तीव्र अशुभ कर्मबन्ध होते हैं और उनके फलस्वरूप नाना दुःख भोगने पड़ते हैं।

ग्रन्थ-छेदन का उपाय

प्रश्न यह है कि इन ग्रन्थियों का—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों के छेदन करने का उपाय क्या है। अर्हतर्षि केतलीपुत्र ने इसके लिए इस (अष्टम) अध्ययन की प्रथम गाथा में ही संकेत कर दिया है—

आरं दुगुणेण, पारं एकगुणेणं।
केतलोपुत्तेण इसिणा बुइतं ॥१॥

(बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों के छेदन का सर्वोच्च विधेयात्मक उपाय) आरं अर्थात् इस लोक में (मानव को प्राप्त) दो गुणों (ज्ञान और

चारित्र) से और पारं अर्थात्—परलोक में एक गुण (ज्ञान) से (ग्रन्थ छेदन) होता है; ऐसा तेतलीपुत्र अर्हतर्षि ने कहा है।

वास्तव में अर्हतर्षि केतलीपुत्र ने ज्ञान और चारित्र दोनों को इहलोक में ग्रन्थ-छेदन का कारण इसलिए बताया है कि ज्ञान का आत्मा से सीधा सम्बन्ध है और चारित्र का शरीर से; क्योंकि ज्ञान आत्मा का निजगुण है और वह जैसे इस भव में आत्मा के साथ रहता है, वैसे परभव में भी जाता है; किन्तु चारित्र आत्मा का गुण होते हुए भी उसका पालन क्रियात्मक होने से बहुधा शरीर से होता है। मानव शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, वह परलोक में साथ नहीं जाता। परलोक में उसके द्वारा अर्जित ज्ञान साथ में जाता है, चारित्र नहीं। 'भगवती सूत्र' में भगवान् से गौतम स्वामी द्वारा पूछा गया—

(प्र०) इहभविए भंते ! नाणे, परभविए नाणे, तदुभयभविए णाणे ?

(उ०) गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभय-भविए वि नाणे।

(प्र०) इहभविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते, तदुभय भविए चरित्ते ?

(उ०) गोयमा ! इहभविए चरित्ते, नो परभविए चरित्ते, नो तदुभय भविए चरित्ते।

(प्र०) भगवन् ! ज्ञान इस भव में आत्मा के साथ रहता है या परभव में अथवा दोनों भवों में ?

(उ०) गौतम ! ज्ञान इस भव में आत्मा के साथ रहता है, परभव में भी और दोनों भवों में भी आत्मा के साथ रहता है।

(प्र०) भगवन् ! चारित्र इस भव में आत्मा के साथ रहता है, या परभव में, अथवा दोनों भवों में रहता है ?

(उ०) गौतम ! चारित्र इसी भव में आत्मा के साथ रहता है, परभव में नहीं रहता, और न दोनों भवों में साथ रहता है।

वास्तव में, ग्रन्थ-छेद आत्मिक ज्ञान के द्वारा ही होता है।

भगवान् महावीर के मुख्य पट्टधर शिष्य गणधर गौतम स्वामी से केशी श्रमण ने पूछा—दो प्रकार के वेष एवं दो प्रकार की क्रिया करते हुए भी अर्थात्—दो प्रकार के धर्म होते हुए भी आपको विप्रत्यय (संशय) क्यों नहीं होता ? उन्होंने उत्तर दिया—

पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त-विणिच्छयं

'प्रज्ञा (सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि) से तात्विकरूप से निश्चित धर्मतत्त्व का समीक्षण करो।'

आप और हम अनेक पदार्थों को देखते हैं, बाह्य दृष्टि से देखना और वस्तु तत्त्व को गहराई से जानने-देखने में रात-दिन का अन्तर है।

सम्यक्ज्ञान में आत्मा की स्मृति रहती है "मैं अनन्त शक्तिमान आत्मा हूँ, मैं जड़ से अलग हूँ; देह मरता है, आत्मा नहीं", ऐसी स्मृति जहाँ रहती है, उस ज्ञान के समक्ष अज्ञान टिक नहीं सकता। "ग्रन्थ कौन-कौनसे हैं? वे मेरी आत्मा पर कैसे हावी हो जाते हैं? वे कैसे दूर किये जा सकते हैं? पूर्वजन्मकृत या इस जन्म में पूर्वकृतकर्मों के कारण कौन-कौन से कर्म मेरी आत्मा के विकास को रोके हुए हैं? वे कैसे दूर किया जा सकते हैं? इत्यादि सब आत्मस्मृतिमूलक सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। मैं आत्मा हूँ। ऐसी स्मृति सदैव आत्मा में रहेगी, तभी आत्मा की विशुद्धि करने की तीव्र भावना, इच्छा या विचारणा जागेगी। आत्मस्मृति आत्मा को 'स्वभाव' में स्थित रखने का कारण बनेगी। वही परमात्मा का स्मरण करायेगी।

गजसुकुमाल मुनि ने जिस दिन भगवान् नेमिनाथ से दीक्षा ली, उसी दिन उन्होंने ग्रन्थों के कारण कई भवों के बंधे हुए कर्मजाल को तोड़कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उपाय—अर्थात् आत्मा की पूर्ण विशुद्धि का उपाय भगवान् से पूछा। भगवान् ने अपने ज्ञान में उनका आयुष्य अत्यल्प देखा, उनकी आत्मशक्ति, मनोबल एवं परिणामों की धारा देखी। उन्होंने उन्हें महाकाल नामक श्मशान में एक पुद्गल पर दृष्टि एकाग्र करके कायोत्सर्ग करने और किसी भी प्रकार का उपसर्ग हो तो उसे समभाव से सहन करने का आदेश दिया।

गजसुकुमाल मुनि वहाँ आत्म-स्मृति को सतत जागृत रखकर कायोत्सर्ग में लीन हो गये। उपसर्ग कितना घोरतम था? मुण्डित मस्तक पर धधकते अंगारे रखने पर शरीर को कितनी वेदना होती है? परन्तु उन्होंने शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को आत्मसात् कर लिया था। यही कारण है कि पूर्वभवों के ग्रन्थों के कारण बंधे हुए घोरकर्मों को उन्होंने तोड़ डाला और रागद्वेष एवं कषाय रूप ग्रन्थ को आत्मज्ञान के बल पर आने ही नहीं दिया, जिसके कारण नये कर्मों का आगमन बिलकुल रुक गया और

समस्त कर्मों को क्षय करके केवलज्ञानी एवं सिद्ध-बुद्ध- मुक्त तथा अर्हतर्षि केतलीपुत्र के शब्दों में 'सर्वदुःखविमुक्त' हो गए।

यह है ग्रन्थ-छेदन का इहभव में सर्वोत्तम उपाय ज्ञान और चारित्र का संगम। परभव में तो कदाचित् तिर्यञ्च, देव या नरकगति में जाने पर चारित्र का मिलना तो अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ तो सम्यग्ज्ञान की शक्ति है, जिसके द्वारा देव आदि पुण्यवृद्धि कर सकते हैं, सर्वकर्मक्षय नहीं। आपको भी ज्ञान और चारित्र के द्वारा ग्रन्थ-छेदन का अवसर मिला है; इस उपाय को जीवन में अपनाइये और दुःखों से मुक्त बनिये। □

११

जन्म और कर्म का गठबन्धन

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

क्या आप बता सकते हैं कि इस संसार में प्राणी बार-बार जन्म क्यों लेते हैं ? एक मनुष्य यहाँ से मर कर कभी मनुष्य बनता है, कभी पशु-पक्षी, कभी नारक बनता है तो कभी देव । इस प्रकार नाना रूपों में प्राणी जन्म लेता है, उसका क्या कारण है ? क्या इस जन्म और मरण की शृंखला का कभी अन्त भी हो सकता है ? अथवा जन्म-परम्परा को शिथिल किया जा सकता है ? आपके मन में इसका समाधान जानने की उत्सुकता जाग रही होगी ? तो लीजिए इस पहेली का समाधान अर्हतर्षि महाकाश्यप नौवें अध्ययन में करते हैं। उन्हीं के शब्दों में देखिए—

'जाव जाव जम्मं, ताव ताव कम्मं
कम्मुणा भो पया सिया।
समियं उवनिच्चिज्जइ अवचिज्जइ य ॥"

—जब तक जन्म है, तब तक कर्म है ।

—कर्म से ही प्रजा उत्पन्न होती है ।

—सम्यक्चारित्र के अनुसरण से कर्मों का अपचय (शैथिल्य) होता है, और वे सम्पूर्ण रूप से क्षय भी हो सकते हैं। इस प्रकार महाकाश्यय अर्हतर्षि ने कहा।

आशय यह है कि जहाँ जन्म हुआ, वहाँ कर्म अवश्य होंगे । शरीर छोड़ते समय अगर कर्म शेष होंगे तो फिर जन्म भी अवश्य लेना पड़ेगा। इस प्रकार जन्म और कर्म का चक्र तब तक चलता रहेगा, जब तक कर्मों का सर्वथा क्षय नहीं हो जाएगा । कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाएगा, फिर मोक्ष में जीव चला जाएगा, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाएगा ।

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने अपने उद्‌गार में साथ-साथ यह भी सूचित

कर दिया है कि अगर तुम्हें भव भ्रमण समाप्त करना है तो कर्म को समाप्त कर दो।

जन्म-मरण रूप संसार (भव) में भ्रमण कराने वाला मूल कारण कर्म है। कारण के समाप्त होते ही कार्य भी समाप्त हो जाएगा। अगर कर्म परम्परा को रोकना या शिथिल करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त सम्यक्चारित्र का पालन करो। क्योंकि कर्म रहेगा तो जन्म होता रहेगा, और जन्म होगा तो फिर नये कर्मों का संचय होता रहेगा।

जन्म-कर्म के अन्योन्याश्रय सिद्धान्त का प्रतिपादन करके महर्षि महाकाश्यप ने भगवान् महावीर के कर्म सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन कर दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र (३२/७) में भगवान् महावीर ने यही कहा है—

कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं

—कर्म ही जन्म-मरण का मूल है।

ये कर्म ही हैं जो मनुष्यों को विभिन्न गतियों, और योनियों में भटकाते हैं, नाना रूप धारण कराते हैं। कर्म-परम्परा ही मनुष्य को अनेक नाच नचाती है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥३॥
एगया खत्तिओ होई, तओ चंडाल-वोक्कसो।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थुपिवीलिया ॥४॥

कर्मानुसार जीव कभी देवलोकों में जाता है, तो कभी नरकों में जाता है तथा कभी आसुर-काय में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कभी वह क्षत्रिय होता, कभी चाण्डाल और बुक्कस (शूद्र) होता है। फिर कभी कीट, पतंग, कुन्थुआ एवं चींटी के रूप में जन्म लेता। मतलब यह है कि संसार के इस नाटक का सूत्रधार कर्म है। कर्मों के कारण ही संसार के रंगमंच पर होने वाली विचित्रताएँ, घटनाएँ, त्रिविध गतियों, योनियों एवं जाति-कुलों में जन्म आदि सब है। संसार के इस भयानक नाटक के दृश्यों को समाप्त करना है तो कर्मरूपी सूत्रधार को बिलकुल हटाना होगा।

अशुभ कर्मों के अशुभ परिणाम

यह तो निश्चित है कि मनुष्य जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है। नीम का बीज बोकर कोई भी आम का फल पाना चाहे, यह हो नहीं सकता।

कोई यह कह सकता है कि कर्मों का संचय होने से क्या हानि है? हम संसार में यह देखते हैं कि एक व्यक्ति अच्छे-अच्छे कार्य कर रहा है,

फिर भी दुःखी है, अभावग्रस्त है, पीड़ित है और दूसरा उसी की जाति का, उसी के पड़ौस में रहने वाला हत्यारा, लुटेरा, डाकू या व्यभिचारी है, वह मौज में है. उसके पास पैसा भी है, सुख के साधन भी हैं। फिर अच्छे कर्म करने से क्या लाभ ?

इन दोनों प्रश्नों के सन्दर्भ में ही अर्हतर्षि महाकाश्यप शुभकर्मों (पुण्य) के फल के विषय में आगे बताएँगे, फिलहाल पाप-कर्मों के फल विषय में बताते हुए कहते हैं। इसका भावार्थ यह है—

"जब तक आत्मा कर्मों से विहीन नहीं होती, तब तक इस संसार में उसका पुनः पुनः आवागमन चालू रहता है। वह अशुभ कर्मों के फलस्वरूप नरक, तिर्यञ्च या मनुष्यगति में ऐसी जगह जन्म लेता है जहाँ उसके हाथ काटे जाते हैं, कहीं पैर काटे जाते हैं, कहीं कान छेदे जाते हैं। कहीं नाक, होठ या जीभ का छेदन होता है। कहीं सिर को दण्ड दिया जाता है, कहीं (चोर या व्यभिचारी आदि का) सिर मूंड दिया जाता है। कहीं जीव को उद्विग्न करके कूटा-पीटा जाता है; कहीं उसका तर्जन किया (झिड़का) या ताड़न (मारा-पीटा या हैरान) किया जाता है। कहीं पर प्राणियों का वध किया जाता है तो कहीं उसे बंधनों में जकड़ा जाता है। कहीं उसे चारों ओर से (हैरान परेशान करके) क्लेश (कष्ट) दिया जाता है।"

"कहीं शृंखला और बेड़ी के बन्धन हैं तो कहीं जिंदगी भर बन्धन ही बन्धन है। कहीं युगलरूप में शृंखला में जकड़ा जाता है। कहीं सिकोड़ कर, मोड़कर कष्ट दिया जाता है। कहीं किसी के हृदय (वक्षस्थल) उखाड़े जा रहे हैं। कहीं किसी के दाँत तोड़े जा रहे हैं। कहीं किसी वृक्ष की शाखा से बांधा जा रहा है। कहीं किसी को शृंखला से बांध कर उलटा लटकाया जाता है। कहीं किसी को घसीटा जा रहा है। कहीं किसी को घाणी में पीला जा रहा है। कहीं किसी को पूंछ से बांध कर चमेड़ी उधेड़ी जाती है, कहीं आग लगाकर जला दिया जाता है। किसी को आहार-पानी देना बंद कर दिया जाता है। कहीं कोई दुर्गति, दरिद्रता, फजीहत आदि के दुःख से पीड़ित है, कोई भोजन के अभाव में तो कोई अभोज्य भोजन के कारण दुःखी है। कोई दिन-रात पारिवारिक या आर्थिक चिंताओं से व्यथित है।"

इसके अतिरिक्त इस संसार में जन्म लेने के कारण नाना प्रकार के पारिवारिक ममत्व सम्बन्ध बंध जाते हैं। कहीं लोगों से वैसे ही मोह-ममतापूर्ण सम्बन्ध जुड़ जाता है। उनके संसर्ग से भी अनेक प्रकार के दुःख सताते हैं, उनका प्रतिपादन भी अर्हतर्षि महाकाश्यप करते हैं—

"किसी के भाई की मृत्यु हो जाती है, किसी की बहन की मृत्यु होती है, कभी पुत्र-पुत्री या पत्नी की मृत्यु होती है अथवा अन्य स्वजन-परिजन की मृत्यु होती है। अथवा उनको दरिद्रता, दुर्भोजन, मानसिक चिन्ताएँ, अप्रिय-संयोग एवं प्रिय का वियोग होता है या अपमान, घृणा, पराजय या अन्य अनेक दुःख व दुश्चिन्ताएँ होती हैं तो स्वयं दुःख एवं दुश्चिन्ताओं का अनुभव करते हुए आत्मा अनादि-अनन्त दीर्घ-मार्गयुक्त चातुर्गतिक संसार-सागर में परिभ्रमण करते हैं।"

यह है जन्म और कर्मों के गठबन्धन का दारुण परिणाम ! ये दुःख, जो गिनाए गए हैं, वे तो प्राय मनुष्यभव में मिलते हैं, नारक और तिर्यञ्च-गति के अगणित दुःखों की करुण कहानी सुनकर तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

उत्तराध्ययन (अ. १९) में मृगापुत्र ने नरक के दुःखों का वर्णन करते हुए कहा है—"नरक में कितने-कितने भयंकर कष्ट मैंने सहे हैं। नरक की कुम्भी में मैं अनेक बार गिराया और पकाया गया हूँ। नरक की प्रचण्ड अग्नि में मैं अनेक बार जला हूँ। नरक के शाल्मली वृक्ष के तलवार जैसी तीखी धार वाले उन पत्तों से अनेक बार मेरे अंग-प्रत्यंग काटे गए हैं। इसे भालों में पिरोया गया है। यन्त्रों (कोल्हू या घाणी) में पीला गया है। वहाँ इसकी चीख-पुकार या कष्टकथा सुनने और आश्वासन देने वाला कोई नहीं था।"

एक कवि ने पाप-कर्मों के कारण होने वाले जन्म-मरण रूप संसार के विविध दुःखों की करुणकथा-गाथा गाते हुए कहा है—

दुनिया दुःखकारी, तू छोड़ सके तो छोड़; दुनिया० ॥ध्रुव॥
जन्म-मरण का दुःख अनन्ता, दुखड़ा जैसा सुई चुभन्ता।
साढ़े तीन करोड़ ॥ दुनिया दुःखकारी० ॥

तो नरकगति और तिर्यञ्चगति के दुःखों की कहानी तो कुछ परोक्ष हो सकती है, किन्तु मनुष्यगति के दुःख भी कम नहीं हैं। पापकर्मवश मनुष्य मनुष्यगति में भी भयंकर दुःखों से घिरा रहता है। देखिये कवि क्या कहता है—

किसी के घर में पुत्र कंस-सा; किसी के घर में नार कर्कशा
होती माथा फोड़ ॥ दुनिया० ॥
किसी के घर में सासू लड़ती: ननन्द-भौजाई झगड़ा करती।
बोले कड़वा बोल ॥ दुनिया० ॥

सार यह कि जब तक कर्म है, तब तक किसी न किसी रूप में दुःखों के प्रहार आत्मा को सहने ही पड़ेंगे। एक गाथा में अर्हतर्षि महाकाश्यप कह रहे हैं—

कम्ममूलमनिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं।
कम्ममूलाइं दुक्खाई, कम्ममूलं च जम्मणं ॥१॥

"संसार के समस्त देहधारियों का भवभ्रमण (अनिर्वाण) कर्मजन्य है, समस्त दुःखों का मूल कर्म है और जन्म भी कर्म का ही मूल है।"

निष्कर्ष यह है कि चारगति रूपी संसार में जन्म लेना ही दुःख रूप है। जन्म के साथ ही भूख, बीमारी, शोक, वियोग, बुढ़ापा, और मृत्यु आदि के दुःख जुड़े हुए हैं।

कोई यह कहे कि मेरे पास सोना-चाँदी प्रचुर मात्रा में है, धन भी बहुत है, अनेक नौकर-चाकर हैं, मेरा भरा-पूरा परिवार, शरीर भी स्वस्थ एवं सुन्दर है, अनेक स्वजन सम्बन्धी हैं, चल-अचल सम्पत्ति भी अधिक है, सुख पूर्वक जीवन जीने के एक-से एक बढ़कर साधन हैं, फिर मुझे कर्म कैसे कष्ट दे सकते हैं ?

किन्तु भाई ! कुदरत का नियम है—पापकर्म जब उदय में आते हैं तब धनी हो या निर्धन, विद्वान् हो या अविद्वान्, राजा हो या रंक, स्वस्थ हो या रोगी; किसी को नहीं छोड़ते। यह तो मनुष्य का झूठा गर्व है कि कर्म मेरा क्या कर सकते हैं ? पापकर्म जब फल देने आते हैं, तब चाँदी, सोना, रत्न आदि कितने ही लुटा दे, वह फलभोग से बच नहीं सकता।

भगवान् महावीर जैसे दीर्घतपस्वी को पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप कानों में कील ठोके गए, पैरों पर खीर पकाई गई, अनार्य पुरुषों ने घोर कष्ट दिये।

सीता, अंजना, दमयन्ती आदि सतियों को पूर्वकृत अशुभ कर्म के उदयवश घोर कष्ट एवं यातनाएँ सहनी पड़ीं। स्कन्दक मुनि को अपने पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप मरणान्तकष्ट मिला। उसमें निमित्त बना उनका ही बहनोई राजा।

अतः चाहे कोई तीर्थंकर हो, साधु-साध्वी हो, सती हो या शासक हो, धनिक हो या विद्वान् हो; कर्म किसी प्रकार की रियायत नहीं करते।

कहा भी है—

यह कर्मों का फल तो पाना पड़ेगा,
चाँदी लुटाले, चाहे सोना बहाले,
किस्मत का लिखा दुःख तो उठाना पड़ेगा ॥
न कर्मों के आगे, कोई पेश चलती;
कर्मों की रेखा, टाले न टलती।
यह हिसाब तो हँसके या रोके, सबको चुकाना पड़ेगा ॥१॥

कभी धूप यहाँ पे, कभी यहाँ पे छाया।
समझ ले यह कर्मों की सारी माया।।
धूप-छाँव के इस खेल में तो हरदम तुझको मुस्काना पड़ेगा।।२।।

सचमुच, कर्मों का खेल निराला है। इस खेल के मैदान में जो सच्चा खिलाड़ी है, वह तो कर्मों के आगमन के समय सावधान रहता है और प्राचीन कर्मों को तप, जप, व्रत, नियम आदि धर्माचरण द्वारा काट देता है अथवा शिथिल बना देता है। निकाचित रूप से न बँधे हुए हों, तो उन अशुभकर्मों को शुभ में परिणत कर डालता है। परन्तु जो कच्चा खिलाड़ी है, वह हर शुभाशुभ कर्म के उदय के समय हार खा जाता है, असावधान होकर निमित्तों को कोसने लगता है। अपने उपादान का विचार करके उस कर्म का फल भोगकर क्षय करने का पुरुषार्थ नहीं करता।

मनुष्य के उत्थान और पतन, सुख और दुःख, उन्नति और अवनति, जीवन और मरण, बाल्य, युवा और वृद्धत्व, धनी और निर्धन, बुद्धिमान् और मंदबुद्धि आदि सभी अवस्थाओं का मूल कारण कर्म है।

जैसे कर्म : वैसा शरीर और भोग

अब प्रश्न होता है कि एक ही जगह, एक ही समय में एक ही मां के उदर से जन्मे हुए दो लड़कों की आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, बुद्धि, आदि में विषमता क्यों है? इसी प्रश्न का समाधान अर्हतर्षि महाकाश्यप करते हैं—

जहा अंडे जहा बीए, तहा कम्मं सरीरिणं।
संताणे चेव भोगे य, नाणावणत्तमिच्छइ।।६।।

निव्वत्ती वीरियं चेव, संकप्पे य अणेगहा।
नाणा-वण्ण-वियक्कस्स, दारमेयं हि कम्मुणो।।७।।

—जैसा अंडा होता है वैसा ही पक्षी भी होता है; जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष होगा। इसी प्रकार जैसे कर्म होंगे, आत्मा को वैसा ही शरीर मिलेगा। कर्म ही के कारण संतति में और भोग में नानात्व दिखाई देता है।

—निर्वृत्ति (रचना), वीर्य (पुरुषार्थ—पराक्रम), अनेकविध संकल्प, नाना प्रकार के वर्ण और वितर्कों का द्वार कर्म है।

वस्तुतः यह संसार विचित्रताओं और विरूपताओं का भण्डार है। इसमें कोई भी प्राणी एक-सरीखा नहीं मिलेगा। एक ही माँ के उदर से पैदा हुए दो लड़कों में एक मूर्ख है तो एक विद्वान्। वैदिक दर्शन इस

विविधता का कारण ईश्वरेच्छा बताता है, जबकि जैन दर्शन स्वयं प्राणी को ही इसके लिए उत्तरदायी बताता है। जैसे मयूर के अंडे से मयूर ही पैदा होता है, आम की गुठली से भी आम ही होता है इसी प्रकार जिसके जैसे कर्म होंगे, उसे वैसा ही शरीर मिलेगा। उसी के अनुरूप देहधारियों को नाना प्रकार के भोग मिलेंगे। विविधता और विचित्रता आत्मा के द्वारा पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों पर आधारित है।

हर व्यक्ति की शारीरिक रचना, शक्ति और संकल्प (मनोभाव) अलग अलग होते हैं। आत्मा के जैसे संकल्प होंगे, उसी दिशा में उसकी शक्ति लगेगी। संकल्प और शक्ति से ही मानव का जीवन-निर्माण होता है। सत्संकल्प और शक्ति का सत्प्रयोग मानव का सद्रूप में ढालते हैं। आत्मा सत्संकल्प करता है तो वीर्य शक्ति उसकी सहचारिणी बन जाती है। और वही शक्ति एवं सत्संकल्प महावीर और हनुमान जैसे महामानव बनाते हैं। असत्संकल्प और असतशक्ति (शक्ति का दुरुपयोग) मानव को दानव बना देती है। जैसे रावण को उसके दुःसंकल्प ने ही रावण बनाया।

कर्मों का आगमन क्यों और कैसे ?

एक व्यक्ति मिर्च खाए और चाहे कि मुँह न जले, यह हो नहीं सकता। आप अपने घर का दरबाजा खुला रखें और फिर कहें कि बाहर का कचरा या धूल न आए, यह भी असंभव है। आप कभी यह सोचते हैं कि आप प्रमादवश अपनी आत्मा के द्वार—आस्रव द्वार खुले रखते हैं, जिनसे कर्मों का धूल या कचरा बहुत तेजी से घुस जाता है। यह भी सोचिये कि आपकी आत्मा में कितनी जगह से कर्मों का प्रवाह आ रहा है ? आप बारीकी से आत्म-निरीक्षण करें तो पता लगेगा कि प्रतिक्षण आत्मा में अनन्त-अनन्त कर्मों का प्रवाह आ रहा है। जब इसका फल भोगना पड़ेगा तब आपको अत्यन्त कष्ट का अनुभव होगा। अगर आपको आत्मा में कर्मों के प्रवेश होने का भय है तो आप इन द्वारों को तत्काल बन्द कीजिये। इन द्वारों को बन्द किये बिना कर्मों का प्रवाह रुक नहीं सकता। इन प्रवाहों के रुके बिना कर्मों की भर्ती कम नहीं होगी। भले ही आप कर्मों की निर्जरा करते हों, परन्तु पहले आपका कार्य होगा—इन आस्रव के द्वार बन्द करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच आस्रव द्वार हैं, कर्मों के आगमन के दरवाजे हैं। बाहर आंधी चल रही और कमरे में धूल जमी हुई है, ऐसे समय में समझदार व्यक्ति पहले कमरे का दरवाजा बन्द करता है, ताकि बाहर से धूल आनी बंद हो जाए, उसके बाद वह

कमरे के अन्दर पहले से जमी हुई धूल या कमरे को झाड़ू आदि से बाहर निकालता है। इसी प्रकार सर्वप्रथम व्यक्ति को बाहर से आने वाले कर्मों (आस्रवों) के द्वार बंद करने चाहिए, तत्पश्चात् पहले से बंधे हुए कर्मों का निर्जरा के द्वारा क्षय करके आत्मा से पृथक् करना है।

पुण्यास्रव और पापास्रव

इन पाँच आस्रव द्वारों की संक्षिप्त पहचान आपको बताता हूँ। पहला आस्रव द्वार है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व सबसे बड़ा दरवाजा है। यह प्राणी को अनेक उलटी और असत् कल्पनाओं में खींच ले जाता है। अविरति प्राणी को किसी भी प्रकार के पाप का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करने नहीं देती। कषाय आत्मा को क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त बनाता है, तथा मन वचन काया के दुष्टयोग पाप में प्रवृत्त करते हैं और प्रमाद आपको विषयों में आकर्षित करके धर्म साधना से विमुख करता है। ये पाँच पापास्रव हैं, इनको रोकना अनिवार्य है।

अब रहे पुण्यास्रव ये भी कथंचित् त्याज्य हैं, क्योंकि पुण्यास्रव भी पापास्रव की तरह संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। किन्तु इनको छोड़ने के लिए प्रयत्न करने की जरूरत नहीं रहती। पुण्यकर्म तो प्राणी भोगते-भोगते या एकदम छोड़ सकता है। कठिन है पापकर्म का त्याग! इसलिए सभी शास्त्र पापकर्म का त्याग करने का ही उपदेश देते हैं।

अर्हतर्षि महाकाश्यप कहते हैं—

संसार-संतईमूलं पुण्णं पावं पुरेकडं।।
पुण्ण-पाव-निरोहाय सम्मं संपरिव्वए।।२।।
पुण्ण-पावस्स आयाणे परिभोगे यावि देहिणं।
संतई-भोग-पाउग्गं पुण्णं पावं सयंकडं।।३।।

—पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-संतति (भवपरम्परा) के मूल हैं। पुण्य और पाप के निरोध के लिए साधक सम्यक् प्रकार से (यतनापूर्वक) विचरण करे।

—देहधारी आत्मा को पुण्य और पाप के आदान (ग्रहण) और उपभोग में योग्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है, जो कि स्वकृत पुण्य (शुभकर्म) और पाप (अशुभकर्म) के फलस्वरूप है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

रागो य दोसो विय कम्मबीयं।
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति। —३२/७

—राग और द्वेष, ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है।

वास्तव में, मन के कषाय-विषय-युक्त आवेगों और विकारों से ही कर्मों का बन्धन और सिलसिला आगे के लिए चलता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र कहा गया है—

'पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं।
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।' ३२/९८

—मन की दुष्टता—उद्वेगशीलता से जीव कर्मों को खींचता है, वे कर्म आत्मा के साथ लगाकर फिर दुःखदायी फल देते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलान् आदत्ते।

स बन्धः। —(अ० ८/२—३)

कषाययुक्त परिणति से जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, और यह ग्रहण ही कर्मों का बन्ध है।

पुण्य और पाप दोनों बन्ध के कारण हैं, क्योंकि दोनों आस्रव हैं। दोनों ही बन्धन हैं। एक सोने की बेड़ी है तो दूसरी लोहे की। एक से भौतिक सुख मिल सकता है, किन्तु वह भी क्षणिक है और उसका परिणाम भी दुखरूप ही होता है। यात्री वन से पार होता है, तब महकते गुलाब के फूल उसके मन-मस्तिष्क को सुरभित और मस्त बना देते हैं। जबकि कांटे पैर में चुभकर तन-मन को दुःखित कर डालते हैं। कांटों में तन उलझता है तो फूलों में मन। दोनों ही उलझनें हैं, और दोनों ही बंधन हैं, रुकावट है। दोनों ही लक्ष्य से दूर करते हैं। फूलों से सुगन्ध भले ही मिल जाए, लक्ष्य को निकट लाने में असमर्थ हैं। लक्ष्य का साधक मुमुक्षु जितना शूल से बचेगा, उतना ही या उससे भी अधिक फूल से भी बचेगा, क्योंकि शूल की चुभन थोड़ी ही देर रोकती है, मगर फूल की सौरभ तो मन को ही बाँध लेती है। मन का बन्धन, तन के बंधन से भी अधिक मजबूत होता है। अतः साधक को मोक्षमार्ग में बाधक दोनों ही बन्धन तोड़ फैंकने हैं।

पुण्य-पाप के लिए जिम्मेदार : स्वयं

पुण्य का फल मधुर है, और पाप का फल कडुआ। दोनों के विपाक के रूप में प्राणी को शुभ या अशुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी मानव पुण्य के मधुर सुस्वादु (अभीष्ट) फल प्राप्त होने पर आसक्तिपूर्वक भोगता है, तो और नये कर्मबन्धन कर लेता है। उसका अहं पुण्यफल भोग के समय कहने लगता है—मैंने अपने श्रम से इसे अर्जित किया है, दूसरे का इस पर कोई अधिकार नहीं। यदि किसी मुकद्दमे में विजय

प्राप्त हो जाएगी तो कहेगा—मेरी बुद्धि से यह प्राप्त हुई है, किन्तु हार मिलेगी तो वकील को, गवाह को या न्यायाधीश को दोष देगा, या कोसेगा।

मनुष्य की आदत है, वह अपने फायदे की चीज तो स्वयं लेना चाहता है किन्तु घाटे की चीज दूसरे के शिर मंढ़ देता है। एक नौजवान मुसलमान बीवी का शौहर गुजर गया। कुछ दिन बाद उसने, दूसरा शौहर किया। तो उनका रिवाज था कि दूसरे शौहर के साथ जाने से पहले घर-मोहल्ले की औरतें इकट्ठी होतीं और वह बीवी अपने पहले शौहर का नाम लेकर रोती। बीवी ने पहले शौहर का नाम लेकर रोना शुरू किया—

"हाय मेरे छुट्टन मियां, तुमने इतनी बढ़िया पोशाकें बनवाईं उनको अब कौन पहनेगा ?

होने वाला शोहर बोला—फिकर मत कर, हम पहनेंगे ?

बीबी बोली—हाय मियां, तुमने कितनी बढ़िया घोड़ी खरीदी, इस पर अब कौन चढ़ेगा ?

नया शौहर बोला—तू फिकर काहे को करती है, हम चढ़ेंगे।

यों चार पाँच बार सवाल-जबाव के बाद बीवी बोली—हाय मेरे मियां, तुमने पाँच हजार का कर्जा सिर पर छोड़ दिया उसको कौन चुकायेगा ?

अब मियां झेंप गये, पास में बैठे लोगों से बोले—अरे, मियां, बारी-बारी सभी बोलो, मैं अकेला कहाँ तक बोलूंगा ?

तो मनुष्य की आदत है, "मीठा-मीठा हप्प और कड़वा-कड़वा थू।" पुण्य का फल खुद हड़पना चाहता है और पाप का फल दूसरों के सिर मंढ़ना। पर यह न्याय कुदरत के दरबार में चल नहीं सकता। यहाँ पाप और पुण्य सभी अपने करने वाले के सिर पड़ते हैं। इसलिए जैन दर्शन कहता है, पाप के फल भोगते समय घबरा मत, और पुण्य के फल भोगते समय इतरा मत !

पुण्य के कल्पवृक्ष को सेवा, दया, परोपकार आदि के जल से सींच, ताकि वह हरा-भरा रह सके। अन्यथा, तेरा अर्जित पुण्य भी शीघ्र नष्ट हो सकता है। दूसरी ओर मानव पाप (अशुभकर्म) का फल भोगते समय छटपटाता है, बेचैन हो उठता है, निमित्तों को कोसने लगता है, उन पर आक्रोश करता है, चीखता-चिल्लाता है। उक्त निमित्त को अपने दुःख का कारण मानकर उसे नष्ट करने पर तुल जाता है, किन्तु पाप कर्म की जो जड़ है, उसे नष्ट नहीं करता, यही मनुष्य का अज्ञान है। कर्मवाद कहता है कि जिस तरह पुण्यफल भोगते समय तू स्वयं को जिम्मेवार मानता है, उसी तरह

पाप का फल भोगते समय भी स्वयं (उपादान) को जिम्मेवार मान। पाप के फल से भागने वाले मानव से कर्मवाद कहता है—तू जिस विषफल से भागना चाहता है, उसके बीज तो एक दिन तेरी ही आत्मा ने बोए थे, फिर दूसरे पर रोष और दोष क्यों ?

आस्रवों के माध्यम से बन्ध और उसके कारण

अगर आस्रवों को रोका नहीं जाता है, तो वे इन (मिथ्यात्वादि) पाँच द्वारों से आते हैं और आत्मा इन्हें ग्रहण कर लेता है। यही बात अर्हतर्षि महाकाश्यप कहते हैं—

मिच्छत्तं अनियत्ती य, पमाओ यावि णेगहा।
कसाया चेव जोगा य, कम्मादाणस्स कारणं ॥५॥

मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, अनेकविध प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच कर्म ग्रहण करने के कारण हैं। ये पाँच कर्मबन्ध (ग्रहण) करने के माध्यम हैं।

तत्त्वार्थसूत्र (अ.८ सू.१) में भी इसी का समर्थन किया गया है—

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।

—आत्मा से कर्म का बन्ध होने में ये पांच मुख्य हेतु हैं।

१. मिथ्यात्व का लक्षण है—व्यवहार दृष्टि से देव, गुरु और धर्म पर या तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा या विपरीत श्रद्धा करना, अथवा हठाग्रहपूर्वक पदार्थ को एकान्तरूप से मानना भी मिथ्यात्व है। निश्चय दृष्टि से—आत्मा की शुद्ध स्वभाव दशा से हटकर विभाव दशा में आनन्द मानना मिथ्यात्व है।

२. अनिवृत्ति का लक्षण है—अविरति अथवा अव्रत। हिंसा, असत्य आदि पापों में प्रवृत्त होती हुई आत्मा को न रोकना व्यावहारिक दृष्टि से अविरति है।

३. प्रमाद का लक्षण है—मद्य (मद), विषय, कषाय आदि से प्रेरित होकर अपनी स्वभाव दशा को भूल जाना और व्रतों में अतिचार(दोष)लगाना।

४. कषाय का लक्षण है—जिसके द्वारा जन्म-मरणरूपी भव-परम्परा की वृद्धि हो। जैसे क्रोधादि विकार—क्रोध, मान, माया और लोभ।

५. योग—मन, वचन, काय की चंचलता को योग कहा जाता है।

बन्धुओ !

ये पांच आस्रव ही, जब रोके नहीं जाते, तब वे आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह एकीभूत होकर बंध जाते हैं। मुमुक्षु साधक को चाहिए कि वह आत्मा को अनन्त शक्तिशाली मानकर बंधे हुए कर्मों को तोड़े और आत्मा से इन्हें पृथक करे। तभी वह जन्म और कर्म के दुःखदायी गठबन्धन से मुक्त हो सकता है। □

१२

जन्म-कर्म-परम्परा की समाप्ति के उपाय

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

पिछले प्रवचन में हमने चर्चा की थी कि जन्म का कारण है कर्म। जन्म लेकर आत्मा कर्म करता है, और कर्म के कारण आत्मा मृत्यु प्राप्त करके पुनः परलोक में जाता है। वहां फिर नया एक शरीर धारण करता है, फिर कर्म करता है। इस प्रकार जन्म-कर्म-मृत्यु—यह चक्र चलता ही रहता है।

अब आज के प्रवचन में अर्हतर्षि महाकाश्यप के शब्दों में हम यह बताना चाहते हैं कि इस जन्म-मरण के हेतुभूत पुण्य-पाप रूप कर्म को समूल नष्ट कैसे किया जा सकता है ?

यद्यपि इस अध्ययन का विषय बहुत गूढ है। कर्मनिरोध के उपाय—संवर और कर्मक्षय के साधन निर्जरा (तप) का विवेचन जैनदर्शन में बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है, किन्तु यह समझना बहुत जरूरी है। सम्भव है कुछ बातें आपकी समझ में न आये तो पुनः पूछ लेवें, या बार-बार विचार करें तो बन्धनमुक्ति का यह सिद्धान्त आपकी समझ में आ जायेगा।

पुण्य-पाप विनाशक : संवर और निर्जरा

> **संवरो निज्जरा चेव पुण्ण-पाव-विणासणं।**
> **संवरं निज्जरं चेव सव्वहो सम्ममायरे ॥४॥**

—संवर और निर्जरा, ये दोनों पुण्य और पाप के विनाशक हैं। अतः मुमुक्षु साधक संवर और निर्जरा का सम्यक् प्रकार से आचरण करे।

आगमों में संवर और निर्जरा के लिए एक सुन्दर रूपक देकर समझाया गया है। आत्मा (जीव) एक सरोवर है, उसे कर्म रूपी जल से रहित करना है। अभी उसमें पुण्य और पाप का मीठा और कड़आ जल

भरा है। उसे जल से खाली करना है, किन्तु जब तक जल के आने के दरवाजे (मोरियां) खुले हैं, तब तक सरोवर (जीव रूपी तालाब) कर्मरूपी जल से खाली होकर सूखेगा नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में सरोवर को सुखाने का उत्तम उपाय बताया गया है—

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवेण य कम्मेण सोसणा भवे॥ —३२/५

जैसे विशाल तालाब में पानी आने का मार्ग (मोरी) रोक दिया जाए और बाद में उसका पानी उलीचा जाए तथा ताप की व्यवस्था की जाए तो वह महा तालाब (विशाल सरोवर) क्रमशः सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी तालाब में पुण्य-पापरूपी आस्रव (कर्मों के आगमन) का द्वार रोक दिया (संवर किया) जाए और फिर बारह प्रकार के तप से, परीसह-सहन से उसे ताप दिया जाए और उलीचा जाए (निर्जरा की जाए) तो कर्मरूपी जल सूख सकता है।

संवर और निर्जरा के कार्य

अब अर्हतर्षि महाकाश्यप संवर और निर्जरा का स्वरूप और उसकी गतिविधि के विषय में कहते हैं—

एस एव विवण्णासो संवुडो संवुडो पुणो।
कमसो संवरो नेओ, देस-सव्व-विकप्पिओ॥८॥

सोपायाणा निरादाणा विपाकेयर संजुया।
उवक्कमेण तवसा निज्जरा जायए सया॥९॥

संततं बंधए कम्मं, निज्जरेइ य संततं।
संसारगोयरो जीवो विसेसो उ तवोमओ॥१०॥

अर्थात्—यही (जन्म-कर्म-परम्परा) आत्मा की विपन्न अथवा विभाव दशा है। इस विपन्न दशा को समाप्त करने के लिए साधक पुनः पुनः संवर करके अपनी आत्मा को आंशिक अथवा पूर्णरूप से संवृत करता है।

दूसरे शब्दों में साधक अपनी आत्मा को—आत्मिक प्रवृत्तियों को संवरयुक्त बनाकर कर्मों के आस्रव का निरोध करता है।

—(तत्पश्चात् अर्थात् संवर के उपरान्त साधक निर्जरा में प्रवृत्त होता है।) वह निर्जरा आदान सहित (सोपादाना) अथवा आदान रहित (निरादाना) भी होती है। साथ ही विपाक सहित (सविपाक) और विपाकेतर (अविपाक—विपाकेतर) भी होती है। इसके अतिरिक्त सोपक्रम (उव-

क्कम) निर्जरा भी होती है और निरुपक्रम भी । किन्तु सोपक्रम निर्जरा तपस्या के द्वारा होती है ।

—संसारी जीव के सतत कर्मों का बंधन होता है, तथा निर्जरा भी होती है । किन्तु विशेष कर्म निर्जरा तप द्वारा ही होती है । अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति में सहायक कर्म-निर्जरा का प्रमुख हेतु तप है ।

प्रस्तुत तीन गाथाओं में अर्हतर्षि महाकाश्यप ने साधक को संवर और निर्जरा की प्रेरणा दी है । वे कहते हैं कि मुमुक्षु साधक बार-बार संवर करे यानी अशुभ संकल्पों, असत् विचारों से दूर रहे ।

संवर के बाद वे निर्जरा की प्रेरणा देते हैं । साथ ही निर्जरा के कई भेद भी बताते हैं । इस भेद बताने का कारण यह है कि संसारी जीव को निर्जरा भी सतत होती रहती है; किन्तु वह मोक्ष-प्राप्ति में सहायक नहीं होती । इसलिए साधक को विशेष निर्जरा—तपोजन्य निर्जरा में प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

बन्धुओ ! संवर और निर्जरा का विषय थोड़ा गहन है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख कारण होने से महत्वपूर्ण भी बहुत है । साथ ही इसका महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि सामान्य संसारी जीव को भी सतत निर्जरा होती रहती है ।

अत: मोक्ष-प्राप्ति में सहायक निर्जरा तथा सामान्य निर्जरा का भेद भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है । साथ ही यह भी आवश्यक है कि किस प्रकार निर्जरा करता हुआ, कर्मबंध को रोकता हुआ, कर्मों के निबिड़ बंधनों को तोड़ता हुआ आत्मा क्रमश: मोक्ष की ओर गति-प्रगति करता है, अपनी उन्नति करता है, इसे भी आप हृदयंगम करलें ।

संवर का स्वरूप

बंधुओ ! अर्हतर्षि महाकाश्यप ने सर्वप्रथम संवर का वर्णन किया है । मैं भी उसी क्रम से आपको समझाता हूँ ।

यद्यपि सबसे पहले मुझे आपको संवर का लक्षण, परिभाषा आदि बताने चाहिए लेकिन आप विषय को सरलता से समझ सकें इसलिए एक दृष्टान्त देता हूँ—

एक कछुआ है । वह नदी या तालाब के किनारे रेती में चुपचाप पड़ा हुआ है । उसी समय उसे शृगाल जैसे मांसभोजी पशु देख लेते हैं, वे उस पर आक्रमण करते हैं । किन्तु कछुआ तत्काल अपनी गरदन, हाथ-पैर आदि कोमल अंगों को समेट लेता है और इस प्रकार उन मांसभोजी पशुओं के आक्रमण को विफल कर देता है ।

इसी प्रकार मुमुक्षु साधक पर भी जब असत्कल्पनाओं, अशुभविचारों, कषायों, आवेगों का आक्रमण होता है तो वह भी अपनी चित्तवृत्तियों को समेट लेता है, बहिर्मुखी भावधारा को अन्तर्मुखी बना लेता है, आत्मा के सद्गुणों ज्ञान-दर्शन-चारित्र, अहिंसा, समता आदि में लीन कर देता है, राग-द्वेष से परे हट जाता है और इस प्रकार वह कषाय आदि आस्रवों के आक्रमण को विफल कर देता है। हिंसा आदि पापों को—आस्रवों को अपने आत्मिक राज्य में प्रवेश नहीं करने देता।

इसी तथ्य को तत्वार्थसूत्र में इन शब्दों में कहा गया है—

आस्रवनिरोधो सवर:

आस्रव—यानी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को—उपलक्षण से हिंसादि पाँचों पापों, स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों के विषयों, कषायों आदि में मन-वचन काया—तीनों योगों को न जाने देना संवर है।

इसका सीधा सा अभिप्राय यह है कि संवर द्वारा कर्मों का आगमन रोक दिया जाता है। कर्मों के आगमन को रोकने की क्रिया—आत्मिक प्रवृत्ति का ही नाम संवर है।

अभी मैंने आपके सामने उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा कही थी। उसमें एक विशाल तालाब के रूपक से बताया गया है कि जलागम को निरुद्ध कर देना चाहिए। इसमें मैंने मोरियों के दृष्टांत से विषय को स्पष्ट किया था। मोरियों को रोककर जल के प्रवाह को अवरुद्ध करने का दृष्टान्त दिया था।

बन्धुओ! वह जलागमन के द्वार अथवा मोरियां ही जल के आगमन के प्रमुख कारण हैं। विशाल तालाब को खाली करने के लिए, पहले इन द्वारों को रोकना आवश्यक है।

अब इस दृष्टान्त को आध्यात्मिक क्षेत्र में घटाइये। आत्मा ही वह विशाल तालाब है। उसमें कर्मरूपी जल भरा हुआ है। कर्मरूपी जल उन मोरियों से निरंतर आ रहा है। ये मोरियाँ ही आस्रव हैं। अब अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के लिए मुमुक्षु साधक सबसे पहले इन मोरियों रूप आस्रव को रोकता है। दूसरे शब्दों में संवर करता है।

संवर के भेद

बन्धुओ! अब आप संवर के भेद भी समझ लीजिए। जैसा कि मैंने अभी आपको बताया—आस्रव का निरोध ही संवर है।

इसका सीधा सा अभिप्राय यह है कि जितने कारण आस्रव के हैं,

उनके प्रतिपक्षी उतने ही कारण संवर के हैं और ये संवर के भेद कहे जाते हैं। अपेक्षाभेद से इनकी संख्या में भी भेद पड़ गया है। कहीं संवर के २० भेद बताये हैं तो कहीं ५७ और ५ भेद ही किये हैं।[1]

यद्यपि अपेक्षाभेद से संवर के कितने ही प्रकार गिना दिये जायँ किन्तु प्रमुख रूप से संवर के भेद ५ ही हैं। इन ५ भेदों का थोड़ा-सा संक्षिप्त वर्णन

---

१. **संवर के बीस भेद**—(१) सम्यक्त्वसंवर (२) विरति संवर, (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर (५) अयोग संवर (६) अहिंसा संवर—जीवों पर दया के भाव रखना (७) सत्य संवर (८) अदत्तादान संवर (९) ब्रह्मचर्य संवर (१०) ममत्वत्याग संवर—परिग्रह के प्रति ममत्व एवं मूर्च्छा न रखना (११—१५) पाँचों इन्द्रियों का संवर—इन्द्रियों के विषयों की ओर मन को न जाने देना। (१६—१८) मन-वचन-काय—तीनों योगों को वश में रखना, इनका संवर करना (१९) भाण्डोपकरणों को यतना से सावधानीपूर्वक उठाना और रखना तथा (२०) सूई, तृण आदि तुच्छ वस्तुओं के प्रति भी सभी प्रकार की सावधानी रखना।

संवर के ५७ भेद—संवर के ५७ भेद दो अपेक्षाओं से बताये गये हैं। प्रथम अपेक्षा से—(१—५) पाँच समिति, (६—८) तीन गुप्ति, (९—१८) दश प्रकार का श्रमण धर्म, (१९—४०) बाईस परीषहों पर विजय, (४१—५२) अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, (५३—५७) सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का पालन करना। जैसा कि कहा है—

(क) आस्रव-निरोधः संवरः। स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः।
—तत्त्वार्थसूत्र ९/१—२

(ख) समिई-गुत्ति-परीसह-जईधम्मो-भावणा चरित्ताणि।
पण-ति-दुबीस-दस-बारस-पंचभेएहिं सगवन्ना।'

—नवतत्वप्रकरण, गाथा २५

दूसरी अपेक्षा से ५७ भेद इस प्रकार भी हैं—(१—५) पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का त्याग, (६—१७) बारह प्रकार की विरति, (१८—४२) पच्चीस प्रकार की कषाय—अनंतानुबंधी आदि की अपेक्षा से क्रोध, मान, माया, लोभ—ये १६ प्रकार की कषाय और हास्य आदि ९ प्रकार की नोकषाय—इन सबका त्याग, (४३-५७) पन्द्रह प्रकार के योग।

सम्मत्त देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवर णामा जोगाभावो तहा चेव॥

—कत्तिगेयाणुप्पेक्खा, संवराणुप्पेक्खा, गाथा ९५

मैं आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। ये ५ भेद हैं—(१) सम्यक्त्व संवर (२) विरति संवर (३) अप्रमाद संवर (४) अकषाय संवर और (५) अयोग संवर।

(१) सम्यक्त्व संवर—सम्यक्त्व संवर का अभिप्राय मिथ्यात्व की प्रवृत्ति को रोकना है। आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन से युक्त होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व ही अनंत संसार का कारण है। इसके निरोध से अनंत संसार परीत हो जाता है।

सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा में संसार के प्रति विरक्ति होती है। उसकी रुचि मोक्ष की ओर हो जाती है। संसार के प्रति विरक्ति ही सम्यक्त्व संवर है। मुमुक्षु साधक इस संवर को करता है।

(२) विरति संवर—सम्यक्त्व-प्राप्ति से आत्मा में जो संसार के प्रति विरक्ति होती है, वह धीरे-धीरे बढ़ती है। साधक इन्द्रियभोगों और पापों से विरक्त होता जाता है।

अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार वह देशसंयम (श्रावक के व्रत) तथा सर्वसंयम (मुनि के व्रत) ग्रहण करता है, देशसंयम अथवा सर्वसंयम का पालन करके विरति संवर करता है।

(३) अप्रमादसंवर—जब साधक अपने स्वीकृत व्रतों में अत्यधिक सावधान रहता है, बिल्कुल भी प्रमाद, असावधानी अथवा आलस्य नहीं करता तब उसके अप्रमाद संवर होता है।

(४) अकषायसंवर—क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों और नोकषायों के आस्रव को रोकना अकषाय संवर कहलाता है। यह स्थिति उच्च गुणस्थानों की भूमिका में आती है, विशेष रूप से ग्यारहवें, बारहवें तथा आगे के गुणस्थानों में, जहाँ कषायों का आस्रव एवं बंध पूर्ण रूप से रुक जाता है।

(५) अयोगसंवर—यह स्थिति १३-१४वें गुणस्थान में आती है, जब केवली भगवान योगों का निरोध करके शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं और पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण मात्र समय में देह त्यागकर मुक्त हो जाते हैं। यही अयोग संवर है।

देश और सर्व संवर का स्पष्टीकरण

बंधुओ! मैंने आपको संवर के भेदों का विभिन्न अपेक्षाओं से परिचय दिया। अब एक बात स्पष्ट करने को रह जाती है। वह है—संवर के देश-संवर और सर्वसंवर विकल्प।

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने गाथा में कहा है—**कमसो संवरो नेओ, देस-सव्व-विकप्पिओ**। अर्थात् साधक क्रमशः संवर को प्राप्त होता है, वह संवर देश और सर्व दो प्रकार का है।

यहाँ देश का अर्थ है आंशिक रूप से और सर्व का अभिप्राय पूर्ण संवर से है।

ये दोनों भेद विरति संवर के हैं। श्रावक अथवा देशव्रती को देश-संवर होता है और साधु अथवा सर्वविरत श्रमण को सर्वसंवर।

कहीं-कहीं चारित्र की अपेक्षा से संवर के ये दो भेद मानकर यथा-ख्यात चारित्री को सर्वसंवर माना गया है तथा शेष चारित्र वालों को देश-संवर। किन्तु यह विचार सर्वजनमान्य नहीं है।

अतः यही मानना उचित है कि साधु को सर्वसंवर होता है और श्रावक को देशसंवर।

इसके अतिरिक्त संवर के दो भेद और होते हैं—(१) भावसंवर और (२) द्रव्यसंवर। भावसंवर में साधक अपने आत्म-परिणामों में आस्रव के भाव नहीं आने देता, भोगों के, राग-द्वेष अथवा कषाय जनित परिस्पन्दन को शांत-उपशांत करता है और द्रव्यसंवर में वह पुद्गल कर्मों के आगमन को रोकता है।

जैसा कि आप सभी जानते हैं, हमारा जैनदर्शन द्रव्य और भाव इन दो अपेक्षाओं पर अधिक बल देता है, प्रत्येक तत्व का विचार इन दोनों ही अपेक्षाओं से करता है। अतः संवर के द्रव्य और भाव—ये दो भेद ही प्रमुख हैं। इन्हीं में अन्य सभी भेद गर्भित हो जाते हैं।

एक बात और है! वह भी आप समझ लें। द्रव्य और भाव—ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, इनमें अविनाभावी सम्बन्ध है। ऐसा नहीं हो सकता कि द्रव्य-संवर हो और भावसंवर न हो अथवा भाव-संवर हो और द्रव्यसंवर न हो। दोनों ही होंगे।

अब आप अपने ध्यान को मुख्य रूप से अपने आत्मिक भावों पर रखिए, भाव-संवर करिए, द्रव्य-संवर अपने आप हो जायेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि संवर ही मोक्ष का कारण है।

इसीलिए मुनिजन आपको संवर की प्रेरणा देते हैं और आप हिंसा आदि आस्रवों को रोककर संवर करते भी हैं।

अब आपके मन में एक प्रश्न उठ रहा होगा कि अन्यत्र तो निर्जरा से मोक्ष-प्राप्ति मानी गई है; क्योंकि निर्जरा से कर्मों का क्षय होता है और सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर ही आत्मा की मुक्ति हो पाती है।

तो, आपका यह विचार ठीक है। यह बिल्कुल सत्य है कि निर्जरा ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। किन्तु निर्जरा के भी कई प्रकार हैं और

सभी निर्जरा मोक्ष का कारण नहीं होती। मैं अब आपको निर्जरा के विभिन्न भेद बताता हूँ, जिससे आप समझ लें कि कौन-सी निर्जरा मोक्ष प्राप्ति में सहायक है।

निर्जरा के विविध भेद

संवर के बाद निर्जरा तत्व का क्रम है। इस क्रम के अनुसार ही अर्हत्तर्षि महाकाश्यप ने संवर के पश्चात् निर्जरा तत्व का वर्णन किया है।

निर्जरा का सीधा-सा अर्थ है—कर्म-परमाणुओं का रसहीन होकर झड़ जाना, आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाना। लेकिन इस झड़ने के कई प्रकार हैं। इन्हीं के आधार पर निर्जरा के भी कई भेद हो गये हैं। इन सभी भेदों को समझ लेना आवश्यक है।

शास्त्रों में सकाम और अकाम—निर्जरा के ये दो भेद बताये हैं। जो व्रत आदि उपक्रम से होती है वह सकाम निर्जरा है, इसी को सोपक्रम निर्जरा कहते हैं और जो जीवों के कर्मविपाक से स्वतः ही होती रहती है, वह अकाम अथवा निरुपक्रम निर्जरा कहलाती है। अकाम निर्जरा, चारों गतियों के जीवों के होती है किन्तु सकाम निर्जरा सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद ही होती है।

अकाम निर्जरा के अन्य नाम भी हैं—अबुद्धिपूर्वक निर्जरा, स्वकाल-प्राप्त निर्जरा, विपाकजा निर्जरा, यथाकाल निर्जरा आदि।

इसी प्रकार सकाम निर्जरा के भी कई नाम शास्त्रों में गिनाये गये हैं—कुशलमूल निर्जरा, तपःकृत निर्जरा, उपक्रमकृत निर्जरा, अविपाकजा निर्जरा आदि-आदि।

यहाँ अर्हत्तर्षि ने निर्जरा के तीन प्रकार गिनाए हैं। (१) प्रथम विपाकजा और अविपाकजा, (२) द्वितीय, निरुपक्रम और सोपक्रम। इन दोनों प्रकारों का विवेचन तो मैं आपके सामने कर ही चुका हूँ। लेकिन उन्होंने तीसरे प्रकार का नाम दिया है—(३)सोपादाना और निरादाना निर्जरा।

यद्यपि यह नाम नया है, पहले आपके सुनने में शायद न आया हो किन्तु इसका भाव वही है जो सकाम और अकाम निर्जरा का है। फिर भी मैं कुछ स्पष्टीकरण कर दूँ—

आदान कहते हैं ग्रहण करने को। यहाँ तत्व-चर्चा में आदान से अभिप्राय है आत्मा द्वारा कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करना—यानी आस्रव—कर्मों का आना।

अभिप्राय यह है कि जो निर्जरा, आस्रवपूर्वक होती है यानी निर्जरा

एक ओर हो और दूसरी ओर आस्रव भी होता रहे वह है सोपादाना निर्जरा; तथा जिस निर्जरा के साथ कर्मों का आस्रव न हो, कर्म आवें ही नहीं, वह निरादाना निर्जरा है और वह निरादाना निर्जरा तपविशेष से होती है।

आप शायद उलझन में पड़ गये होंगे कि आस्रव और निर्जरा दोनों परस्पर विरोधी हैं, एक साथ दोनों कैसे हो सकते हैं। इस उलझन को मैं एक दृष्टान्त से सुलझा दूँ—

आपने ऐसी टंकी देखी होगी, जिसमें नल लगा होता है। आपके घरों में भी होगी। अब आप उसे नल के नीचे रख दीजिए और नल खोल दीजिए। टंकी में पानी भरने लगेगा। साथ ही टंकी का नल भी खोल दीजिए।

अब क्या स्थिति बनी? वह टंकी भर जायेगी या खाली हो जायेगी? आप कहेंगे न वह भरेगी और न खाली ही होगी, क्योंकि उसमें ऊपर से जितना पानी भर रहा है, उतना ही नीचे से निकल भी रहा है।

अब आप समझिये। आत्मा को टंकी मान लीजिए और पानी को कर्म-प्रवाह। भरता हुआ पानी आस्रव है और झरता हुआ निर्जरा। तो अब आस्रव और निर्जरा दोनों एक साथ हो रहे हैं।

मैं समझता हूँ, आपके दिमाग की उलझन सुलझ गई होगी। इसी स्थिति को राजस्थानी की एक कहावत में बहुत ही संक्षेप में कह दिया गया है—ऊपर भरे, नीचे झरे।

गाथा १० में अर्हतर्षि ने भी यही बात कही है कि कर्मों का बंध भी सतत होता रहता है और निर्जरा भी सदा ही होती रहती है, संसारी जीव के आस्रव-बंध तथा निर्जरा का क्रम कभी रुकता नहीं, सदा ही प्रवर्तमान रहता है।

कुछ लोग यह शंका करते भी हैं कि जब सदा ही निर्जरा होती है तो आत्मा मुक्त क्यों नहीं हो जाता? तो भैया! इसका उत्तर यह है कि एक ओर से आस्रव हो रहा है और दूसरी ओर निर्जरा भी चालू है तो मुक्ति कैसे हो? ऐसी निर्जरा, जिसे अकाम निर्जरा कहा गया है, मोक्ष-प्राप्ति में सहायक नहीं होती।

एक भक्त कवि ने भी कहा है—

काल पाय विध झरना, तासों निज काज न सरना।
तप कर जो कर्म खपावे, सो ही अविचल गति पावे ॥

तपस्या द्वारा जो निर्जरा होती है, वही मोक्ष-प्राप्ति में—आत्मा की शुद्धि में सहायक बनती है। कैसे? एक दृष्टान्त से समझिये—

जंगल में एक तालाब है। उसमें पानी भरा है। किन्तु वह गँदला है, धूल-मिट्टी-कचरा उसमें मिल गया है। पानी बदबूदार हो गया है। वह पीने के योग्य नहीं रहा।

तो क्या वह पानी कभी भी पीने योग्य नहीं बन सकता? शुद्ध, साफ और निर्मल नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। उसके लिए निर्मली आदि वस्तुओं की आवश्यकता है। उसे विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजारना होगा, निथारना और छानना होगा, फिल्टर करना होगा, वह पानी निर्मल, शुद्ध और स्वच्छ हो जायेगा, स्वभाव में आ जायेगा।

इसी तरह यह आत्मा है। इसमें भी पापों की बदबू और कर्मों का कीचड़ इकट्ठा हो गया है। दुर्गुणों की दुर्गन्ध आ रही है, दुःखों के काँटे उग आये हैं, अशुद्ध दशा में आत्मा आ गई है। तो इसे भी शुद्ध और स्वाभाविक दशा में लाया जा सकता है। लेकिन कैसे?

तो बात यह है कि जिस तरह विभिन्न प्रक्रियाओं से गन्दे पानी को शुद्ध किया जाता है उसी तरह विभिन्न प्रक्रियाओं से आत्मा भी शुद्ध हो सकती है। पानी की शुद्धि एसिडों और कैमीकलों तथा छानने-निथारने से होती है और आत्मा की शुद्धि होती है तप से। जिस तरह विभिन्न क्रियाओं से पानी की गन्दगी दूर होती है, इसी तरह तप से आत्मा पर लगे कर्मों की निर्जरा होती है, कर्मरूपी मैल दूर हो जाता है।

इसीलिए तप द्वारा हुई निर्जरा को ही आत्म-शुद्धि तथा मोक्ष-प्राप्ति में कार्यकारी माना गया है।

सज्जनो! यद्यपि विषय कुछ लम्बा होता जा रहा है; किन्तु तप का वर्णन किये बिना निर्जरा तत्त्व का विवेचन पूरा नहीं होता। जैन शास्त्रों में निर्जरा के भेदों में तप ही गिनाए गये हैं। तप १२ प्रकार के होते हैं, इसलिए निर्जरा तत्व के भी बारह भेद बताये हैं।

अतः अब मैं संक्षेप में आपको तप के बारे में भी बताता हूँ।

तप का लक्षण

'तप' शब्द 'तप्' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है तपना या तपाना। इसीलिए आवश्यक मलयगिरि में कहा गया है—

तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः।

—जो आठों कर्मों को तपाता है (उनकी निर्जरा करता है) वह तप है।

ऐसा ही लक्षण दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि में भी किया गया है।

पंचाशत्, नियमसार, द्रव्यसंग्रह, प्रवचनसार आदि ग्रंथों में 'विषयों की इच्छा के निरोध' को तप कहा है।

सर्वार्थसिद्धि में कर्मक्षय की प्रक्रिया को तप कहा गया है। साथ ही वहीं इसे (आत्म) अभ्युदय का कारण भी बताया गया है—

तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुः

यों विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न अपेक्षाओं से तप के विभिन्न लक्षण बताए हैं। लेकिन मुझे सबसे अच्छी परिभाषा यह लगती है—

आत्मशोधनी क्रिया तपः

—आत्मा की विशुद्धि करने वाली क्रिया तप है।

यह परिभाषा किसी प्राचीन आचार्य की दी हुई है। इसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट है। साथ ही इसमें कर्मक्षय, आत्माभ्युत्थान, इच्छानिरोध आदि सभी बातें गर्भित हैं। क्योंकि आत्मा की विशुद्धि कहो या कर्मों का क्षय बात एक ही है, सिर्फ अपेक्षाभेद है।

तप के भेद

तप के १२ भेद हैं जिनमें से ६ अन्तरंग हैं और ६ बाह्य। उत्तराध्ययन सूत्र में इनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छविहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो॥
अणसणमूणोयरियाभिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो एस अब्भिन्तरो तवो॥—उत्तरा० ३०/७-९

अर्थात् तप दो प्रकार का है—(१) बाह्य और (२) अन्तरंग।

बाह्य तप हैं—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता, तथा अंतरंग तप हैं—(७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान और (१२) व्युत्सर्ग।

(१) **अनशन**—जैसा कि आप सभी जानते हैं अनशन का अर्थ है, उपवास। यह एक दिन से लेकर छह महीने तक का होता है। इसमें (१)

अशन (अन्न) (२) पान (जलादि पेय पदार्थ), (३) खादिम (पक्वान, मेवा आदि) तथा (४) स्वादिम (मुख को सुवासित करने वाले इलायची आदि पदार्थ)—इन चारों प्रकार के आहार का अथवा पानी के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है।

श्रेणी तप, प्रतर तप आदि के भेद से यह ६ प्रकार का है।

(२) **ऊनोदरी**—का अर्थ है भूख से कम खाना। इसके भी दो भेद हैं—(१) द्रव्य ऊनोदरी और (२) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी में आहार, उपधि आदि को कम किया जाता है और भाव ऊनोदरी में कषायों, राग-द्वेष, चपलता आदि दोषों को कम करना अपेक्षित है।

(३) **भिक्षाचरी**—यह तप विशेष रूप से साधुओं के लिए है क्योंकि वे ही भिक्षाचर्या द्वारा क्षुधा निवृत्ति करते हैं। साधुओं को सभी प्रकार से निर्दोष भिक्षा लेने का विधान है।

गृहस्थ के लिए **वृत्ति परिसंख्यान तप** बताया गया है। इसके अन्तर्गत श्रावक अपने आहार-द्रव्यों की संख्या में कमी करके अपनी आहार-वृत्ति को संकुचित करता है।

(४) **रस-परित्याग**—इसमें रसों का—सरस भोजन का त्याग अपेक्षित है। स्वादिष्ट और इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले आहार का त्याग साधक अपनी शक्ति और क्षमता-योग्यता के अनुसार करता है।

(५) **कायक्लेश**–इसका अर्थ है–शरीर को सुविधावादी न बनने देना। जितना सम्भव हो, अधिक से अधिक इस शरीर का उपयोग धार्मिक क्रियाओं में करना।

(६) **प्रतिसंलीनता**—इस तप में साधक अपने इन्द्रिय, शरीर, मन, वचन को विकारों से रोककर आत्माभिमुख करता है।

(७) **प्रायश्चित्त**—अपने स्वीकृत व्रत-नियमों में भूल अथवा असावधानी से लगे पापों की—स्खलनाओं की आलोचना आदि करना। यह १० प्रकार का है।

(८) **विनय**—का अर्थ है विनम्रता। इसके ७ उत्तर भेद हैं—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और, (७) लोकव्यवहार विनय।

(९) **वैयावृत्य**—इसका अर्थ है—सेवा। तपस्वी, ग्लान आदि साधकों की सेवा करना। उन्हें आहार-औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ दिलाना। रोग के समय सेवा करके साता पहुँचाना।

(१०) **ध्यान**—यों तो ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ये चार भेद हैं, किन्तु मोक्ष मार्ग में सहायक धर्म और शुक्लध्यान ही हैं। अतः इन्हीं की अपेक्षा है। इनके भी चार-चार उत्तर भेद हैं।

धर्मध्यान के चार भेद हैं—(१)—आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय।

इनके लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षाएँ भी चार-चार हैं।

शुक्लध्यान के भी चार भेद हैं, चार ही लक्षण हैं, चार ही आलम्बन हैं और चार ही अनुप्रेक्षाएँ हैं।

(११) **स्वाध्याय**—स्वाध्याय का अर्थ है—सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन। ऐसे ग्रन्थों का पढ़ना-सुनना जिनमें आत्मोत्थान के उपाय बताये गये हों, जीव आदि तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझाया गया हो। उन ग्रंथों वर्णित विषयों का चिन्तन-मनन भी स्वाध्याय है।

(१२) **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग का अभिप्राय है त्याज्य वस्तु का त्याग। त्याज्य वस्तुएँ शरीर आदि हैं।

इसके भी दो भेद हैं—द्रव्य और भाव।

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार उत्तर भेद हैं—(१) शरीर-व्युत्सर्ग, (२) गण व्युत्सर्ग, (३) उपधि व्युत्सर्ग और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग।

यहाँ शरीर-व्युत्सर्ग का अभिप्राय शरीर को छोड़ना नहीं अपितु शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना है। इसी कारण व्युत्सर्ग का दूसरा नाम कायोत्सर्ग भी है।

भाव व्युत्सर्ग के तीन उत्तर भेद हैं—(१) कषाय-व्युत्सर्ग, (२) संसार व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग।

बन्धुओ ! आपको मैंने निर्जरा के १२ भेदों यानी १२ तपों का संक्षिप्त परिचय दिया है, इनका विस्तार तो अत्यधिक है। फिर कभी इसे विस्तृत रूप से आपके समक्ष रखूंगा।

इस समय तो मैं अर्हतर्षि महाकाश्यप द्वारा गाथा १० में कथित मुख्य बात पर आता हूँ कि कर्मों का बंध और निर्जरा संसारी जीव को सतत—सदा-सर्वदा होती रहती है, तो समस्या यह है कि फिर संसारी जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता, वह अभी तक बंधन में क्यों पड़ा है ?

सतत निर्जरा होते हुए भी आत्मा सर्व-कर्ममुक्त क्यों नहीं ?

कर्मों की निर्जरा के सम्बन्ध में एक ज्वलन्त प्रश्न उठता है कि आत्मा जब प्रतिक्षण कर्मों की इतनी निर्जरा करता है, तब भी वह सर्वकर्म-

मुक्त क्यों नहीं होती, क्योंकि पहले यह कहा गया है कि संवर और निर्जरा से शुभाशुभ कर्मक्षय होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अर्हतर्षि महाकाश्यप ने दसवीं गाथा में दिया है। उसका अशय यह है कि आत्मा प्रतिक्षण जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उन कर्मों से वे कर्म अनन्तगुणे हैं, जो अभी अनुदय अवस्था में पड़े हैं, उदय में आये नहीं है। अतः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय न होने से मोक्ष होना सम्भव नहीं है।

अर्हतर्षि का दूसरा अभिप्राय यह भी है कि आत्मा शुभ या अशुभ कर्मों का विपाकोदय प्राप्त करता है, अर्थात्—वे उदय में आते हैं; तो किसी न किसी निमित्त को लेकर ही आते हैं। अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करता है। इसी राग और द्वेष के कारण वह आत्मा पुनः नये कर्मों का उपर्जन कर लेता है कि निर्जरित (क्षय) हुए कर्मों की अपेक्षा परिणाम में द्विगुणित या असंख्य गुणित भी हो सकते हैं। अज्ञानी आत्मा ऐसा मूढ़ कर्जदार है, जो कर्ज तो चुकाता है, किन्तु वह एक हजार चुकाता है और दस हजार का नया कर्ज फिर ले लेता है, ऐसी स्थिति में वह सर्व कर्मों से मुक्त कैसे हो सकता है ?

निर्जरा से पूर्व संवर हो, तभी एक दिन सर्वकर्मविमुक्ति

अतः होना यह चाहिए कि यदि कर्मों के ऋण से मुक्त होना है, तो नया ऋण लेना बंद कर दे और पुराना ऋण थोड़ा-थोड़ा चुकाये, तो भी एक दिन ऐसा आ सकता है, जब वह पूर्णतः ऋणमुक्त हो जाए। इसीलिए अर्हतर्षि ने निर्जरा से पूर्व संवर तत्त्व का निरूपण किया है। संवर के बिना की हुई निर्जरा का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि वह तो अनादिकाल से चली आ रही है। अकेली निर्जरा या सभी निर्जराएँ भव-परम्परा को समाप्त करने में सहयोगी नहीं हो सकती। यही कारण है कि अर्हतर्षि ने तप के द्वारा होने वाली निर्जरा को महत्त्वपूर्ण बताया है, क्योंकि तप के द्वारा निर्जरित कर्म आत्मा से पुनः कभी चिपकते नहीं हैं।

कर्मक्षय करने में रखी जाने वाली सावधानियाँ

पहले यह बताया गया था कर्म चाहे कितने ही प्रचुर मात्रा में और प्रबल हों, किन्तु आत्मा उससे भी अधिक प्रबल और अनन्त शक्ति-सम्पन्न है, इसलिए उन्हें क्षय किये जा सकते हैं, शिथिल भी किये जा सकते हैं। अन्धकार कितना भी गहन और प्रचुर हो, सूर्य का थोड़ा-सा प्रकाश उसे छिन्न-भिन्न कर देता है। संवर और निर्जरा (चारित्र एवं तप) द्वारा कर्मक्षय होते हैं, परन्तु (१) उस समय भी निमित्त पर राग-द्वेष करना नहीं चाहिए

तथा (२) पहले नये कर्मों को संवर द्वारा आने से बिलकुल रोक देना, चाहिए, और (३) तपोजन्य (इहलौकिक पारलौकिक कामना-रहित तप के द्वारा होने वाली) कर्म-निर्जरा करे। इन तीन सावधानियों के अतिरिक्त और भी ६ सावधानियों की ओर अर्हतर्षि इंगित करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

अंकुरा खंध-खंधीया जहा भवइ वीरुहो।
कम्मं तहा तु जीवाणं सारासारतरं ठितं ॥११॥

उवक्कमो य उक्केरो संछोभो खवणं तथा।
बद्ध-पुट्ठ-निधत्ताणं, वेयणा तु निकाइते ॥१२॥

उकड्ढंतं जधा तोयं, सारिज्जंतं जधा जलं।
संखविज्जा निदाणे वा पावकम्मं उदीरती ॥१३॥

अप्पा ठिती सरीराणं बहु पावं च दुक्कडं।
पुव्वं बज्झिज्जते पावं, तेण दुक्करं तवोमयं ॥१४॥

खिज्जंते पावकम्मानि, जुत्तजोगस्स धीमतो।
देसकम्मक्खयब्भूता जायंते रिद्धियो बहू ॥१५॥

विज्जोसहि-णिवाणेसु, वत्थु-सिक्खा-गतीसु य।
तव-संजम-पयुत्ते य, विमद्दे होति पच्चओ ॥१६॥

दुक्खं खवेति जुत्तप्पा, पावं मीसे वि बंधणे।
जधा मीसे वि गाहंमि, विसपुप्फाण छड्डणं ॥१७॥

समत्तं च दयं चेव सममासज्ज दुल्लहं।
ण प्पमाएज्ज मेधावी मम्मगाहं जहारियो ॥१८॥

अर्थात्—अंकुर से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध से शाखायें फूटती हैं, उससे वह विशाल वृक्ष बनता है। आत्मा के शुभ-अशुभ कर्म भी इसी प्रकार विकसित होते हैं।

—बद्ध, स्पृष्ट और निधत्त रूप में बंधे हुए कर्मों का उपक्रम, उत्कर, संक्षोभ और क्षय हो सकता है, किन्तु निकाचित कर्म का वेदन (फलभोग) अवश्य होता है।

—अंजली में भरकर ऊपर उठाया जाने वाला तथा ले जाया जाता हुआ पानी धीरे-धीरे क्षय होता जाता है, (इसी प्रकार बद्ध, स्पृष्ट और निधत्तरूप कर्मजल भी धीरे-धीरे क्षय हो जाता है) किन्तु निदानकृत कर्म अवश्य ही उदय में आता है।

—यदि देहधारियों की स्थिति (आयु कर्म की अवधि) थोड़ी है और पाप कर्म बहुत हैं, साथ ही वे दुष्कर भी हैं, तथा पहले भी पाप कर्म बाँधे गये हैं तो उनके क्षय करने के लिए दुष्कर तप की आवश्यकता है।

—बुद्धिमान् युक्तयोगी साधक पाप कर्मों को नष्ट कर देता है, परन्तु आंशिक रूप में कर्मक्षय होने पर कभी-कभी अनेक लब्धियाँ (ऋद्धियाँ) प्राप्त हो जाती हैं।

—तप और संयम में प्रवृत्त (प्रयुक्त) आत्मा कर्मों का विमर्दन (नाश) करने पर विद्याएँ, औषधियों के विज्ञान की गहराई में उतर जाता है, तथा शिक्षा शास्त्र, वस्तु पूर्वशास्त्र अथवा वास्तु शास्त्र एवं गतिविज्ञान में प्रवीण हो जाता है।

—जो लब्धियां बन्धनरूप होती हैं उन्हीं लब्धियों को पाकर युक्तात्मा दु:ख का क्षय भी कर लेता है। जैसे मिश्रित पुष्प ग्रहण हो जाने पर कुशल माली विष-पुष्प छोड़कर अच्छे फूलों का ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार योग्य साधक लब्धियों के दुरुपयोग को रोककर उनका सदुपयोग करके दु:ख-क्षय कर लेता है।

—मेधावी साधक दुर्लभ सम्यक्त्व और दया (चारित्र) को सम्यक् रूप से पाकर प्रमाद न करे। जैसे शत्रु का मर्म (गुप्त रहस्य) जान लेने पर विपक्षी योद्धा जरा भी विलम्ब नहीं करता।

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने यहाँ कर्मों को क्षय करने में जिन सावधानियों का निर्देश किया है, वे इस प्रकार हैं—

पहली सावधानी—यह है कि जैसे छोटा-सा अंकुर एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार छोटा-सा अशुभ (पाप) कर्म भी साधक की लापरवाही से एक दिन बहुत वृद्धिगत हो जाता है। अतएव छोटे-से अशुभकर्म को उत्पन्न होते ही झटपट नष्ट कर दो।

दूसरी सावधानी—यह है कि यह मत समझो कि जो अशुभ कर्म बंध गया है, उसका फल उसी रूप में भोगना पड़ेगा, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता; किन्तु अगर कर्म का बन्ध स्पृष्ट, बद्ध या निधत्त रूप में हुआ है, तो उसे मिच्छामि दुक्कडं (पश्चात्ताप), (आलोचना, निन्दना, गर्हणा), प्रतिक्रमण, क्षमापना एवं प्रायश्चित्त के द्वारा भोग कर शीघ्र ही क्षय किया जा सकता है। गाढ़ बन्धन को शिथिल बन्धन के रूप में, या जप, तप, शुभ ध्यान, भावना, अनुप्रेक्षा, व्रत, नियम, संवर, सामायिक, परीषहजय, चारित्रपालन आदि के द्वारा अशुभ को शुभ में भी परिणत किया

जा सकता है और सर्वथा क्षय भी किया जा सकता है। परन्तु यदि कर्म निकाचित रूप से बँधे हुए हैं, तो उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता, उन्हें तो उसी रूप में भोगना ही पड़ेगा। हाँ, भोगते समय यदि समभाव रखे, अपनी आत्मनिन्दा करते हुए भोगे, निमित्तों को न कोसे तो नये कर्म नहीं बंधते और निकाचित रूप से बंधे हुए कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

सूइयों के दृष्टान्त से इस तथ्य को समझा रहा हूँ। सुइयों का एक जगह ढेर कर दिया जाए तो उन्हें अलग-अलग करने में कुछ भी देर या दिक्कत नहीं होती, इसी प्रकार स्पृष्टरूप से बंधे हुए कर्मों को मिच्छामि दुक्कडं आदि देकर झटपट आत्मा से अलग किया जा सकता है। परन्तु सूइयों के उस ढेर को एक सूत के डोरे से बांध दिया जाए तो उसे खोलने और अलग-अलग करने में कुछ देर लगती है उसी प्रकार बद्धरूप से बंधे हुए कर्मों को आत्मा से अलग करने में थोड़ी देर लगती है, अर्थात्—आलोचना, प्रतिक्रमण आदि से वे अलग हो सकते हैं। इसी प्रकार सूइयों के उस ढेर को लोहे के तार से कसकर बांध दिया जाए तो उसे खोलने और सूइयों को अलग-अलग करने में पहले से अधिक देर लगती है, इसी प्रकार निधत्त रूप से बंधे हुए कर्मों को आत्मा से प्रायश्चित्त, तप आदि द्वारा अलग करने में काफी अधिक समय लगता है। मगर सूइयों के उस ढेर को आग में तपा कर तथा घन से पीट कर एकमेक कर दिया जाए, लोहपिण्ड बना दिया जाए तो उन सूइयों को अलग-अलग करना असम्भव होता है, इसी प्रकार तीव्र-कषायवश निकाचित रूप से बंधे हुए कर्मों में स्थितिघात, रसघात एवं परिवर्तन कुछ भी सम्भव नहीं है, आत्मा से उनका पृथक्करण प्रायश्चित्त, तप आदि द्वारा हो नहीं सकता, उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा।

जैसे स्कन्दकमुनि ने काचरे का छिलका उतारते समय तीव्र रूप से निकाचित कर्मबंध कर लिया था, उसका फल उन्हें चमड़ी उधड़वाने के रूप में भोगना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि स्पृष्ट, बद्ध एवं निधत्तरूप रूप में बंधे हुए कर्मों में उपक्रम (बंधे हुए कर्मों को तोड़ना), उत्कर (कर्म की स्थिति आदि में वृद्धि) संक्षोभ (कर्मों की स्थिति आदि में संक्षेप—हानि) और तप आदि के द्वारा क्षय भी हो सकता है। उनमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण आदि के रूप में परिवर्तन भी हो सकता है।

जैसे अंजली में भरा हुआ पानी प्रतिक्षण एक-एक बूँद गिर कर धीरे-समाप्त होता जाता है, वैसे ही स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त रूप में बंधा हुआ

कर्म धीरे-धीरे क्षय हो जाता है। ऐसे कर्म बंधने के बाद उनका अबाधाकाल (विपाकवेदन से पूर्व का काल) पूर्ण होने बाद शनैः शनैः उदय में आकर क्षीण हो जाते हैं। किन्तु किसी फलासक्ति को लेकर निदान के रूप में किया गया कर्म अवश्य ही उदय में आता है। अभिप्राय यह है कि मुमुक्षु साधक को चाहिए कि वह निकाचित रूप से, निदान करके किसी भी कर्म को न बांधे। अगर प्रमादवश या सामान्य रागवश कोई कर्म बंध गया है तो उसे उन-उन उपायों से क्षय करे या अशुभ को शुभ में अथवा गाढबन्ध को शिथिलबन्ध के रूप में परिवर्तन करे।

तीसरी सावधानी—यह है कि कई साधक इस भ्रम में रहते हैं, मैं साधना काल में तो कोई विशेष कर्म अर्जित नहीं कर रहा हूँ, फिर मुझे तप आदि करने की क्या आवश्यकता है? इसी भ्रमनिवारण के लिए अर्हत्-तर्षि कहते हैं – सावधान रहो! यदि तुम्हारे अन्य कर्मों की स्थिति तुम्हारे आयुष्य कर्म की स्थिति से कई गुना अधिक है, तथा वे कर्म भी इसी भव के नहीं अनेक पूर्वजन्मों के हैं, साथ ही वे पाप कर्म भी उत्कट हैं, घोरतम हैं, तो उन सबके लिए तुम्हें दुष्कर उत्कट तप करना अनिवार्य है। अन्यथा तुम्हें अपने कर्मों को सर्वथा क्षय करने के लिए कई जन्म लेने पड़ेंगे। भगवान महावीर ने देखा कि मेरे कर्म तो बहुत अधिक हैं, उनकी स्थिति भी आयुष्य से कई गुना अधिक है। अतः उन्होंने शीघ्र कर्मक्षय करने के लिए १२॥ वर्ष की घोर तपस्या की, अनार्यदेश में जाकर घोर परीषहों को समभाव से सहन किया।

चौथी सावधानी—यह है कि बुद्धिमान युक्तयोगी साधक पाप कर्मों को जब नष्ट करने लगता है, तब साथ-साथ पुण्य कर्मों की वृद्धि के कारण उसे अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। कई विद्याएँ (सिद्धियाँ), आमर्षोषधि आदि लब्धियाँ, दृष्टिवाद के वस्तुपूर्व तक का ज्ञान, शिक्षा शास्त्र तथा गति के आधार पर इतिहास विज्ञता आदि की उपलब्धि प्राप्त हो जाती है। अगर साधक उनका दुरुपयोग करता है तो वह पापकर्मों को क्षय करने के बजाय नये पापकर्मों को और बांध लेता है। अतः साधक को इन लब्धियों, सिद्धियों आदि में आसक्त नहीं होना चाहिए और न ही इनका दुरुपयोग करना चाहिए। अव्वल तो इनका प्रयोग ही नहीं करना चाहिए। इन चमत्कारों के प्रदर्शन और प्रयोग में पड़ने पर कदाचित् प्रसिद्धि और यश कीर्ति बढ़ सकती है, परन्तु अहंकारवृद्धि, आसक्ति, साधना में विक्षेप, आदि के कारण नये पापकर्मों का बंध होने की संभावना है। अतः इन लब्धियों से सावधान रहे।

पाँचवीं सावधानी यह है कि कषाय की मन्द अवस्था में शुभ का बन्ध

विशेष और अशुभ का बन्ध अल्प होता है। शुभाशुभ अध्यवसायों के द्वारा सत्कार्य करने पर शुभाशुभ रूप मिश्रित कर्मों का बन्ध होता है। यद्यपि मन्दकषायी आत्मा देवगति का बन्ध करता है, किन्तु वहाँ भी वृत्तिजन्य दुःख तो मौजूद है ही। सम्यक्त्वी आत्मा नरक में भी शान्ति का अनुभव करता है। जैसे नरक-प्राप्त श्रेणिक का जीव क्षायिक सम्यक्त्वी होने के कारण शान्तिपूर्वक कष्टों का वेदन करता है। वहाँ अशुभ के साथ शुभ का उदय है, किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान युक्त आत्मा अशुभ को छोड़कर शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर प्रवृत्त होता है। अतः अशुभकर्म उदय में आने पर साधक को सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानपूर्वक समभाव से उक्त दुःख रूप कर्मफल को भोगना चाहिए। ऐसा करके वह अशुभ कर्मों के प्रभाव को समाप्त कर देता है, अपने पर नहीं आने देता।

छठी सावधानी—यह है कि बुद्धिमान् साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि अभी तो बहुत आयुष्य है, इसलिए बाद में कर्मशत्रुओं को क्षय कर लूंगा। ऐसा प्रमाद बिलकुल न करे, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र (दया) को सतत समभावपूर्वक पालन करने का पुरुषार्थ करे। वह कर्मशत्रु के साथ संघर्ष करने में एक क्षण का भी विलम्ब न करे, किसी की प्रतीक्षा न करे।

मोक्ष-प्राप्ति के विविध उपाय

अर्हतर्षि महाकाश्यप ने अब मोक्षतत्व को समझाने के लिए कुछ तथ्य प्रस्तुत किये हैं :

> **णेहवत्तिक्खए दीवो जहा चयति संततिं।**
> **आयाण-बंध-रोहंमि, तहप्पा भवसंतइं ॥१९॥**
>
> **दोसादाणे णिरुद्धम्मि सम्मं सत्थाणुसारिणा।**
> **पुव्वाउत्ते य विज्जाए, खयं वाही णियच्छती ॥२०॥**
>
> **मज्जं दोसा विसं वण्ही गहावेसो अणं अरी।**
> **धणं धम्मं च जीवाणं, विण्णेयं धुवमेव तं ॥२१॥**
>
> **कम्मायाणेऽवरुद्धम्मि सम्मं मग्गाणुसारिणा।**
> **पुव्वाउत्ते य णिज्जिण्णे खयं दुक्खं णियच्छती ॥२२॥**

अर्थात्—जैसे दीपक में तेल (स्नेह) और बत्ती (बाट) के क्षय होने पर वह दीपकलिका रूप संतति का क्षय कर देता है, वैसे ही आत्मा आदान (आस्रव) और बन्ध का अवरोध कर देने पर भवपरम्परा को समाप्त कर देता है।

—यदि व्याधिग्रस्त मानव दोषों (त्रिदोषों) के आगमन को रोककर वैद्यकशास्त्रानुसार प्रवृत्ति करता है और पूर्वदोषों का परिमार्जन करता है तो व्याधि से मुक्त हो जाता है। (इसी प्रकार भवभ्रमण की व्याधि या कर्म-व्याधि से ग्रस्त मानव नये दोषों (आस्रवों) की परम्परा को रोककर सम्यक् शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करता है, पुराने (पूर्वोपार्जित) कर्मदोषों का क्षय करता है तो वह कर्मव्याधि से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।)

—आत्मा के दोष हैं—मद्य, विष, अग्नि, ग्रहावेश, ऋण और शत्रु, (ये आयुष्य को शीघ्र समाप्त करने में निमित्त) हैं, जबकि धर्म (रत्नत्रयरूप) को जीवों का ही ध्रुव धन जानना चाहिए।

यहाँ दैहिक और आत्मिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने वाले दोष बताए गए हैं। आत्मा का आत्मस्वभावरूप धर्म ही ध्रुव धन है। जो सम्प्रदायों और पंथों से ऊपर है।

—कर्मग्रहण को रोककर सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष मार्ग का अनुसरण करने वाला पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा करके समस्त दुःखों का क्षय कर देता है। यही आत्मा की मुक्ति है, सिद्धि है, सर्वदुःखों का अन्त है, भव-परम्परा का अन्त है, सर्वकर्म क्षय है।

वस्तुतः मुक्त आत्मा ही सिद्ध, बुद्ध, सर्वकर्ममुक्त, भवभ्रमण से रहित तथा समस्त दुःखों का अन्त करता है।

आत्मा की शुद्धि के उपाय

बन्धुओ ! यह तो पहले कहा जा चुका है कि आत्मा कर्मों से लिपटा हुआ है। कर्मबन्ध के पाँच कारणों में सबसे अग्रणी है—मिथ्यात्व। इसका सहभावी है—अनन्तानुबन्धी-कषाय-चतुष्क। यह आत्मा का कट्टर शत्रु है। आत्मा के सम्यग्दर्शन-गुण का यह घात करता है। यह कषाय समग्र जीवन-पर्यन्त आत्मा को जलाता रहता है उस आग की लपटों में दूसरों को झुल-साता है। जो कषाय जीते जी अन्तर् को आग में जलाता है और मरने के बाद भी नरक की आग में पटकता है, वह अनन्तानुबन्धी कषाय है।

शत्रु पर विजय पाने के लिए दो साधन अपेक्षित हैं—शक्ति और सुरक्षा के साधन। आत्मा सम्यग्दर्शन की शक्ति पाए और दूसरी ओर से आत्मा की सुरक्षा के लिए अहिंसा आदि धर्माचरण और सम्यक्तपश्चरण हो तो आत्मा अनन्तानुबन्धी-कषाय को समाप्त कर देता है। उससे आत्मा बहुत अंशों में शुद्ध और सशक्त बनता है। अर्हतर्षि महाकाश्यप इसी तथ्य की ओर इशारा करते हैं—

पुरिसो रहमारूढो, जोग्गाए सत्तसंजुतो।
विपक्खं णिहणं णेइ, सम्मदिट्ठी तहा अणं ॥२३॥

वह्नि-मारुय-संजोगा, जहा हेमं विसुज्झती।
सम्मत्त-नाण-संजुत्ते, तहा पावं विसुज्झती ॥२४॥

जहा आतव-संतत्तं, वत्थं सुज्झइ वारिणा।
सम्मत्त-संजुत्तो अप्पा, तहा झाणेण सुज्झती ॥२५॥

कंचणस्स जहा धाऊ जोगेणं मुच्चए मलं।
अणाइए वि संताणे, तवाओ कम्मसंकरं ॥२६॥

वत्थादिएसु सुज्झेसु, संताणे गहणे तहा।
दिट्ठं तं देसधम्मित्तं, सम्ममेयं विभावए ॥२७॥

अर्थात्—विपक्षी (शत्रु) को हनन करने योग्य शक्ति से सम्पन्न रथारूढ़ पुरुष शत्रु को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय शत्रु को सम्यग्दर्शन की शक्ति से सम्पन्न साधक समाप्त कर देता है।

—जैसे—अग्नि और हवा के संयोग से सोना शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध हो जाता है।

—जैसे—धूप से तप्त वस्त्र पानी से शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यक्त्व से युक्त आत्मा ध्यान से शुद्ध होता है।

—धातु के संयोग से जैसे सोने का मैल दूर होता है, वैसे ही अनादि कर्म-संतति भी तप से नष्ट होती है।

—वस्त्रादि की शुद्धि में और कर्म-संतति में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक की योजना की गई है। दृष्टान्त सदैव एकदेशीय होता है। इस दृष्टान्त पर सम्यक्-प्रकार से इसकी विचारणा (घटित) करना चाहिए।

अर्हतर्षि ने इन गाथाओं में आत्मशुद्धि के चार उपाय बताए हैं—

(१) सम्यग्दर्शनरूपी शक्ति से आत्मा पर आए हुए अनन्तानुबन्धी कषायमल को समाप्त करो।

(२) स्वर्ण-विशुद्धि अग्नि और वायु के प्रयोग से होती है, तदनुसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्-ज्ञान से आत्मा को पाप से विशुद्ध बनाओ।

(३) धूप से वस्त्र में हुए पसीने की जल से शुद्धि होती है, वैसे ही सम्यक्त्व से युक्त आत्मा की शुभध्यान से शुद्धि करो।

(४) धातु (तेजाब आदि) के संयोग से स्वर्णमल दूर होता है, तथैव सम्यक्तप से आत्मा पर लगे हुए कर्मों को नष्ट करके आत्मा को विशुद्ध बनाओ।

संक्षेप में, आत्मा की शुद्धि के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (सम्यक्ध्यान) और सम्यक्तप, ये चार साधन हैं।

आत्मा पर कर्मों का मैल चढ़ा हुआ है। सम्यग्दर्शन से अनादिकालीन मिथ्यात्व का मैल नष्ट हो जाता है, जिसके कारण आत्मा कर्मों के भार से आक्रान्त रहता था। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनयुक्त सम्यग्ज्ञान से आत्मा स्व-पर का भेदविज्ञान कर सकता है, वही पापकर्म रूप परभाव को आत्मा पर से हटाने के लिए प्रयत्नशील होता है।

सम्यक्त्व से युक्त साधक धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान से कर्म मैल को हटा कर आत्मा को शुद्ध करता है और सम्यक्तप से समस्त कर्म-मैल को जला कर आत्मा को शुद्ध स्वभावयुक्त बना देता है।

सिद्धि और सिद्ध आत्माएँ

सम्पूर्ण कर्मक्षय होने की प्रक्रिया किस प्रकार होती है ? तथा सिद्ध आत्मा सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् कैसी स्थिति में होते हैं ? इस विषय में इस अध्ययन की अन्तिम गाथाएँ बहुत ही मननीय हैं—

आवज्जती समुग्घातो जोगाणं च निरुम्भणं।
अनियट्टी एव सेलेसी सिद्धी कम्मक्खओ तहा ॥२८॥

णावा व वारिमज्झंमि खीणलेवो अणाउलो।
रोगी वा रोगणिम्मुक्को, सिद्धो भवति णीरओ ॥२९॥

पुव्वजोगा असंगत्ता, काऊ वाया मणो इ वा।
एगतो आगती चेव कम्माभावा ण विज्जती ॥३०॥

परं णावग्गहाभावा, सुही आवरणक्खया।
अत्थिलक्खणसब्भावा, निच्चो सो परमो धुवं ॥३१॥

दव्वतो खित्ततो चेव कालतो भावतो तहा।
णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं संसारे सव्वदेहिणं ॥३२॥

गंभीरं सव्वओभद्दं सव्वभाव वि भावणं।
धण्णा जिणाहितं मग्गं सम्मं वेदेंति भावओ ॥३३॥

अर्थात्—(सिद्धिगति प्राप्त करने से पूर्व) आवर्जन, समुद्घात, योगों का निरोध और शैलेशीकरण के द्वारा आत्मा सर्वकर्मक्षय करके सिद्धि प्राप्त करता है।

—जलप्रवाह के बीच में रही हुई नौका के समान कर्म-लेपरहित अनाकुल आत्मा सिद्ध होता है।

—(सिद्धस्थिति में) पूर्व (संसारी अवस्था) के काया, वाणी और मन रूप से पृथक् एक ही आत्मद्रव्य रहता है। कर्म-जन्य भावों का वहाँ अभाव है। आत्मा के क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तसुख, तथा सत्त्व-प्रमेयत्व आदि पारिणामिक भाव ही वहाँ होते हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भावों का वहाँ अभाव होता है। साथ ही भव्यत्वरूप पारिणामिक भाव भी वहाँ नहीं होता। आगमों में सिद्धप्रभु को 'भव्याभव्य' कहा है, क्योंकि वे सिद्धस्थिति प्राप्त हैं। अतः उनमें अब भव्यत्व रहा ही कहाँ है? सिद्धदशा में योगों का अभाव है। मुक्तात्मा में पुनरागमन नहीं है, भवपरम्परा का हेतु कर्म उनमें नहीं है।

—सिद्धात्मा लोकाग्र में स्थित होते हैं क्योंकि आत्मा आगे (अलोक में) नहीं जा सकता, उससे ऊपर अवग्रहस्थान का अभाव है। समस्त आवरण के क्षय होने से सिद्धात्मा परमसुख में अवस्थित है। अस्तिलक्षण से सद्भावशील है, (अर्थात्—वहाँ आत्मा का अभाव नहीं होता), और वह परम नित्य और शाश्वत है।

—संसार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य और अनित्य जानना चाहिए।

—गम्भीर, सर्वतोभद्र (सदैव सबके लिए कल्याणकारी), समस्त भावों के प्रकाशक, अन्तर् की गुफाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वज्ञ-निरूपित धर्म का जो सम्यक् प्रकार से अनुभव करते हैं, अथवा सम्यक् रूप से पहचानते हैं वे आत्माएँ धन्य हैं।

आशय यह है कि सिद्धि—मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व आत्मा शुक्लध्यान की परमतपोऽग्नि के द्वारा चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है, उसी का क्रम बतलाते हुए अर्हतर्षि कहते हैं—सर्वप्रथम आवर्जन-क्रिया होती है। उदयावलिका में अप्राप्त कर्मों को उदयावलिका में प्रक्षेपण करना आवर्जन-क्रिया है। जब आयु अल्प हो और वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म अधिक हों, तब केवलीप्रभु आयुष्य को सम स्थिति में लाने के लिए समुद्घात करते हैं, क्योंकि आयु के बिना आत्मा शरीर में रह नहीं

सकता और वेदनीयादि शेष अघाती (भवोपग्राही) कर्म क्षय न हों तो सकर्म आत्मा सिद्ध कैसे होगा ? ऐसी स्थिति में केवली भगवान् अष्टसमयभावी समुद्घात करते हैं। प्रथम चार समय में वे दण्ड, कपाट, मन्थान और अन्त:पूर्ति के रूप में आत्मप्रदेशों को लोकव्यापी बनाते हैं और शेष चार समय में उसी क्रम से पुनः उन आत्मप्रदेशों को समेट कर शरीरस्थ करते हैं। यही क्रिया केवलि-समुद्घात है। जैसे गीला वस्त्र फैला देने से जल्दी सूख जाता है, उसी प्रकार समुद्घात से आत्मप्रदेशों को फैलाकर लोकव्यापी बना देने से वेदनीयादि तीन अघाति कर्मों की स्थिति आयुष्य के बराबर हो जाती है। उसके बाद केवली क्रमशः काया, वचन और मनोयोग का निरोध करते हैं। (पहले वे स्थूल वचनयोग से स्थूल काययोग का और फिर स्थूल मनोयोग से स्थूल वचनयोग का निरोध करते हैं। फिर वे सूक्ष्म काययोग के द्वारा स्थूल मनोयोग का और बाद में क्रमशः सूक्ष्म वचनयोग से सूक्ष्म काययोग का तथा सूक्ष्म मनोयोग से सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं। और अन्त में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं।) तत्पश्चात् वे शैलेशी निष्कम्प अवस्था को प्राप्त करते हैं। फिर अनिवृत्ति (अनियट्टी) अवस्था प्राप्त करते हैं। अनिवृत्ति, वह भाव है, जो मुक्ति पाये बिना निवृत्त नहीं होता। इसे अनियट्टीगुणश्रेणी भी कहते हैं। तदनन्तर क्रियारहित सर्वसंवररूप शैलेशी अवस्था आती है। जिसमें पाँच लघु अक्षरों (स्वरों) के उच्चारण काल तक आत्मा शरीर में ठहर कर फिर देहमुक्त होकर सिद्ध होता है।

सम्पूर्ण कर्मक्षय होने के बाद आत्मा की यही सर्वोच्च शुद्धतम स्थिति है।

नौका अथाह समुद्र के जल पर तैरती है। नौका के नीचे प्रचुर जलराशि रहती है, तथापि नौका में एक बूंद भी नहीं रहती। इसी प्रकार मोहमुक्त केवली आत्मा शेष आयुष्य पूर्ण न हो, तब तक संसार में नौका के सदृश रहता है। अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाएँ उसके चारों ओर रहती हैं। कर्मद्रव्य संसार में तो सर्वत्र व्याप्त है, सिद्ध-शिला पर भी कर्म प्रदेश हैं किन्तु सिद्ध जीव कर्मविमुक्त होते हैं और चार कर्मों से युक्त होते हुए भी केवली भगवान् संसार से अलिप्त रहते हैं। रोग-विमुक्त व्यक्ति की भाँति वे भवभ्रमण के रोग से मुक्त होकर असीम आनन्द का अनुभव करते हैं।

सिद्धगति में देह, वाणी और मन रूप से पृथक् एकमात्र शुद्ध आत्मा ही स्वस्वरूप में स्थित रहती है। कर्म वहाँ बिलकुल नहीं है, इसलिए जन्म

(मरणादि रूप संसार) वहाँ कतई नहीं होता। वहाँ से संसार में पुनरागमन भी नहीं होता, क्योंकि सिद्ध-आत्मा कर्मों से सर्वथा दूर होते हैं। कर्मों के आगमन का मुख्य हेतु योग है, जिनका वहाँ पूर्णतया अभाव है। ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक केवल योग ही है। वहाँ इर्यापथिक क्रिया है, जो १४वें गुणस्थान में समाप्त हो जाती है। गति धर्मास्तिकाय-सापेक्ष होने से आत्मा ऊर्ध्वगतिधर्मी होते हुए भी लोकाग्र से ऊपर नहीं जाती। बौद्धदर्शन आत्म-संतति के सर्वथा उच्छेद को निर्वाण मानता है जबकि जैनदर्शन मोक्ष में आत्मा का उच्छेद नहीं, उसका सद्भाव मानता है। हाँ, मोक्ष में आत्मा की विभावदशाजन्य विकृतियाँ सर्वथा समाप्त हो जाती हैं, किन्तु आत्मा समाप्त नहीं होती। यदि आत्मा ही समाप्त हो जाए, तो फिर साधना किसके लिए की जाएगी ? अतः सिद्धि प्राप्त आत्मा शाश्वत रूप में स्थित रहता है।

विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्यरूप से नित्य हैं किन्तु पर्याय-परिवर्तन की अपेक्षा अनित्य भी है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वस्तु का स्वभाव ही 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात्—उत्पत्ति, व्यय, ध्रौव्य से युक्त ही सत्–द्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पत्ति और विलय (विनाश) में परिवर्तित हो रहा है, किन्तु उसके परिवर्तन का यह वर्तन ध्रुव की धुरी पर ही स्थित है। इस ध्रुव सिद्धान्त में सिद्धिस्थित आत्मा भी उत्पाद-व्ययशील है। उनमें भी सूक्ष्म परिवर्तन है। स्वभावस्थित सिद्ध-आत्मा भी स्वगुणों में रमण करता है। यह रमणता ही सिद्धों के सूक्ष्म परिवर्तन की परिचायिका है। समस्त द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त हैं, उनका पर्याय-परिवर्तन सिद्धात्माओं का पर्यायपरिबर्तन है।

धन्य है उन सिद्धगति प्राप्त आत्माओं को

अर्हतर्षि महाकाश्यप इस अध्ययन की अन्तिम गाथा द्वारा उन महान् आत्माओं को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने अनन्त अनथक पुरुषार्थ करके कर्मों के साथ व्यवस्थितरूप से युद्ध किया और उन्हें परास्त करके वे मोहविजयी, अजेय वीतरागी, सर्वतोभद्र एवं सर्वभाव प्रकाशक सर्वज्ञ बने। सर्वज्ञप्ररूपित रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म का सम्यक् आचरण करके, भगीरथ पुरुषार्थ द्वारा वे मोक्षशिखर पर पहुँच कर जगत् के जीवों को महती प्रेरणा दे रहे हैं, कर्मों से मुक्त होने की, जन्म-मरणरूप भवपरम्परा से छुटकारा पाने की, तथा अखण्ड आत्म-विश्वास और प्रबल आत्मशक्ति से आगे बढ़ने की !

जन्म-कर्म से मुक्त होने का पुरुषार्थ करें

बन्धुओ ! इस अध्ययन में अर्हतर्षि ने ६ तथ्यों का प्रतिपादन कर दिया है—(१) आत्मा है, (२) वह नित्य है, (३) वह अपने कर्मों का कर्त्ता, (४) और भोक्ता है, (५) (आस्रव और बन्ध से मुक्तिरूप) मोक्ष है और (६) मोक्ष का उपायरूप सद्धर्म (संवरनिर्जरारूप) है। यही जैनदर्शन के छह मुख्य स्तम्भ हैं।

आप भी इन जीवादि नौ तत्त्वों पर गम्भीरता से विचार करके अपनी आत्मा को कर्म-बन्धन से और जन्म-परम्परा से मुक्ति दिलाने का पुरुषार्थ करें। मानव-जीवन में यही पुरुषार्थ श्रेयस्कर है। □

१३

मिथ्या श्रद्धा और सम्यक् श्रद्धा

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

ऋषिभाषितानि के प्रवचन-क्रम में आज मैं आपके सामने एक नये विषय पर प्रकाश डालना चाहूँगा । वह विषय है आत्म-श्रद्धा और परमात्म-श्रद्धा ।

संसार में प्रायः जितने धर्म हैं, सभी ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं । ईश्वर या परमात्मा में सभी की श्रद्धा है, विश्वास है । किंतु कुछ लोग जो ईश्वर को कर्ता-हर्ता मानते हैं, उनका कहना है—ईश्वर अनन्त शक्तिमान है, वह चाहे जिसको सुखी कर सकता है, चाहे जिसको दुःख दे सकता है । सारा संसार उसी की इच्छा से चलता है ।

कुछ लोग हैं जो ईश्वर को सिर्फ द्रष्टा मानते हैं । उनका विश्वास है, संसार में जो भी सुख-दुःख है वह अपना किया हुआ है । हमारा आत्मा यदि सत्कर्म करता है तो उसका फल सुख रूप में प्राप्त होता है, आत्मा यदि असत्कर्म करता है तो उसका फल दुःख रूप में मिलता है । ईश्वर इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता । यह नहीं होता कि आपने जहर खा लिया और फिर ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमात्मा मुझे मरने मत देना ! मुझे जिला देना ! अपने मिर्च खाई है तो मुँह जलेगा । आपने मीठा खाया है तो मुँह मीठा होगा । इसमें ईश्वर क्या करेगा ?

भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से ये दोनों ही विचारधारा चली आ रही हैं । ईश्वर को कर्ता मानने वाले सब कुछ उसी के भरोसे छोड़ देते हैं । ईश्वर को द्रष्टा मात्र मानने वाले आत्मा को सुख-दुःख का कर्ता मानकर कर्म-फल में विश्वास करते हैं । श्रमण परम्परा में निर्ग्रन्थ धर्म आत्मा को कर्ता मानकर कर्म एवं कर्मफल में विश्वास करता है । जैन धर्म का यह दृढ़ विश्वास है । कि—

अप्पा कत्ता वि कत्ता य दुहाण य सुहाण य

सुख और दुःख का करने वाला आत्मा ही है । आत्मा जैसा कर्म करता

है उसी के अनुसार उसको फल मिलता है। ईश्वर या परमात्मा उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता।

जो लोग ईश्वर को कर्ता-हर्ता मानते है वे कहते हैं—ईश्वर में श्रद्धा रखो! जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे कहते हैं—आत्मा में श्रद्धा रखो!

प्रस्तुत प्रकरण में तेतलीपुत्र अर्हतर्षि का प्रवचन है। यह ऋषिभाषितानि का दसवाँ अध्ययन है। इसमें ऋषि ने इसी बात पर बल दिया है कि कर्मों का कर्ता आत्मा है? सुख-दुख पाने वाला आत्मा स्वयं ही है।

"को कं ठावेइ अण्णत्थ, सगाइं कम्माइं इमाइं।"

—कौन किस को (अपने आत्मभाव से) अन्यत्र (दुःख के कारणभूत स्थानों में) स्थापित करता है? मेरे अपने कर्म ही हैं; (जो मुझे बन्धन में डाल कर दुःख के दलदल में फँसाते हैं, उनसे मुक्त होने की शक्ति भी स्वयं मुझ में है।)

यह तो तो सर्वविदित है कि संसार के समस्त मानव अपने ही दोषों के कारण बन्धन में पड़ते हैं। परमात्मा न तो किसी को बन्धन में डालते हैं, न ही दुःख देते हैं, और न ही दुःखों से मुक्त करने का दायित्व उन पर है। अपने दुःखों, कष्टों और संकटों के लिए व्यक्ति स्वयं ही जिम्मेवार है। बाहरी शक्ति न तो किसी को बन्धन में डालकर दुःख देती है और न ही किसी के दुःख को दूर कर सकती है, अथवा बन्धनमुक्त कर सकती है। एक मस्त कवि कविता की भाषा में कहता है—

सखे! तू न बीच में बोल!
स्वयं बंधा हूँ, स्वयं खुलूंगा अपना हृदय टटोल।

प्रस्तुत सूत्र वाक्य में अर्हतर्षि अपने जीवन में अनुभूत तत्व बतला रहे हैं कि मैं अब तक भ्रम में था। मैं यह समझता था कि मुझ पर जो अगणित दुःख और विपत्ति, संकट और मुसीबतें आई हैं, वे परमात्मा ने दिये हैं अथवा मेरे स्वजन-परिजनों ने मुझे अपमानित करके संकट में डाला है।

मैं सुख-सुविधाओं और विलासिता में मग्न रहकर स्वयं को, अपने ही पुरुषार्थ से, अपने ही अहंकार वश सुखी मानता था। उस समय तो मैं परमात्मा को भूल गया था, अहंकर्ता के अभिमान में पड़ कर अपने आप को ही सर्वेसर्वा तथा राज्य का कर्ता-धर्ता मानता था। परन्तु अब मेरी आँखें खुलीं। मुझे सूर्य के उजाले की तरह प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि परमात्मा किसी को दुःख नहीं देते, न ही संकट में डालते हैं, और न ही वीतराग प्रभु किसी के अपने किये हुए दुःख, विपत्ति और संकटों को नष्ट करते हैं। सत्य यह है कि—

स्वयं कृतं कर्म, यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटम्,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।

—(आचार्य अमितगति)

आत्मा ने पूर्व में जो कुछ कर्म स्वयं ही किये हैं, उन्हीं का शुभाशुभ फल वह प्राप्त करता है। यदि अपने किये हुए कर्मों का फल दूसरा देता है तो स्पष्ट है कि स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेगा, अर्थात्—फिर तो स्वयं किये हुए अच्छे-बुरे कर्म के अनुसार फल न मिल कर दूसरे के द्वारा—किसी बाहरी शक्ति की इच्छानुसार शुभाशुभ फल मिलेगा तब अपने द्वारा किये हुए कर्मों का क्या होगा ?

ऐसी श्रद्धा से सावधान !

वास्तव में, ईश्वर न तो किसी को दुःख देता है और न ही किसी के अपने किये हुए कर्मोदयवश आए हुए दुःख या संकट का ही निवारण करता है। इस दृष्टि से, यानी इस प्रकार की अन्धमान्यता से अर्हतर्षि तेतलिपुत्र परमात्मा पर या देव, गुरु एवं धर्म पर विपरीत श्रद्धा के खिलाफ खड़े होकर कहते हैं—

सद्धेयं खलु भो समणा वदंती, सद्धेयं खलु माहणा,
अहमेगो असद्धेयं वदिस्सामि ।
तेतलिपुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं ॥

'श्रमण कहते हैं कि श्रद्धा करनी चाहिए, माहन (ब्राह्मण) भी कहते हैं कि श्रद्धा करनी चाहिए परन्तु मैं अकेला कहता हूँ कि श्रद्धा नहीं करनी चाहिए इस प्रकार अर्हतर्षि तेतलिपुत्र ने कहा।'

यहाँ पर तेतलीपुत्र अर्हतर्षि ने श्रद्धा और अन्धश्रद्धा में एक बहुत बड़ी रेखा खींच दी है। उनका कथन है कि कुछ श्रमण भी इस श्रद्धा (या अन्ध श्रद्धा) में डूबे हैं कि संसार में जो कुछ हो रहा है, होगा वह सब नियति—भाग्य (या परमेश्वर) की इच्छा से ही होता है। मनुष्य तो नियति के हाथ की कठपुतली मात्र है।

आप पूछोगे—श्रमण (यानी निर्ग्रन्थधर्म—जैनधर्म) तो यह बात नहीं कहता। किन्तु आपको पता होना चाहिए प्राचीन समय में श्रमणों की अनेक परम्पराएँ थीं। हम वीतराग देव के अनुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ श्रमण कहलाते थे, जबकि तथागत बुद्ध के अनुयायी 'शाक्य-श्रमण' नाम से प्रसिद्ध थे। गोशालक भी श्रमण परम्परा का आचार्य था। उसके अनुयायी 'आजीवक

श्रमण' कहलाते थे। इसी तरह 'तापस श्रमण' जटाधारी, जंगलों में रहने वाले संन्यासी भी 'श्रमण' होते थे और गैरिक श्रमण गेरुए रंग के वस्त्र पहने त्रिदण्ड धारण किये रहने वाले संन्यासी भी 'श्रमण' ही कहलाते थे। प्रवचनसारोद्धार[1] आदि ग्रन्थों के उनका वर्णन आता है।

तो इस प्रकार श्रमणों की पाँच परम्पराएँ पुराने समय में चल रही थीं। और उनकी विचित्र-विचित्र मान्यताएँ थीं। गोशालक नियतिवादी था, शाक्य-श्रमण (बौद्ध) क्षणिकवादी थे। तापस श्रमणों की मान्यताओं का परिचय आज पुराने ग्रन्थों में नहीं मिलता, किन्तु लगता है यहाँ अर्हतर्षि ने तापस श्रमणों की इस प्रकार की अंधश्रद्धा की ओर संकेत किया है जो यह मानते थे कि मनुष्य कुछ भी पाप करे, किंतु अन्त में परमात्मा की शरण में चला जाये तो वह उसे उन पापों से मुक्त कर देता है। इसलिए ऋषि ने यहाँ श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों की ही इस श्रद्धा पर प्रहार किया है कि—परमात्मा के प्रति भी पूर्वोक्त प्रकार की तथाकथित दुःखमुक्ति की श्रद्धा रखकर नहीं चलना चाहिए, और न ही संसार के इन सम्बन्धीजनों या सम्बन्धों के प्रति कोई वैसी श्रद्धा करे क्योंकि सांसारिक सम्बन्ध स्वार्थ के धागों से बंधे हुए हैं।

ऐसी अश्रद्धा का रहस्य : स्वकथन द्वारा

अर्हतर्षि तेतलिपुत्र के इस प्रकार की श्रद्धा के विरुद्ध कथन की गहराई में उतर कर देखा जाए तो ये उद्‌गार उस समय के हैं, जबकि एक ओर वे ईश्वरवादियों की सत्पुरुषार्थविहीन कोरी श्रद्धा एवं स्वजनों के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की स्वार्थपरायण श्रद्धा से ऊब चुके थे। अपमान से त्रस्त होकर ही उन्होंने ये उद्‌गार निकाले थे। इस कथन के पीछे तेतलिपुत्र के उत्थान-पतन की रोचक अपबीती कहानी है।

इस आत्मकथा की पूर्वभूमिका जैनागम ज्ञातासूत्र में विस्तृत रूप से वर्णित है।

देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धाहीन कनकरथ राजा

तेतलीपुर का राजा कनकरथ ब्रह्मचर्यप्रेमी तथा रूपवती रानी पद्मावती पर अत्यन्त मुग्ध था। वह इतना कामासक्त था कि पद्मावती के यौवन को अखण्डित रखने और अपनी अधम सत्तालोलुपतावश पद्मावती से होने वाले पुत्र के अंग को खण्डित करा देता और उसे स्तनपान नहीं करने देता।

---

१ (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार ४, प्रथम भाग, गाथा ७३१

(ख) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३८७

परमात्मा, धर्म या गुरु के प्रति न तो उसकी श्रद्धा थी और न ही अन्ध-श्रद्धा थी। अपने प्यार के पात्र अंगजात पुत्र के अंगों को खण्डित करके राज्य के लिए अयोग्य सिद्ध करके राजा कनकरथ अन्यायी और अत्याचारी बना हुआ था। रानी चाहते हुए भी राजा के अन्याय अत्याचार के खिलाफ विद्रोह नहीं कर सकती थी। कनकरथ राजा परमात्मा, सद्गुरु या सद्धर्म के प्रति बिलकुल अश्रद्धालु था। जनता भी उसके इस अत्याचार से दुःखित थी।

पद्मावती की श्रद्धा फलित हुई

पद्मावती रानी की देव, गुरु और धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। वह कनकरथ राजा के अत्याचारों को देख-देखकर कांप उठती थी। परमात्मा से प्रार्थना किया करती थी कि राजा को सद्बुद्धि प्राप्त हो। राजा को भी वह मधुर शब्दों में कहती थी कि क्या आप जानते हैं कि आपके पाप कर्मों का कितना बुरा परिणाम आएगा ? थोड़े-से जीने के लिए आप इतनी रौद्र लीला क्यों करते हैं ? यद्यपि राजा सुनकर अनसुना कर देता था तथापि मन ही मन उसे उसका पापकर्म कचोटता रहता था। रानी पद्मावती की तपस्या, परमात्मभक्ति और श्रद्धा के पुण्यबल से उसके शुभकर्मों का उदय हुआ। प्रकृति अनुकूल हुई।

कनकरथ राजा का अमात्य तेतलिपुत्र था। उसने 'यथा-राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार एक स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला के रूप से मुग्ध होकर उसके साथ पणिग्रहण किया।

पद्मावती रानी को राजा का अत्याचार असह्य हो उठा। वह परमात्मा से श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करती रहती, इधर तप, व्रत, नियम, दान आदि धर्माचरण भी करती रही। सौभाग्य से उसकी मानसिक पीड़ा की प्रतिध्वनि अमात्य तेतलिपुत्र के हृदय में हुई। एक दिन रानी ने गुप्त रूप से अमात्य तेतलिपुत्र को बुलाया और अपनी मनोव्यथा कहकर उससे सहयोग माँगा। रानी के परम पुण्ययोग से अमात्य तेतलिपुत्र ने कहा—"महारानी जी! आप कहें उस प्रकार से मैं सहयोग देने को तैयार हूँ।"

पद्मावती ने कहा—इस समय मैं गर्भवती हूँ। अगर गर्भस्थ बालक पुत्र हो तो उसे स्थानान्तरित करके दूसरे स्थान से पुत्रीरूप बालक लाकर रख दिया जाय तो कदाचित राजा उस बालिका पर दया करके उसका अंग-भंग न करे या नष्ट न करे तो यह राजकुमार सुरक्षित रहकर भविष्य में उत्तराधिकारी बने।" यों कहते-कहते पद्मावती रानी की आँखें गीली हो गईं।

अमात्य तेतलिपुत्र ने कहा—"महारानी जी ! चिन्ता न करें। इस

समय पोट्टिला (अमात्य की पत्नी) भी गर्भवती है। यदि उसके गर्भ से पुत्री हो तब तो कोई प्रश्न ही नहीं है। किन्तु यदि पुत्र हो तो उस समय कोई न कोई उपाय अवश्य ही इस सत्कार्य के लिए निकल आयेगा। मैं वफादारी के लिए चाहे जो त्याग करने को तैयार हूँ। आप निश्चिन्त रहें।''

महारानी पद्मावती को इस उत्तर से बड़ा आश्वासन मिला। उसका रोम-रोम उल्लास से भर गया। उसने अन्तर् से अमात्य को आशीर्वाद की वृष्टि की।

महारानी के शुभसंकल्प एवं श्रद्धाबल के अनुसार प्रकृति भी अनुकूल हुई। ठीक समय पर महारानी के पुत्र हुआ और अमात्य तेतलिपुत्र की पत्नी पोट्टिला की कूख से पुत्री हुई। पूर्व-संकेतानुसार अमात्य ने राजपुत्र को अपने यहाँ रखा और अपनी पुत्री रानी को सौंपी। राजा को पुत्री के जन्म की खबर मिली। फिर समझाया गया कि पुत्री का अंग-भंग करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो आपके राज्य की उत्तराधिकारिणी हो नहीं सकती। फलतः राजा समझ गया। परन्तु जिसके पुण्य प्रबल होते हैं, उसका कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता। राजा तो इसी भ्रम में था कि मेरा राज्य लेने वाला कोई नहीं है। मैं लाखों वर्षों तक सुख-सुविधापूर्वक जीऊँगा और राज्य करूंगा। परन्तु पापकर्मों का बदला मिले बिना नहीं रहता।

अमात्य ने राजकुमार का नाम कनकध्वज रखा। राजकुमार की तरह सभी सुख-साधनों से उसका पालन-पोषण होने लगा। उसे कलाओं और विद्याओं का अभ्यास कराया। कनकध्वज ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, त्यों-त्यों अपने जन्म और पालन-पोषण का रहस्य समझता जाता था। फिर भी अमात्य तेतलिपुत्र को वह पिता ही मानता था। उसके प्रति उसके मन में पूज्यभाव था।

कनकरथ राजा की अश्रद्धा का परिणाम

इधर राजकुमार राज्याभिषेक के योग्य हो रहा था, उधर राजा असाध्य रोग से पीड़ित था। मैं कभी रुग्ण नहीं होऊँगा, ऐसा कनकरथ राजा का अभिमान उतर गया था। वह ज्यों ज्यों इलाज कराता था, त्यों-त्यों अधिकाधिक बीमार होता जाता था। राजा के पाप कर्म उदय में आगये थे। मृत्यु राजा के सामने नाचने लगी। राजा ने अपार धन खर्च कर दिया, सभी कुछ उपाय कर लिये, सभी मंत्रवादी, तंत्रवादी,

ज्योतिषी, वैद्य, रसायनशास्त्री आदि बुलवा लिये, परन्तु कोई भी राजा को स्वस्थ न कर सका। होता भी कहां से, जिसके दर्शनमोह एवं चारित्र-मोह कर्म का प्रबल उदय हो, उसे न तो देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं सच्ची समझ, निष्ठा एवं लगन हो सकती है, और न ही अहिंसादि धर्मों के पालन में रुचि, तड़पन या तीव्रता आ सकती है। वह हाय, हाय करते ही, आर्त-रौद्र ध्यान से पीड़ित दशा में इस संसार से कूच करके दुर्गति का मेहमान बनता है। हुआ भी यही, जब राजा को यह प्रतीति हो गई कि अब तो मुझे यहाँ से विदा होना ही पड़ेगा, तब उसके हृदय में भयंकर पीड़ा एवं वेदना होने लगी कि—"हाय ! मैंने थोड़े-से जीने के लिए कितना अनर्थ कर डाला ! कितने अत्याचार, दुराचार और अनाचार सेवन किये ! अपने ही पुत्रों को मैंने अपने हाथों से अंगविकल किये। इस पाप से मैं किस भव में छूटूंगा। हे पतितपावन ! मेरा उद्धार कैसे होगा ? मैंने अपना कोई उत्तराधिकारी भी नहीं रहने दिया ! अब मेरे जमाये हुए सुरक्षित राज्य को शत्रुराजा शीघ्र ही हथिया लेगा।" इस प्रकार मरण शय्या में पड़ा-पड़ा राजा विलाप, पश्चात्ताप एवं आर्तनाद करने लगा। पलभर भी उसे चैन न था। इसी अशान्त और सन्तप्त दशा में ही वह पर-लोकगामी हो गया।

देव-गुरु-धर्म के प्रति अश्रद्धा, आशातना एवं अत्याचार का दुष्फल राजा को मिल चुका। अमात्य ने राजा की उत्तरक्रियाएँ कीं। प्रजाजनों के हृदय में राजा के प्रति सद्भाव नहीं था, इसलिए उसके वियोग का दुःख किसी के मन में नहीं था। सभी ने सुख की सांस ली।

महामात्य तेतलिपुत्र द्वारा राजकुमार का राज्याभिषेक

तेतलिपुत्र अमात्य ने प्रजाजनों की एक विशाल सभा बुलाई। उसमें महारानी तथा महामात्य ने राजपुत्र के गुप्त के रूप से पालन-पोषण का रहस्योद्घाटन किया। महामात्य द्वारा की गई इस उद्घोषणा को सुन कर जनता में प्रसन्नता छा गई। राजकुमार के हावभाव, स्वभाव और लक्षण देखकर लोगों को राजपुत्र होने की प्रत्यक्ष प्रतीति हो गई। सबने तेतलिपुत्र की कृतज्ञता और वफादारी की अत्यन्त प्रशंसा की तथा आभार प्रदर्शित किया। राज्य के हित के लिए इतना बड़ा त्याग किया, उसके लिए प्रजाजनों ने महामात्य पर भारी अभिनन्दन की वर्षा की।

सुशिक्षित कुमार कनकध्वज का राजसभा में बहुत धूमधाम से राज्या-भिषेक किया गया। राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् कनकध्वज राजा भी

अपने पालक पिता—महामात्य तेतलिपुत्र के प्रति पूज्यभाव रखता था। उसने कृतज्ञता प्रदर्शित करने हेतु अपनी राज्यसम्पदा में से कुछ अंश उसे दे दिया। पिता की तरह सम्मान-बहुमान प्रदर्शित करता था। राजा द्वारा इतना सम्मान किये जाने से प्रजा में भी राजपिता जितना ही उसका बहुमान होने लगा।

तेतलिपुत्र की प्रभुता और प्रतिष्ठा : पतन की कारणभूत

जहाँ प्रसिद्धि, प्रभुता और अधिकार मिल जाते हैं, वहाँ उन्हें न पचा सकने के कारण भयंकर गर्व और अहंकार मनुष्य को घेर लेते हैं। महामात्य तेतलिपुत्र का भी धीरे-धीरे पतन होने लगा। तेतलिपुत्र की उक्त स्थिति ईर्ष्या करने योग्य थी, क्योंकि इतना सम्मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, सत्ता, धन-वैभव एवं सामर्थ्य तथा नैतिक गुण उसके पास थे ही। परन्तु वह इन्हें पचा न सका। फलतः अंदर ही अंदर पतन होने लगा। जैसे टी. वी. के रोगी का शरीर दवा खाने तथा पौष्टिक भोजन लेने से बाहर से तो बहुत स्वस्थ और सुन्दर भरावदार लगता है, किन्तु अन्दर से खोखला हो जाता है, वैसे ही तेतलिपुत्र अमात्य का होने लगा।

तेतलिपुत्र धीरे-धीरे पतन के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। पोट्टिला के जिस रूप पर वह मुग्ध था, धीरे-धीरे उसके प्रति लगाव मन्द होने लगा। पोट्टिला के एक संतान होने पर शरीर-सौष्ठव एवं सौन्दर्य फीका होते ही रूपलोभी तेतलिपुत्र का अनुराग एकदम फीका पड़ने लगा। उसके प्रति अमात्य का व्यवहार रूखा-सूखा और नीरस हो गया। वह भी समझने लगी कि मेरे प्रति पति का प्रेम अब नहीं रहा।

पोट्टिला के हृदय में वैराग्य का अंकुर

पोट्टिला अब दिनों दिन चिन्तित, भ्रान्त और दिक्मूढ़-सी रहने लगी। पति के रूखे व्यवहार के कारण उसके मन पर भी प्रभाव पड़ने लगा। शरीर सूखता गया, चेहरा फीका पड़ गया, तेजस्विता भी नहीं रही, वह दिनोंदिन दुर्बल होने लगी। उसका यौवन पुष्प कुम्हलाने लगा। उसने अब तक कामराग को ही पति प्रेम मान रखा था, किन्तु अब उसकी आँखें खुल गईं। उसे इस स्वार्थभरे संसार से विरक्ति हो गई, परन्तु अन्दर ही अन्दर मन में पति को मना कर अनुकूल बनाने की अनुरक्ति थी। विरक्ति और अनुरक्ति का द्वन्द्वयुद्ध उसके हृदय क्षेत्र में हो रहा था। आखिर यही हुआ। इस द्वन्द्वयुद्ध में अन्त में वैराग्य की जीत हुई।

पोट्टिला की वैराग्य वासित दृढ़श्रद्धा और दीक्षा

पोट्टिला को अपने वैराग्य को सुदृढ़ बनाने हेतु, सुव्रता नाम की एक साध्वी जी का सत्संग मिला। उसका हठीला हृदय कोमल बना। पोट्टिला ने जब साध्वी जी से 'वशीकरणमंत्र' पति को वश में करने हेतु देने की प्रार्थना की तो साध्वी जी ने उसे प्रतिबोध देते हुए कहा—

'बहन! वशीकरण विद्या मलिन विद्या है। इस मंत्र से पति के वश हो जाने पर भी तू अपनी कामवासना की पूर्ति ही करना चाहेगी न? पर इससे तू अपनी महंगी आत्म-स्वतंत्रता बेच देगी। तू जिसे प्रेम समझती है वह वासना का विकृत रूप है। अगर निर्मल प्रेम ही चाहती है, तो तुझे संयम तप और ब्रह्मचर्य को अपनाना चाहिए जिससे तू पति नहीं, सारे विश्व को अपनी ओर खींच सकेगी। उस विशुद्ध प्रेम में सारा जगत् समा जाएगा, तेरा जीवन भी सार्थक होगा।

'स्त्री जो संतान लालसा के कारण काम वासना के गड्ढे में गिरती है, उससे तो तू ऊपर आ चुकी है, तेरे एक संतान हो चुकी है। अतः अब पुराने अध्यास से मुक्त होकर विशुद्ध विश्व प्रेम का विचार कर।'

साध्वीजी का उपदेश सुनकर पोट्टिला के हृदय में निहित वासना का काँटा निकल गया। उसे अपनी आत्मशक्ति और आत्मसमृद्धि का भान हुआ। अन्तर् में निर्ममता जागी, चेहरे पर प्रसन्नता की लाली दौड़ उठी। उसने अपने उद्गार निकाले—'महासतीजी! मैंने थोड़े-से सत्संग में इतना ज्ञान प्राप्त किया, अतः जीवन पर्यन्त आपके साथ रहने की इच्छा है। अब मुझे भोग या सांसारिक सुख की इच्छा नहीं रही। अब मेरी इच्छा आपके पास दीक्षित होकर जीवन विताने की है। अतः आप मुझे साध्वी-दीक्षा दें।'

साध्वीजी ने कहा—'बहन! तेरी इच्छा प्रशंसनीय है। संयम का मार्ग ही आत्मा के लिए सुखकर है। परन्तु दीक्षा तुम्हें तभी दी जा सकती है, जब तुम्हें अपने पति की आज्ञा मिल जाए।'

पोट्टिला ने साध्वीजी की बात स्वीकार की और पति के पास आ कर दीक्षा लेने के अपने हार्दिक भाव व्यक्त किये। तेतलिपुत्र से उसे दीक्षा की कठोरता समझाकर रोकने की बहुत कोशिश की। परन्तु पोट्टिला को वैराग्य का पक्का रंग लग चुका था। अतः उसने कहा मैं अब विषय के कीचड़ में फंसना नहीं चाहती। चाहे जितना कठोर पथ हो, मुझे अपने ध्येय की ओर तीव्र गति से जाना है। मेरी तो इच्छा है कि मुझे आप दीक्षा की आज्ञा दें और आप भी इसी आत्मश्रेय के पथ पर चलें।'

पोट्टिला का सहसा हृदय-परिवर्तन देखकर तेतलिपुत्र को आश्चर्य मिश्रित खेद हुआ। उसने कहा— 'मैं गृहस्थवास का त्याग तो नहीं स्वीकार सकता, किन्तु तुम्हारे इस श्रेय मार्ग में मेरी पूर्ण सहानुभूति है। परन्तु मेरी एक शर्त है कि भविष्य में तू चाहे जिस उच्च-स्थान में जाए, मुझे तुम्हें सद्बोध देने हेतु अवश्य आना है। पोट्टिला ने पति की यह बात मुक्त-मन से स्वीकार की।

अतः पति की आज्ञा प्राप्त करके पोट्टिला ने गृहस्थाश्रम का त्याग कर सुव्रता साध्वी से जी भागवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा लेने के बाद साध्वी पोट्टिला ने भी तप, संयम, संतोष, क्षमा पवित्रता, त्याग आदि उत्तम आत्मिक गुणों से अपने आपको सुसज्जित किया। अन्तिम समय निकट आया तब समाधिमरण पूर्वक इहलोक से विदा होकर देवलोक में गई। सच है, जिसके जीवन में सच्चा ज्ञान, सच्ची श्रद्धा और सम्यग्तप-संयम हों, उसके लिए देवगति दुर्लभ नहीं है।

पोट्टिलादेव द्वारा प्रतिबोध का प्रयास

पोट्टिला की आत्मा देवलोक में रहते हुए अपने साथी का पतन देख कर कांप उठी। अपने दिये हुए वचन के अनुसार पोट्टिला देव ने तेतलिपुत्र को जगाने का दृढ़ निश्चय किया। उसने संत के रूप में आकर अपना परिचय दिया, प्रेरणा दी—इस मोहजंजाल को छोड़ने की। परन्तु तेतलिपुत्र ने इस जंजाल से निकलने की अपनी असमर्थता प्रकट की। दर्शन-मोहनीय की आंधी कितनी विचित्र है, जो वस्तुतत्व पर दृढ़ श्रद्धा नहीं होने देती ! तेतलीपुत्र के मन में मेरा राज्य, मेरी प्रतिष्ठा, इस प्रकार 'मेरे पन' का माया जाल गहरा अड्डा जमाए हुए था।

सर्वत्र अपमानित और आत्म हत्या का विफल प्रयास

पोट्टिलादेव ने सोचा—दर्शनमोह के मूल पर प्रहार किये बिना इसकी आँख नहीं खुलेगी। अतः दैवीशक्ति से पोट्टिलादेव ने ऐसा चामत्कारिक प्रयोग किया कि तेतलिपुत्र का पहले जहां सर्वत्र सम्मान था, आदर-सत्कार था, वहाँ सर्वत्र अपमान और अनादर ही मिलने लगा। उसकी नई पत्नी उसकी बात नहीं सुनती थी। न ही पुत्र उसकी आज्ञा का पालन करता था। राज-सभा में जाते समय रास्ते में किसी ने जरा भी आदर न किया। राजसभा में प्रवेश किया, तब भी न कोई सम्मान में खड़ा हुआ और न किसी ने उसे प्रणाम किया।

जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि तथा समभाव की भूमिका पर न हो, वह जरा-सा सम्मान मिलते ही फूल जाता है और जरा-सा अपमान होते ही

झुंझला उठता है। यही दशा तेतलिपुत्र की हुई। सम्मान का लबालब प्याला पिया हुआ तेतलिपुत्र सहसा अपमान की बौछार पाकर तिलमिला उठा। उसे भारी आघात लगा। ज्यों ही राजा कनकध्वज की कुर्सी के पास अपनी कुर्सी पर बैठने लगा, तब खड़ा होना तो दूर राजा ने घृणा से उसकी ओर से मुँह भी फेर लिया। यह तेतलिपुत्र के लिए असह्य हो उठा। उस समय के अपने मानसिक उद्‌गार स्वयं अर्हतर्षि तेतलिपुत्र प्रगट करते हैं। उनका भावार्थ यह है—

'परिजन-सहित होते हुए भी मैं परिजन (परिवार) रहित हूँ, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा ? पुत्र होने पर भी मैं पुत्ररहित हूँ, ऐसा कहने पर कौन श्रद्धा करेगा ? इसी प्रकार मित्रों और स्नेहीजनों के होते हुए भी मुझे कौन मित्र-विहीन मानेगा ? मेरे पास धन होने पर भी मेरी धनहीनता पर कौन विश्वास करेगा ? परिग्रह होने पर भी मुझे परिग्रहहीन कौन मानेगा ? दान, मान, सत्कार और उपचार या उपकार से युक्त होने पर भी कौन मुझे इनसे पृथक मानने को तैयार होगा ?

"तेतलिपुत्र के स्वजन-परिजन उससे विमुख हैं,' इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? श्रेष्ठ जाति कुल में जन्मी हुई, रूपवती, विनय और उपकार की साकार प्रतिमा स्वर्णकार (मूसिकार) की पुत्री पोट्टिला मिथ्या-भिनिवेश में पड़ गई। मेरे इस कथन को कौन सच मानेगा ? कालक्रम से नीति-शास्त्र-विशारद (अमात्य) तेतलिपुत्र विषाद में डूब गया, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा ?"

वास्तव में, पोट्टिलादेव की दैवीमाया से सभी स्वजन-परिजन आदि रुष्ट हो गए। अपनी कही जाने वाली रूपवती कुलीन पत्नी पोट्टिला स्वयं की उपेक्षा के कारण ज्ञातासूत्र में वर्णित कथा के अनुसार) अमान्या (अनिष्ट) हो गई। अतः पोट्टिला ने साध्वी पतिव्रता का उपदेश सुना, संसार से विरक्त हुई और साध्वी के पास दीक्षित हुई। इसी को तेतलिपुत्र कहता है—'मिच्छ विप्पडिवन्ना' अर्थात् दूसरे के झूठे बहकावे में आ गई। विषादग्रस्त मानव दुःख के क्षणों में सबको याद करता है। तेतलिपुत्र के हृदय में गहरा आघात लगता है और वह जीवन से ऊबकर आत्म-हत्या करने लगता है। किन्तु वह विफल हो जाता है। इसी पर अर्हतर्षि तेतलिपुत्र के मनोभावों को पढ़िए—

"अमात्य तेतलिपुत्र ने घर में प्रविष्ट होकर तालपुट विष खा लिया किन्तु वह बिष भी उसके लिए विफल होगया। मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा? तत्पश्चात् मंत्री तेतलिपुत्र एक विशाल वृक्षपर चढ़ कर गले

में फांसी लगाता है, किन्तु फांसी का वह फंदा टूट गया, अतः वह न मर सका, फिर तेतलिपुत्र बड़े-बड़े भारी भरकम पत्थरों को गले में बांध कर अगाध जल वाली पुष्करिणी में अपने-आपको गिराता है, किन्तु उस अथाह (जल) में भी थाह पा ली, मेरी इस बात पर कौन श्रद्धा करेगा ? तदनन्तर तेतलिपुत्र काष्ठ की विशाल चिता प्रज्वलित कर उसमें कूद पड़ता है, लेकिन वहाँ भी अग्नि की ज्वाला बुझ गई, कौन मेरी इस बात पर विश्वास करेगा ?"

इस प्रकार जब तेतलिपुत्र के द्वारा आत्महत्या करने के सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं। तब पोट्टिलादेव तेतलिपुत्र की मोहदशा नष्ट करने हेतु जो उपाय करती है, उसका भावार्थ यह है—

"तत्पश्चात् वह स्वर्णकार-पुत्री पोट्टिला छोटी-छोटी घंटिका से युक्त पंचवर्णीय वस्त्र पहन कर (देवी के रूप में) आकाश में (ज्ञातासूत्र के अनुसार न अति दूर और न अति निकट) खड़ी हो कर इस प्रकार बोली—'आयुष्मान् ! यह समझो कि तुम्हारे समक्ष गिरिशिखर और चट्टानों में विच्छिन्न होता हुआ प्रपात गिर रहा है, तथा पृथ्वीतल को कम्पित करता हुआ और वृक्षों को उखाड़ता हुआ, आकाश को फोड़ता हुआ, पिंडीभूत अन्धकार (तम के सदृश, प्रत्यक्ष महाकाल-सा शब्द करता हुआ विशालकाय गजराज सामने खड़ा है। तथा क्षणभर में दोनों ओर प्रचण्ड धनुष से छूटे हुए, पृथ्वी के वक्ष में पूरे के पूरे प्रवेश करने वाले बाण बरस रहे हैं। जिनके पिछले हिस्से पर लगे हुए पंख ही दिखाई पड़ रहे हैं। आग की लपलपाती हुई सहस्रों लपटों से सारा वन प्रदेश जल रहा है। धू-धू करती हुई ज्वालाएँ उठ रही हैं और शीघ्र ही उदीयमान सूर्य के सदृश लाल-लाल व गूंजा के अर्द्धभाग की राशि की प्रभा के समान लाल अंगार-सा बना हुआ यह घर भी जल उठेगा। आयुष्मान् तेतलिपुत्र ! ऐसा होगा, तब हम कहां जाएँगे ?"

पोट्टिलादेव का यह कथन सुनकर तेतलिपुत्र संसार से भयभीत हो गया था, उसके उद्गार सुनिये—

तत्पश्चात् अमात्य तेतलिपुत्र, मूसिकारपुत्री पोट्टिला (देवता) से इस प्रकार बोला—'पोट्टिले! यह तो तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि भय-ग्रस्त मनुष्य को प्रव्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण करना उपयुक्त है। अभियुक्त व्यक्ति आत्मघाती कृत्य कर सकता है। मायी व्यक्ति गुप्तकृत्य करता है। देशाटन के लिए उत्कण्ठित मनुष्य देश भ्रमण करता है। पिपासित का पान

करना, क्षुधातुर का भोजन करना, दूसरें को पराजित करने की कामना वाले व्यक्ति का शस्त्रकार्य अर्थात्-शस्त्र विद्या का अध्ययन सम्भव है, किन्तु क्षान्त, दान्त, तोन गुप्तियों से गुप्त, जितेन्द्रिय के लिए (पहले बताया हुआ प्रपातादि) इन भयों में से एक भी भय सम्भव नहीं है।

तेतलिपुत्र का मोह का नशा उतरा

इससे पूर्व पोट्टिलदेव ने जो संसार और गृहस्थाश्रम को विभिन्न अग्नियों से प्रज्वलित बताकर तेतलिपुत्र को भयभीत एवं विरक्त किया था, इस पर तेतलिपुत्र ने कहा था कि भयभीत मनुष्य को प्रव्रज्या ग्रहण करना ही उचित है। यह सुनकर पोट्टिलदेव ने प्रेरणा दी—'आपने अपने मुँह से ही संयम लेने की बात स्वीकार की है, अतः अब आनाकानी क्यों कर रहे हैं ?'

तेतलिपुत्र को पोट्टिला की बोधधारा गले उतरी। उसे गम्भीर विचारपूर्वक आध्यात्मिक प्रतिबोध हुआ। अब किसी प्रकार का जाति आदि गर्व नहीं रहा। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का प्रभाव इस बोध से समाप्त हुआ। तेतलिपुत्र को आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन हुए। त्याग-पिपासा जगी। संसार से विरक्ति तो हुई, परन्तु हृदय में चुभा हुआ अपमान का कांटा अभी खटक रहा था। पोट्टिला ने उस भ्रान्ति का पर्दा हटाते हुए समझाया—"आपने जो अपमान का दृश्य देखा, वह सिर्फ इन्द्रजाल था, एक प्रकार का नाटक था, वह वास्तविक नहीं था। वह तो मैंने तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए चमत्कार प्रयोग किया था, वास्तव में यह सब मिथ्या भ्रमजाल था।"

मोक्ष मार्ग पर दृढ़श्रद्धा, प्रव्रज्या और सिद्धि

अब तेतलिपुत्र को पोट्टिला की सारी बात समझ में आई। उसने पोट्टिला का बहुत उपकार माना कि उसने मिथ्या मोहमाया-जाल से मुक्त किया।

मोक्षामार्ग पर तेतलिपुत्र की श्रद्धा दृढ़ हुई। कहते हैं—तेतलिपुत्र को जातिस्मरण-ज्ञान हुआ। अब पूर्णरूप से उसका आत्मसमाधान हो गया था। अतः त्यागमार्ग की प्रतीक भागवती दीक्षा अंगीकार की। उत्तरोत्तर तप-संयम की आराधना से परम आत्मिक-विकास करके उसने केवलज्ञान और आत्मसिद्धि प्राप्त की।

सम्यक् श्रद्धा का दूरगामी परिणाम

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

तेतलिपुत्र अर्हतर्षि की जीवन गाथा पर से इतना तो स्पष्ट है कि जब तक काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, अभिमान आदि दुर्गुणों की प्रबलता मिश्रित श्रद्धा रहती है, तब तक आत्मशक्ति पर सच्ची श्रद्धा जमती नहीं। और जब आत्मशक्ति पर सम्यक् श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, तब कामादि का प्रभाव हट जाता है। सम्यक्ज्ञान प्रकट होता है और सम्यक्चारित्र की पगडंडियाँ पार करके एक दिन वह सिद्धि-मुक्ति के द्वार खोल देता है। सम्यक् श्रद्धा की सुदृढ़ता ही उसका मूल है। □

१४

आध्यात्मिक विकास का राजमार्ग

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं आपके समक्ष आध्यात्मिक-विकास के सम्बन्ध में प्रकाश डालूंगा।

प्रत्येक साधक अपनी आत्मा का विकास चाहता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मुमुक्षु साधक चाहता है कि आत्मा की शक्तियों को रोकने वाली, उन्हें जकड़कर रखने वाली गांठों को तोड़कर आत्मा निराबाध रूप से मोक्षमार्ग की ओर गति-प्रगति करे।

आध्यात्मिक विकास के लिए आत्मिक विवेक आवश्यक

परन्तु क्या आप बता सकते हैं कि आध्यात्मिक विकास के लिए सर्वप्रथम किस बात की आवश्यकता है ? आप नहीं बता सकते हों तो मैं ही बता दूं।

आध्यात्मिक विकास का सम्बन्ध केवल पढ़ने-लिखने से नहीं, भौतिक ज्ञान से भी नहीं, उसका सम्बन्ध है—आत्मिक विवेक को जगाने से। यदि भौतिक ज्ञान-विज्ञान या पढ़ाई-लिखाई सहज-प्राप्त हो तो बहुत अच्छी बात है, परन्तु वह अगर सहज प्राप्त न हो तो कोई बात नहीं है। उसके लिए पश्चात्ताप की, या किसी को कोसने की आवश्यकता नहीं। कबीरजी कोई एम० ए० डी-लिट्, साहित्यरत्न या शास्त्री आदि किसी भी पदवी (डिग्री) के धारक नहीं थे, उनकी शैक्षणिक योग्यता बहुत ही अल्प थी, किन्तु उनमें कर्मयोगमय आध्यात्मिक जीवन जीने का विवेक था। इसी प्रकार रैदास आदि कई सन्त बहुत ही कम पढ़े-लिखे थे, लेकिन उनका आत्म-विकास प्रबल था। उसका कारण था—आत्मिक-विवेक की अधिकता।

बहुत-से व्यापारी पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी उनके व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक विकास देखते ही बनता था। आनन्द श्रमणोपासक की जीवन

गाथा जब हम पढ़ते हैं तो भगवान् महावीर ने उनके नाम के आगे कोई भी शैक्षणिक डिग्री आदि का सूचक विशेषण नहीं लगाया। हाँ, उसके सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक विकास की क्षमता के परिचायक विशेषणों का प्रयोग भगवान् ने अवश्य किया है—

"अड्ढे, दित्ते, वित्ते, अपरिभूए..........।"

वह धन और गुणों से आढ्य (सम्पन्न) था, दीप्त (तेजस्वी) था, समाज में विख्यात (वित्त) था, और किसी से पराभूत होने (दबने) वाला नहीं था, इत्यादि।

भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है—

खेयन्नए से कुसले महेसी

वे क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञ) और कुशल महर्षि थे।

इसी प्रकार गणधर गौतम स्वामी के आध्यात्मिक विकास के सूचक पाठ भी भगवती सूत्र आदि शास्त्रों में मिलते हैं—

"उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, घोरबंभयारी ...."

वे उग्रतपोधनी थे, उनकी तपस्या तेजोयुक्त थी, उनकी तपश्चर्या तपीतपाई (अभ्यास युक्त) थी। वे घोर-ब्रह्मचर्यव्रती थे। ....इत्यादि।

आध्यात्मिक विकास की पहचान

जब साधक के जीवन का आध्यात्मिक विकास हो जाता है तो उसके जीवन की साधना तेजस्वी होती है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, ब्रह्मचर्य, सत्य अहिंसा, दया, क्षमादि धर्म, आदि सब आत्मिक गुणों में आत्मिक विवेक सहज, अकृत्रिम, तेजस्वी, सुदृढ़ एवं अविचल हो जाता है। अतः आध्यात्मिक विकास सहज प्राप्त भी होता है, विवेक जनित भी। सहज प्राप्त तो किन्ही विरले ही साधकों का होता है, जिन्होंने पूर्वजन्मों में अध्यात्म-साधना की हो, और वह अधूरी रह गई हो। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित अनाथी मुनि, नमिराजर्षि आदि का तथा अन्तकृद्दशांग में वर्णित गजसुकुमार मुनि, अतिमुक्तक मुनि आदि का जीवन सहज प्राप्त आध्यात्मिक विकासमय था। किन्तु विवेक जनित आध्यात्मिक विकास होता है वर्तमान जीवन में पुरुषार्थ करने से।

उत्तराध्ययन-सूत्र में वर्णित हरिकेशी मुनि, चित्त मुनि आदि का तथा अन्तकृत् सूत्र में वर्णित अर्जुन मुनि आदि का जीवन विवेकजनित आध्या-

त्मिक विकास के उदाहरण हैं। इन्होंने इसी जन्म में ज्ञानादि गुणों में पुरुषार्थ करके आध्यात्मिक विकास किया था। इसी प्रकार दृढ़प्रहारी, संयती राजर्षि, नन्दीषेण मुनि आदि के उदाहरण भी विवेकजनित आध्यात्मिक विकास के हैं।

नमि राजर्षि की परीक्षा लेने के पश्चात् उनके आध्यात्मिक विकास की प्रशंसा करते हुए इन्द्र कहता है—

अहो ! ते निज्जिओ कोहो, अहो ! माणो पराजिओ।
अहो ! ते निरक्किया माया, अहो ! लोभो वसीकओ ॥

अहो ! ते अज्जवं साहु, अहो ! ते साहु मद्दवं।
अहो ! ते उत्तमा खंती, अहो ! ते मुत्ति उत्तरा ॥

इहंसि उत्तमो भंते ! पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥

अर्थात्—अहो ! आपने क्रोध को जीत लिया है, और हे ऋषिवर ! आपने मान को भी पराजित कर दिया। अहो ! माया को भी पछाड़ दिया है आपने और लोभ को भी वश में कर लिया है। अहो ! आप में कितनी उत्तम सरलता है ! कितनी मृदुता है। अहो ! आप में उत्तम क्षमा है, अहो ! आपकी निर्लोभता उत्तम है। भगवन् ! आप यहाँ भी उत्तम हैं, और परलोक में भी उत्तम होंगे तथा भविष्य में कर्मरज से रहित होकर लोक के अग्रभाग पर उत्तम सिद्धिस्थान को प्राप्त करेंगे।

निष्कर्ष यह है कि आत्मिक विवेक की प्रचुरता ही आध्यात्मिक विकास का थर्मामीटर है। इसी आत्मिक विवेक को दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक ज्ञान कह सकते हैं।

लौकिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान में महान् अन्तर

इसी आध्यात्मिक ज्ञान का प्रबल समर्थन करते हुए ग्यारहवें अध्ययन में अर्हतर्षि मंखलीपुत्र ने कहा है—

सिट्ठायणेऽव आणच्चा अमुणी संखाए अणच्चा एसे तातिते।
मंखलीपुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं।

इसका भावार्थ यह है कि वीतराग की आज्ञा प्राप्त करने के लिए सिर्फ लौकिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्टजन अमुनि हो जाता है। लौकिक ज्ञान का अध्ययन छोड़कर आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुनि वास्तविक त्रायी—आत्मरक्षक होता है।

आध्यात्मिक ज्ञान की श्रेष्ठता

मुनि आत्म-शोधक होता है, वह वीतराग धर्म का पथिक है। आध्यात्मिक शान्ति के लिए आध्यात्मिक ज्ञान परम आवश्यक है। शास्त्रों में यत्र-तत्र साधु के लिए कहा गया है—'अप्पाणं भावेमाणे विहरइ' अर्थात्—वह आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता था। हाँ आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भाषा ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो सहायक के रूप में कर सकता है। परन्तु उसी को मुख्य मानकर झूठा आध्यात्मिक ज्ञान बघारे, आचरण रहित आध्यात्मिक ज्ञान का तोता-रटन करे तो वह आध्यात्मिक ज्ञान वास्तविक सहीं है। योगीश्वर आनन्दघनजी आध्यात्मिक ज्ञान को महत्व देते थे। उनके रोम-रोम में आध्यात्मिक ज्ञान किस प्रकार रम गया था ? उनके जीवन की एक घटना से ज्ञात हो जाएगा—

योगीश्वर आनन्दघनजी आध्यात्मिक पुरुष थे। वे शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मान कर एकमात्र आत्मा की, आत्म-विकास या आत्म-हित की साधना करने के लिए बस्ती को छोड़कर एकान्त जंगल में चले गये थे, वहीं वे ध्यानमग्न रहने लगे। उन्हें कुछ दिनों के लिए लोक-संग, जनासक्ति एवं संघ के प्रति ममत्व से दूर रहकर एकमात्र आत्मध्यान एवं आत्मचिन्तन करने का अभ्यास पक्का करना था। उनके एक योगी-मित्र को अतिदीर्घकालिक साधना के पश्चात् सोना बनाने की विद्या (लब्धि) प्राप्त हुई थी। अपनी विद्या (लब्धि) के बल से वे एक ऐसा रसायन बना सकते थे जिसकी एक बूँद लाखों मन लोहे पर डाल देने से सोना हो जाता था।

उस योगी ने अपने मित्र योगीश्वर आनन्दघनजी को वह रसायन एक कुप्पी में भर कर अपने शिष्य के साथ भेजा। श्री आनन्दघनजी उस समय आत्म-ध्यान में मस्त थे। ध्यान पूरा होते ही योगी मित्र के शिष्य ने उक्त रसायन की कुप्पी आनन्दघनजी के चरणों में रखी और उसके प्रभाव की बात कहकर वह भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की। इस पर आनन्दघनजी ने पूछा—क्या इसमें आत्मा है ?' शिष्य बोला—'महाराज ! आप भी कैसी बचकानी बात करते हैं। केवल आत्मा-आत्मा की रट लगा रहे हैं। मेरे गुरु जैसी सिद्धि तो दिखाइये। इस भेंट में आत्मा नहीं है। परन्तु आपके मित्र-योगी ने मेरे साथ भेजी है, अतः इस भेंट को स्वीकार कीजिए।'

आनन्दघनजी ने जवाब दिया—"जिसमें आत्मा नहीं है, वह मुझे नहीं चाहिए। आत्मा के अतिरिक्त, सभी वस्तुएँ तुच्छ हैं।"

शिष्य ने कहा—"महाराज ! अगर मैं यह भेंट वापस ले जाऊँगा तो आपके मित्र का अपमान माना जाएगा। इसलिए आप इस भेंट को स्वीकार कर लीजिए।"

आनन्दघनजी ने कहा—'इसे यहाँ रख दो।' और उसी समय कूपी हाथ में लेकर पास में पड़ी एक शिला पर पटकी और फोड़ डाली।

आनन्दघनजी ने एक पहाड़ पर जाकर लघुशंका की। तुरन्त ही वह सारा पहाड़ सोने का हो गया। आनन्दघनजी ने आगन्तुक शिष्य से कहा—"ले उठा इसे, लेजा !" शिष्य तो यह देखकर हक्का-बक्का हो गया। उसने सोचा—मेरे गुरु इतने तक ही पहुँचे हैं, जबकि इनके मूत्र में इतना चमत्कार है। फिर भी ये यहीं तक अटके नहीं है। इस लब्धि का इनके मन में कोई महत्व नहीं है। सचमुच महात्मा आनन्दघनजी के मन में पौद्गलिक ऋद्धि-सिद्धि को कुछ भी कीमत नहीं थीं। वे तो आत्मिक ऋषि-सिद्धि की शोध में थे।

श्रमण को आत्म ज्ञान में पूरी निष्ठा होनी चाहिए। दूसरी बातें उसके लिए गौण होनी चाहिए।

अध्यात्म ज्ञानी और भौतिक ज्ञानी में अन्तर

यद्यपि आज साधुवर्ग के समक्ष अनेक आकर्षण हैं, भौतिक और लौकिक ज्ञान-प्राप्त करने के। इसके लिए तो प्रायः विद्यालय और महाविद्यालय खुलते हैं, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान का महाविद्यालय तो साधु जीवन में ही खुलता है न ? आत्मज्ञानी और भौतिकज्ञानी के प्रकाश में इतना अन्तर है जितना बिजली के तथा मोमबत्ती के प्रकाश में। बिजली का प्रकाश सिर्फ प्रकाश ही देता है, जबकि मोमबत्ती जलकर प्रकाश के साथ धुआँ भी करती है। भौतिकज्ञानी के ज्ञान में भौतिक लालसाओं का धुआँ उठता रहता है जबकि आत्मज्ञानी का प्रकाश कामना रहित आलोक मात्र ही होता है।

अध्यात्मज्ञानी स्व और पर दोनों को जानता है—मैं कौन हूँ ? मेरा स्वभाव क्या है ? मेरे निजगुण (आत्मा के गुण) कौन-कौन से हैं ? जड़ का स्वभाव क्या है ? जड़ के गुण कौन-कौन-से हैं ? इत्यादि। जबकि भौतिक या लौकिक ज्ञानी या वैज्ञानिक जड़-पदार्थों के विभिन्न प्रयोगों को ही जान सकता है किन्तु अपने आपको नहीं पहचान पाता।

अध्यात्मवाद की परिभाषा

उपाध्याय श्री यशोविजय जी ने अध्यात्म की परिभाषा इस प्रकार की है—

'आत्मानमधिकृत्य या प्रवर्तते क्रिया तदध्यात्मम् ।'

आत्मा को केन्द्र में रखकर जो क्रिया या प्रवृत्ति की जाए, वह अध्यात्म है। इसका फलितार्थ है—

तप, जप, संयम, ध्यान, महाव्रत, यम, नियम, प्रभुभक्ति, त्याग, प्रत्याख्यान, शास्त्रज्ञान या अध्ययन, धर्माचरण या धर्म क्रिया आत्मा को लक्ष्य में रखकर, अथवा कर्मक्षय को लक्ष्य में रखकर की जाए।

प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति में वीतरागप्रभु की आज्ञा का ध्यान रखा जाए। जो क्रिया राग, द्वेष, मोह, कषाय, वैर-विरोध, ईर्ष्या, मायाचार, दम्भ आदि बढ़ाने वाली हो, केवल रूढ़िपालन, प्रदर्शन या दिखावा हो, उसके पीछे अन्तर् में श्रद्धा न हो, वहाँ अध्यात्मवाद नहीं है।

अध्यात्मवादी ज्ञान, तप, जाति, कुल और आजीविका आदि का मद नहीं करता। आत्मा के उद्धार के लिए साधक को एक मात्र आत्मरमणता, अथवा अध्यात्म ज्ञान में तल्लीनता करनी चाहिए।

अध्यात्मवादी अहर्निश यही यत्न करता है कि "मेरी आत्मा पापकर्म से लिप्त न हो, आत्मा पर लगे हुए कर्मों का नाश हो, मेरी आत्मा में निहित ज्ञानादि गुण प्रकट हों। क्षणिक या विनाशी वस्तु के लिए अविनाशी शाश्वत आत्मा को कभी न भूलूं। मेरे विचार, वचन और व्यवहार सदैव अध्यात्म रस से सींचे हुए रहें। अध्यात्मवाद मेरे जीवन में आनन्द-परमानन्द पैदा करे। मैं विशुद्ध आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करूं।"

जब जीवन में अध्यात्मवाद आता है ....

एक महामुनि थे। उन्हें लौकिक ज्ञान तो बहुत थोड़ा था; किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में अभ्यस्त थे। अध्यात्म ज्ञान को उन्होंने जीवन में रमा लिया था। एक बार उनके शरीर को कैंसर की महाव्याधि ने घेर लिया। भक्तों ने कहा—"इसका ऑपरेशन करा देते हैं।"

मुनि ने कहा—"किसलिए ? कैंसर तो शरीर को हुआ है। मैं तो सच्चिदानन्द रूप आत्मा हूँ। मैं तो निरोगी हूँ, अजर-अमर हूँ। तुम मेरी चिन्ता न करो। मैं तो अपने आत्मभाव में लीन हूँ। सड़ना-गलना, आदि तो शरीर के धर्म हैं।"

एक दिन स्वभावस्थ दशा में मुनि ने देह का त्याग किया। यह था जीता-जागता अध्यात्मवाद !

एक सद्गृहस्थ थे। उनके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। वे धर्म कार्यों में भी काफी व्यय करते थे। एक दिन सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। स्नेहीजन, स्वजन और मित्र, सभी किनाराकसी कर गए। उनसे एक मुनि ने पूछा—"भाई ! तुम पर तो मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा है।'

वे स्वभाव दशा में स्वस्थ मन से बोले—नहीं जी, महाराज ! मुझे जरा भी दुःख नहीं है। मैंने अपने आपको कभी सम्पत्ति के कारण से सुखी माना ही नहीं था। मैं जानता और मानता था कि सम्पत्ति चंचल है, चाहे जब चली जा सकती है। वह चली गई। नश्वर थी, नष्ट हो गई। मेरी अपनी आत्म-गुणों की सम्पत्ति तो अखूट और अविनाशी है, यह तो आज भी है, भविष्य में भी रहेगी। मैं तो प्रसन्न हूँ महाराज !"

यह था साक्षात् अध्यात्मवाद का उदाहरण।

एक दम्पत्ति का जवान पुत्र अचानक गुजर गया। पुत्र की अचानक मृत्यु के समाचार ज्यों-ज्यों स्नेहीजनों को मिलने लगे। वे आ-आकर आश्वासन देने लगे।

पिता ने कहा— हम मानते ही नहीं हैं कि हमारा पुत्र मर गया है। अलबत्ता, वह हमसे दूर चला गया है। परन्तु आखिर तो जो धरोहर होती है उसे लौटाना ही पड़ता है।"

माता बोली—'पुत्र आखिर तो आत्मा ही है न ! आत्मा तो अमर है। हम नहीं मानते कि आत्मा भी मरती है। फिर मृत्यु का दुःख कैसा ? अलबत्ता वह हमसे दूर चला गया है।'

यह था (Practical) अध्यात्मवाद, जो जीवन में, रग-रग में उतर गया था।

आत्मरक्षक अध्यात्मज्ञानी का जीवन : परीषहों की आँधियों में

अध्यात्मज्ञानी पर चाहे जितने संकट, कष्ट, परीषह और दुःख आएँ, वह मुस्काराता रहता है। वह मानता है कि शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं। शरीर एक दिन नष्ट होने वाला है, इस पर पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कारण संकट, कष्ट एवं परीषह आते हैं, उन कर्मों को काटना है तो उस समय समभाव और धैर्य से उन्हें सह लेना चाहिए, हाय-हाय करके तो अज्ञानी सहता है, वह पूर्वकृत कर्मों को काट नहीं पाता, नये कर्म और बांध लेता है। इसी तथ्य का समर्थन भगवान् नेमिनाथ के शासन कालीन अर्हतर्षि मंखलीपुत्र करते हैं, जिसका भाव यह है—

"जो मुनि परीषहों (कष्टों) को देखकर कांप उठता है, दुःख का वेदन (अनुभव) करता है, क्षुब्ध हो जाता है, सचित्त द्रव्यादि से उनका सामना (प्रतीकार) करता है, स्पन्दित होता है, चंचल हो उठता है, उन दुःखों की उदीरणा करता है, क्रोधादि कषायजन्य भावों में परिणत होता है, वह अध्यात्मज्ञानी त्राता (आत्मरक्षक) नहीं है। परन्तु जिस साधक को परीषह आने पर न तो कंप-कंपी छूटती है, न ही वह दुःख महसूस करता है, तथा जिसे उस समय क्षोभ, संघटन, स्पन्दन, चंचलता, उदीरणा आदि नहीं होती। और जो कषायजन्य उन उन भावों में परिणत नहीं होता है, वही वास्तविक अध्यात्म ज्ञानी त्राता मुनि है, क्योंकि त्रायी (रक्षक) मुनि में परीषहों के आने पर कम्पन, वेदन आदि कोई भाव नहीं होते। ऐसा त्रायी मुनि ही अपने आपका तथा दूसरी आत्माओं का चतुर्गतिक, संसार रूपी अरण्य से रक्षण करता है।

वास्तव में, साधना पथ पर पैर रखने पर कदम-कदम पर कष्टों और संकटों का सामना करना पड़ता है। उस समय संयम मार्ग से विचलित हो जाए, धैर्य खो दे, अथवा दुःख महसूस करने लगे, कष्ट का नाम सुनते ही कांप उठे, अथवा कष्ट से बचने के लिए सावद्य उपाय खोजे, वह संयम पथ से भटक जाता है। सचमुच ऐसे साधक के जीवन में अध्यात्मज्ञान पचा हुआ न होने से सही माने में अपनी आत्मा का रक्षक नहीं होता, दूसरों का रक्षक तो हो ही कैसे सकता है?

जो साधक अपने जीवन संग्राम में परीषहों से समभावपूर्वक जूझता है, उसके मन की समाधि भंग नहीं होती। वह पूर्वकृत कर्मों को नष्ट कर देता है, नये आते हुए कर्मों को रोक लेता है। उसे अपने शरीर, तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के नष्ट होने या वियोग होने की चिन्ता या ममता नहीं होती; क्योंकि वह इन्हें आत्मा से पृथक् मानता है। वही सच्चा फकीर है। कहा भी है—

"फिकर सबको खा गई, फिकर सबका पीर।
फिक्र का फाका करे, वो ही सच्चा फकीर।।"

"एहनुं नाम फकीर जेनी मेरू सरखी धीर।।"

सच्चा फकीर वही है, जो आत्मा का श्रेय करे, शान्ति और धैर्य रखे। इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, तो भी समभाव रखे।

मार्गदर्शक पुरुषार्थी कुशल नेता आवश्यक है

परन्तु ऐसे अध्यात्मज्ञान या अध्यात्म विकास के लिए कुशल मार्ग-

दर्शक एवं प्रतिबोधक की आवश्यकता होती है। अध्यात्म पथ पर आरूढ़ हो जाना और बात है, उस साधना-पथ में आने वाली विघ्न-बाधाओं, संकटों, उलझनों आदि के समय सकुशल पार उतरना और बात है। ऐसे समय में कुशल मार्गदर्शक या गुरु न हो तो साधक विपरीत पथ पर या सुविधावादी मार्ग पर भी चल सकता है। इसी तथ्य को अर्हतर्षि मंखलीपुत्र कहते हैं—

असंमूढो उ जो णेता, मग्गदोसपरक्कमो।
गमणिज्जं गतिं णाउं, जणं पावेति गामिणं ॥१॥
सिद्धकम्मो तु जो वेज्जो, सत्थकम्मे य कोविओ।
मोयणिज्जातो सो वीरो, रोगा मोतेति रोगिणं ॥२॥

यदि मार्ग दिखाने वाला असम्मूढ और कुशल नेता हो तो साधक उसके द्वारा लक्ष्य और गति का ज्ञान करके अपने गन्तव्य स्थान पर आसानी से पहुँच सकता है।

शस्त्रकर्म में कुशल सिद्धहस्त वीर वैद्य मोचनीय (साध्य) रोग से रोगी को मुक्त कर देता है, सिद्धहस्त वैद्य के हाथ में रोगी स्वयं को रोगमुक्त मानता है। इसी प्रकार अध्यात्मविज्ञान में कुशल सिद्धहस्त अनुभवी मार्ग-दर्शक या कुशल चिकित्सक के पास पहुँचते ही साधक अनादि वासना की व्याधियों से मुक्त हो जाता है।

कुशल मार्गदर्शक गुरु अन्तर्दृष्टि खोल देता है, जिससे व्यक्ति आसानी से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मिक विकास कर सकता है। आज संसार में सैकड़ों ही नहीं, लाखों गुरु नामधारी हैं। परन्तु उनमें सच्चे मार्ग-दर्शक असम्मूढ गुरु कितने हैं? इसका पता विरले ही पा सकते हैं।

तिजोरी में बहुत-सा धन और आभूषण हैं, हीरा, पन्ना आदि रत्न हैं, परन्तु चाबी न मिले तो केवल अलमारी या तिजोरी के बाह्य भाग को देखने से काम नहीं चलता। चाबी मिल जाती है तो व्यक्ति अन्दर का भाग खोलकर सभी वस्तुएँ पा सकता है। यही बात आध्यात्मिक खजाने के विषय में कही जा सकती है। आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) का खजाना भरा है। साधक को बाहर से तो ज्ञात हो जाता है, किन्तु वह अनन्त निधान विभिन्न आवरणों से ढका हुआ है, उन आवरणों को जब तक खोला नहीं जाता तब तक अन्दर में निहित अनन्तचतुष्टयरूप निधान प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी चाबी कुशल गुरु के पास है। सिद्धहस्त अनुभवी मार्गदर्शक उसकी चाबी बता दें तो साधक आसानी से आध्यात्मिक विकास के पथ पर चलकर अपने में निहित अनन्तचतुष्टय को पा सकता है।

मार्गदर्शक यदि अध्यात्म का सिद्धहस्त और अनुभवी चिकित्सक हो तो साधक उसके सान्निध्य में रहकर आत्मा की स्वभावदशा प्राप्त करने में आने वाले विकाररूपी रोगों को अनायास ही दूर कर सकता है।

कुशल अध्यात्म चिकित्सक किस प्रकार से साधक की आध्यात्मिक चिकित्सा करता है और उसे अपने कार्य में सफलता प्राप्त करा देता है ? इस सम्बन्ध में अगली गाथाओं में कहा है—

संजोए जो विहाणं तु दव्वाणं गुणलाघवे।
सो उ संजोग-णिप्फण्णं सव्वं कुणइ कारियं ॥३॥

विज्जोपयार-विण्णाता, जो धीमं सत्तसंजुत्तो।
सो विज्जं साहइत्ताणं, कज्जं कुणइ तक्खणं ॥४॥

णिवत्ति मोक्खमग्गस्स, सम्मं जो तु विजाणति।
राग-दोसे णिराकिच्चा सो उ सिद्धिं गमिस्सति ॥५॥

'(वह सिद्धहस्त मार्गदर्शक पहले साधक को) द्रव्यों के गुण और लाघव के विधान की (कुशलतापूर्वक) संयोजना कराता है। वही संयोजना-निष्पन्नता (आध्यात्मिक विकास के) सभी कार्यों को पूर्ण करती है।'

'इसके पश्चात् प्रज्ञाशील साधक स्वयं उस आध्यात्मिक विद्या (ज्ञान) और उसके उपचार (प्रयोग) का विज्ञाता एवं सत्त्वसंयुक्त (आत्मबल एवं साहस से युक्त) होकर उक्त अध्यात्मविद्या की साधना (पंचाचार रूप में) करके अविलम्ब अभीष्ट कार्य सिद्ध कर लेता है।'

'इस प्रकार कुशल गुरु के निर्देशन में जो साधक मोक्षमार्ग की निष्पत्ति (स्वरूप रचना) सम्यक् प्रकार से जानता है, वह राग-द्वेष को समूल नष्ट करके सिद्धि (आत्मविमुक्ति) प्राप्त कर लेता है।'

अभिप्राय यह है कि अनुभवी चिकित्सक की तरह कुशल मार्गदर्शक, साधक को आत्म-द्रव्य के साथ-साथ संयोग-सम्बन्ध से जुड़े हुए शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, विविध अंगोपांग आदि सहायक द्रव्यों तथा पात्र, वस्त्र, रजोहरण, ग्रन्थ, शास्त्र, आहार-पानी, मकान आदि धर्मपालन में सहायक अजीव द्रव्यों तथा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका, संघ आदि सजीव द्रव्यों के गुण और उनको कर्मबन्धन न हो, इस प्रकार का लाघव (प्रयोग-कौशल) बताता है, फिर नियम एवं विधान के अनुसार साधुता के अनुरूप तादात्म्य और ताटस्थ्य के ज्ञान का संयोजन भी कर देता है। इस प्रकार की संयोजना-निष्पन्नता साधक में आ जाने पर वह फुर्ती से आध्यात्मिक विकास कर

लेता है, बशर्ते कि वह मार्गदर्शक गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहण और आसेवन दोनों प्रकार की शिक्षाओं का प्रशिक्षण (यानी थ्योरिटिकल और प्रेक्टिकल दोनों प्रकार की ट्रेनिंग) प्राप्त करके आध्यात्मिक विज्ञान का पूर्ण विज्ञाता और आत्मबलपूर्वक उसका प्रयोक्ता हो जाए।

इस प्रकार का साधक दीर्घकालीन निरन्तर सत्कारपूर्वक अध्यात्म-मार्ग (मोक्षमार्ग) का सेवन करने से एक ओर से राग-द्वेष के कारण आते हुए नये कर्मों को रोक लेता है, दूसरी ओर से परीषह, कष्ट, वेदना आदि को सहन करते समय समभाव रखकर पुराने कर्मों की निर्जरा कर लेता है। इस प्रकार कर्मों को (अथवा कर्मों के बीज-रागद्वेष को) समूल नष्ट करके वह सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाता है।

मोक्ष के स्वरूपज्ञान का अर्थ है—कर्मों से छुटकारा पाने का ज्ञान। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि ऐसे अध्यात्म विज्ञान-वेत्ता को स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है कि कौन-सा कर्म किस-किस प्रकार से किन-किन कारणों से बँधता है ? उससे सर्वथा मुक्त होने का, नये कर्मों को प्रविष्ट होने से रोकने (संवर) का कौन-कौन-सा उपाय है ? इस प्रकार का विज्ञाता ही कर्मों को काट सकता है।

बन्धुओ !

यह है—आध्यात्मिक विकास का यथार्थ राजमार्ग ! केवल आत्मद्रव्य का रटन करने से तथा शास्त्रीय गाथाओं को बिना समझे-बूझे घोंट लेने से अथवा उन पर लम्बा-चौड़ा भाषण कर देने मात्र से किसी का आध्यात्मिक विकास हो गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक ज्ञान की परिपक्वता के अभाव में बहुत-से मोक्ष के दीवानों ने अपने प्राणों को होम दिया, अपार कष्ट सहन कर लिये, किन्तु अध्यात्मदृष्टि के अभाव में उनके राग-द्वेष की आग नहीं बुझी, अहंकार और कामना-नामना की भूख नहीं मिटी, इसलिए वे मोक्ष की मन्जिल नहीं पा सके। केवल देहदण्ड या अध्यात्मज्ञान का प्रदर्शन ही, उनके पल्ले पड़ा। इसीलिए अर्हतर्षि मंखलीपुत्र को आध्यात्मिक विकास का वास्तविक राजमार्ग बताना पड़ा। □

१५

लोकैषणा और वित्तैषणा के कुचक्र

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

साधक के जीवन में असन्तोष सबसे बड़ा अभिशाप माना जाता है। असन्तोष वह आग है, जो एक बार लगने के बाद कभी बुझती नहीं। अपने पास सब कुछ होते हुए भी असन्तोषी व्यक्ति के मन में 'और हो जाए, इतना हो जाए' इसकी रट लगी रहती है। असन्तोषी व्यक्ति के मन में लोभ के कारण सदैव बेचैनी रहती है। वह शान्तिपूर्वक अपना आत्म-चिन्तन, आत्म-शुद्धि, आत्मालोचन या आत्मजागरण कर नहीं सकता। लोभ के कारण उसकी शारीरिक हानि तो होती ही है, मानसिक और बौद्धिक हानि उससे भी अधिक होती है। असन्तोषी व्यक्ति नैतिकता-अनैतिकता के सारे विचार भूल जाता है और येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक संग्रह, अधिक से अधिक पाने की तृष्णा और लालसा करता रहता है। चारित्र का नाश होने से उसके जीवन से सुख और शान्ति विदा हो जाते हैं। उसकी प्रतिष्ठा भी गिर जाती है।

लोभ चाहे धन-सम्पत्ति का हो, चाहे जमीन-जायदाद का, चाहे वस्त्र, मकान, मान-प्रतिष्ठा, भोजन आदि किसी अन्य प्रकार का हो, वह मनुष्य को ऐसा फँसाता है कि मनुष्य उसके जाल से फिर निकल नहीं सकता। असन्तोष के कारण व्यक्ति प्रेम, भाईचारा और सहिष्णुता के तमाम गुणों को तिलांजलि दे देता है। समाज में परस्पर संघर्ष, अशान्ति, युद्ध, मारकाट और हिंसा का मूल कारण असन्तोष ही है।

वित्तैषणा और लोकैषणा का स्वरूप

मानव-मन में दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं, जो आत्मा को चंचल बनाती हैं। उनमें एक शुभवृत्ति है, दूसरी अशुभ। वृत्ति से ही व्यक्ति का जीवन का निर्माण होता है। मानव-मन को अशुभ की ओर प्रेरित करने वाली दो

अशुभ वृत्तियाँ हैं—एक है **वित्तैषणा**, अर्थात्—सम्पत्ति की भूख और दूसरी है—**लोकैषणा**, अर्थात्—प्रसिद्धि की भूख। प्रसिद्धि, प्रशंसा, यश-कीर्ति और प्रतिष्ठा (सत्कार-सम्मान) आदि सबका समावेश **लोकैषणा** में हो जाता है। मैं भी कुछ हूँ, मेरी नामबरी हो, लोग मुझे जानें—आदर-सत्कार दें। लोगों की भीड़ मुझे घेरे रहे और मेरी वाहवाही करे, यही लोकैषणा है। इसी लोकैषणा के अन्तर्गत एक **तीसरी एषणा** है—**पुत्रैषणा**। गृहस्थों को संतान-वृद्धि की एषणा होती है और साधु-साध्वियों को शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता या अनुयायियों की संख्या अधिक से अधिक बढ़ाने की होड़ लगती है; अधिकाधिक लालसा होती है, इस तरह की फौज बढ़ाने की। संख्यावृद्धि के लोभ में क्वालिटी नहीं, क्वांटिटी ही मुख्यतया देखी जाती है। इस प्रकार संसार में वित्तैषणा और लोकैषणा का दौर चल रहा है, जिसके कारण आज गृहस्थ और साधु प्रायः अशान्त हैं।

अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य ने इन्हीं दो दुर्वृत्तियों की ओर इंगित करते हुए इनसे सबको सावधान रहने की चेतावनी दी है—

"आणच्चा जाव ताव लोएसणा, जाव ताव वित्तेसणा; जाव ताव वित्तेसणा, ताव ताव लोएसणा। से लोएसणं च वित्तेसणं च परिण्णाए गोपहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा।

जण्णवक्केण अरहता **इसिणा बुइतं।"**

अर्थात्—साधक को यह जानना चाहिए कि जब तक लोकैषणा है, तब तक वित्तैषणा है और जब तक वित्तैषणा है, तब तक लोकैषणा है। साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग कर गोपथ से जाय, महापथ से न जाय, ऐसा याज्ञवल्क्य अर्हतर्षि बोले।

वित्तैषणा के बाद लोकैषणा सवार हुई

कई बार मनुष्य को किसी कारणवश वित्तैषणा से विरक्ति हो जाती है। किन्तु उसके बाद उसे लोकैषणा धर दबाती है। मैं अपनी बात स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत कर दूं।

धारानगरी के प्रसिद्ध राजा भोज का एक समवयस्क मित्र था, नगर-सेठ सोमदत्त! राजा की कीर्ति प्रचुर दान से फैली हुई थी, लेकिन सोमदत्त अत्यन्त कंजूस था। वह धन बटोरना जानता था, बाँटना नहीं। राजा भोज की मनःस्थिति उसके ज्ञान, दान और सम्मान के कारण वसन्त की-सी थी, परन्तु सोमदत्त सेठ की मनःस्थिति पतझर-सी थी, जिसमें न पत्ते थे, न फूल, लकेव ठूँठ ही बच रहा था।

सेठ की पत्नी वृद्धावस्था में स्वर्गस्थ हो गई थी। उसका एकमात्र पुत्र अतुल खुले हाथों खर्च करता था—वेश्यागमन, शराब आदि व्यसनों में। सेठ की पुत्री व दामाद धन पाने की लालसा में सेठ की मृत्यु की कामना कर रहे थे। कर्मचारी भी घात में लगे थे। सेठ यह सब कुछ जानता था, इसी से वह आकुल और उदास रहता था। उसे न तो दिन में नींद थी, न ही रात को चैन ? वह जी नहीं रहा था, जीवन को ढो रहा था।

एक दिन नगरसेठ स्नानादि से निवृत्त होकर धारानगरी में विराजमान मुनि सकलकीर्ति के पास दर्शनार्थ गए। अपनी पूर्वोक्त दुःखगाथा मुनिजी के समक्ष प्रस्तुत की और उनसे ही सुखी एवं सन्तोषी जीवन-यापन करने की विधि पूछी।

मुनिश्री ने पूछा—'क्यों सेठ ! तुम्हारा संग्रहीत धन क्या तुम्हारे साथ परलोक में जाएगा ?'

सेठ ने कहा—'नहीं !'

मुनि—"तो फिर तेरा इस पर इतना मोह क्यों ? सच्चा सुख एवं संतोष चाहो तो धन का मोह छोड़ दे। पुत्रादि को जो देय है, उस अंश धन को देकर शेष धन परोपकार में लगा दे। जब यह कर चुके, फिर मेरे पास आ। मैं तुझे शाश्वत शान्ति का राजमार्ग बताऊँगा।" वैसा ही करना स्वीकार करके नगरसेठ लौट गया। दूसरे दिन सेठ के बंद भण्डार और तिजोरियां खुल गई। सेठ के नाम से विद्यालय, अनाथालय और चिकित्सालय खुल गए। कवियों और पण्डितों को भी मुक्तहस्त से दान दिया। फलतः उन्होंने सेठ के खूब यशोगीत गाए। उसे इस युग का सबसे बड़ा दानी घोषित किया। राजा भोज ने सालभर में जितना दान दिया—था नगरसेठ ने एक सप्ताह में उससे अधिक दान दे दिया। अतः प्रशंसकों और भाटों ने उन्हें दानवीर कर्ण का अवतार बताकर खूब प्रशंसा की। सेठ इन्हें सुन-सुनकर गर्व से फूल उठा। वित्तैषणा के साथ लोकैषणा का यह नशा बहुत ही जोरदार था। इसी अहंकार के नशे में चूर होकर सेठ मुनिश्री के पास आया।

मुनिश्री उसकी चाल ढाल से समझ गए। उन्होंने कहा—"सेठ ! तू इस समय नशे में चूर है। मेरे सामने से हट जा। रात भर सामने वाले वृक्ष के नीचे बैठ। कल प्रातः तुम से बात करूंगा।"

सेठ ऐसी अप्रत्याशित बात सुनकर बहुत खिन्न हो उठा। नगर भर में प्रशंसा के गीत और सत्कार; यहां डाँट और दुत्कार ! यह सुनने को वह तैयार नहीं था।

रातभर वृक्ष के नीचे बैठकर इस पर चिन्तन-मनन करता रहा। आधीरात के बाद सेठ की अर्न्तदृष्टि खुली, तब इसका रहस्य समझ में आया इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैंने दान से तो कोठा खाली किया, किन्तु मान से फिर अपना कोठा भर लिया। सर्वस्व दे डाला, पर गर्व नहीं गया। यही तो नशा था। मुनिवर मेरे उपकारी हैं, कि उन्होंने मेरा दोष निकालने के लिए ऐसा किया था। पश्चात्ताप से अश्रुधारा बह निकली। विनम्र होकर सेठ ने प्रातः मुनिचरणों में मस्तक रखकर क्षमा माँगी। मुनिवर ने कहा—"वत्स ! अब तू सुपात्र है शान्ति और समाधि पाने का अधिकारी है।"

हाँ, तो पहले सेठ के जीवन में वित्तैषणा थी, वह मिटी तो लोकैषणा आगई किन्तु अन्तर्दृष्टि खुलने पर वह भी मिट गई !

लोकैषणा और वित्तैषणा दोनों सगी बहनें

आज मानव-मन प्रायः दोनों प्रकार की क्षुधाओं का शिकार हो रहा है। जब तक लोकैषणा है, तब तक उसके लिए वित्तैषणा भी जरूरी है। क्योंकि प्रसिद्धि के लिए सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। प्रसिद्धि के अनुरूप कार्य न करके भी मनुष्य सम्पत्ति से प्रसिद्धि को खरीद लेता है।

कई लोग एक बार प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद उसका उपयोग सम्पत्ति बटोरने में करते हैं। अतः लोकैषणा और वित्तैषणा दोनों सगी बहनें हैं। एक के सद्भाव में दूसरी आ ही जाती है।

साधु जीवन में दोनों ही अनिष्टकारिणी : क्यों और कैसे ?

वित्तैषणा और लोकैषणा दोनों ही गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन दोनों में अनिष्टकारिणी हैं। साधु जीवन में वित्त के नाम पर सोना चाँदी या सिक्के आदि तो नहीं, किन्तु उपाश्रय, मकान, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि साधन भी वित्त हैं। अगर उनकी अमर्यादित तृष्णा या वासना साधुजीवन में है तो वहाँ भी वित्तैषणा है। उसके साथ ही लोकैषणा भी चुपके से प्रविष्ट हो जाती है।

अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने की होड़ साधक वर्ग में प्रायः चल पड़ी है। वे किसी न किसी बहाने से दूसरे के अनुयायी या भक्त को अपने तथाकथित चारित्र की क्रियाकाण्डों की या नकली बड़प्पन की छाप डाल कर उसकी भूतपूर्व समकित (गुरुधारणा) को बदलवा देते हैं। इस प्रकार की हेराफेरी का कारण वह लोकैषणा है, वही मिथ्या महत्वाकांक्षा है, वही प्रसिद्धि की वासना है जो विविधरूप में साधक जीवन में आकर वीतरागता की साधना के सत्व को चूस लेती है। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में दल-बदली की जाती है उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी एक ही

सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय या पंथ में समकित-बदली की जाती है। इस प्रकार की वित्तैषणा और लोकैषणा के कारण कई साधु तो रात-दिन इसी उधेड़बुन में, इसी फिराक में और इसी प्रकार की जोड़ तोड़ करने में लगे रहते हैं। उनको इनकी चिन्ता इतनी अधिक सताती है कि वे अपना आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण या आत्मशोधन जरा भी नहीं कर पाते। यह विचारणीय है।

महत्त्वाकांक्षा : कैसी उचित, कैसी अनुचित ?

उन्नति की आकांक्षा स्वाभाविक एवं आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। तुच्छता या क्षुद्रता से आगे बढ़कर महत्ता को प्राप्त करना स्वाभाविक है। नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आत्म-साधना या आराधना में आगे बढ़ने की आकांक्षा का औचित्य है। परन्तु यह आकांक्षा तभी सफल हो सकती है, जब उक्त महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति में धैर्य, साहस, विवेक, तथा शुद्ध धर्माचरण में पुरुषार्थ का उचित सम्मिश्रण हो।

ऐसी महत्त्वकांक्षा गुणों की होनी चाहिए। उत्तम क्षमा आदि दश-विध धर्म, समता, साधुता, संयमशीलता, आदि तथा प्रसन्न मन और स्थिर चित्त आदि गुणों के होने पर ही महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हो सकती है। किन्तु उन्नति की आकांक्षा अपनी योग्यता, एवं गुणों को देखकर होनी तो उचित हैं, किन्तु गुणवत्ता या योग्यता के बिना ही बेसुरा राग अलापना कथमपि उचित नहीं है।

लोकैषणा की इस दुष्प्रवृत्ति के कारण सार्वजनिक अथवा लोकसेवा का जीवन, अथवा धार्मिक क्षेत्र भी अत्यधिक गंदा, विकृत और मलिन होता चला जा रहा है। धार्मिक जगत् में त्यागी कहे जाने वाले लोग यदि अपनी लोकैषणा का त्याग कर सके होते तो भारत की धर्मप्रधान जनता का जीवन चारित्र की दृष्टि से कहीं अधिक समुन्नत करना सरल होता। धन और वासना का प्रलोभन छूट सकता है, परन्तु लोकैषणा, प्रसिद्धि और बड़प्पन का लोभ त्यागी कहे जाने वालों से भी नहीं त्यागा जाता। कहा भी है—

> कंचन तजबो सहज है, सहज त्रिया को नेह।
> मान, बड़ाई, ईर्ष्या, दुर्लभ तजबो एह ॥

वाहवाही और नामबरी के लिए ओछे उपायों का अवलम्बन लेना उतना ही हेय है, जितना धन और वासना की पूर्ति अनैतिक उपायों से करना।

लोकैषणा की इस डाकिन की भूख कितनी प्रबल होती है, एक साधक कवि के शब्दों में देखिए—

मैं बना नाम का भूखा, मैं·······।। ध्रुव ।।
नाम का भूखा, न काम का भूखा
नहीं अचल धाम का भूखा ।। मैं····।।१।।
शान का भूखा, मान का भूखा, नहीं आत्मज्ञान का भूखा ।। मैं····।।२।।
गान का भूखा, तान का भूखा नहीं एकतान का भूखा ।। मैं····।।३।।
खान का भूखा, पान का भूखा, नहीं सुधापान का भूखा ।। मैं····।।४।।
राज का भूखा, ताज का भूखा, नहीं अचलराज का भूखा ।। मैं····।।५।।
मत का भूखा, षत का भूखा, नहीं अटल सत का भूखा । मैं ·· ।।६।।

लोकैषणा की दुर्वृत्ति के ये ज्वलन्त चित्र हैं। लोकैषणा की इस आग में आज प्रायः सारा संसार जल रहा है। त्यागियों के लिए तो भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र (३५/१८) में कठोर आदेश दिये हैं—

अच्चणं रयणं चेव वंदणं पूयणं तहा।
इड्ढी-सक्कार-सम्माणं मणसा वि न पत्थए ।।१८।।

'साधु अर्चन, रंजन (मनोरंजन), वन्दन, पूजन तथा ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी इच्छा न करे।'

वास्तव में लोकैषणा का पुजारी वीतराग-प्रभु का पुजारी नहीं हो सकता। वह अहं का पुजारी है, अर्हं का नहीं। सत्कर्म पुण्य और परमार्थ को लोकैषणा के लिए बेच देने वाले हीरा बेचकर काच खरीदने वाले विवेकमूढ़ की तरह हैं।

आज गृहस्थों द्वारा भी अमीरी का रौब गांठकर फिजूलखर्ची के द्वारा अपना बड़प्पन सिद्ध करके प्रशंसा पाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अधिकांश लोगों में शेखीखोरी, बनावट, दिखावा, ढोंग, फैशनपरस्ती और फिजूलखर्ची आदि के द्वारा बड़प्पन दिखावे की होड़ चल रही है। ठाटबाट बनाने में लोग अपनी गाढ़े पसीने की कमाई का अधिकांश भाग फूँक देते हैं। शरीर ढकने के लिए साधारण कपड़ों से काम चल सकता है, पर उन पर प्रचुर धन खर्च करके कीमती सूट और महंगी साड़ी खरीद कर लोग अपनी अमीरी का प्रदर्शन करते हैं। इसी प्रकार जेवर लादे फिरने का फूहड़पन भी लोग उनको धनी समझें, इस ओछी बुद्धि का परिचायक है। विवाह शादियों में लोग अंधे होकर पैसे की होली जलाते हैं, उसका प्रयोजन भी दर्शक लोगों से प्रायः प्रशंसा पाने का रहता है। मृत्युभोज या बड़ी-

बड़ी दावतों के मूल में भी वाहवाही लूटने की मनोवृत्ति छिपी रहती है। कई व्यक्ति तो अधिक वाहवाही लूटने के लिए अपना घर खाली कर डालते हैं, कर्जदार बन जाते हैं, आवश्यक कार्यों को भलीभाँति चलाने में कठिनाई महसूस होने लगती है। मोटर, घोड़ा-गाड़ी, कोठी, बंगले, नौकर-चाकर आदि का भारी सरंजाम आवश्यकता पूर्ति के लिए नहीं, किन्तु दिखावे और अमीरी के प्रदर्शन के लिए होता है। बड़े आदमी बनने के शौक में इन कामों में बहुत फिजूलखर्ची की जाती है। जो लोग इस प्रकार का छिछोरपन करते हैं, उन्हें यह बात गांठ बांध लेनी चाहिए, कि यह आडम्बर या प्रदर्शन प्रशंसा का नहीं, निन्दा का कारण बनता जा रहा है। वर्तमान युग के लोग इस उद्धत-प्रदर्शन का विरोध करेंगे, इसे रोकेंगे। इसी दुष्प्रवृत्ति ने सार्वजनिक संस्थाओं का सत्यानाश किया है। पदाधिकारी बनने की हविस में प्रायः सभी जन-संगठन ईर्ष्या और कलह के अखाड़े बने हुए हैं। हर कोई बड़प्पन और पदवी चाहता है, जिसे मिल जाती है. वह फिर उसे सदा के लिए छाती से चिपकाये बैठा रहना चाहता है। जिसे नहीं मिलती, वह सत्ताप्राप्त व्यक्ति को पदच्युत करने के लिए ही नहीं, संस्था की प्रगति को ठप्प करने पर तुल जाता है। सत्ता हथियाने के लिए कुचक्र करने में अपनी शक्ति खर्च करता है।

ऐसी लोकैषणा से आत्मार्थी गृहस्थ को तथा साधु को कोसों दूर रहना चाहिए।

वित्तैषणा की डाइन से भी बचो

मनुष्य प्रचुर धन का स्वामी बनने के तथा ऐश्वर्य का सुखोपभोग करने के सपने देखा करता है। अपने से बड़े और सुखी सम्पन्न स्थिति के लोगों को देखकर वह खिन्न होता है तथा उसकी इच्छा होती है कि मेरे पास भी इतना ही वैभव और ऐश्वर्य हो। इस प्रकार ईर्ष्या और तृष्णा की आग प्रचण्ड वेग से उसके मन में जलने लगती है। यही असन्तोष का कारण बनती है। जिसका मन महत्वाकांक्षाओं की तृष्णा में प्रज्वलित हो रहा है, वह धन, साधन और सुख सामग्री बटोरने में कौन-सा कुकर्म नहीं करता होगा, कहा नहीं जा सकता।

आज धन की मृगमरीचिका के पीछे लोग बेतहाशा दौड़ रहे हैं। क्या गरीबी इसी सीमा तक पहुँच गई है कि मनुष्य को निरन्तर धन के लिए उद्विग्न होकर रहना पड़े? वास्तव में बात ऐसी नहीं है। फिर भी हर व्यक्ति आज धन का प्यासा-सा फिरता है। धन, अधिक धन, और अधिक

धन, एवं साधन यह एक ही पुकार हर दिल-दिमाग में से उठती सुनाई देती है। धर्मध्वजी सन्त-महन्तों से लेकर गिरहकट और चोर-डाकुओं तक हर वर्ग के लोग धन की आकांक्षा से अपने चरखे चलाते रहते हैं।

गृहस्थ के लिए जीवन की प्रधान भौतिक आवश्यकताएँ हैं—रोटी, कपड़ा और मकान; जो थोड़े-से समय के उचित श्रम से अनायास प्राप्त किये जा सकते हैं। गरीब कहे जाने वाले लोग भी इन तीनों आवश्यताओं को सहज ही पूरा कर लेते हैं और सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करते हैं। इसके विपरीत वे लोग हैं, जिनके यहाँ सब कुछ होते हुए भी रात-दिन धन की हाय-हाय लगी रहती है।

साधुओं के लिए भी वस्त्र, पात्र, रजोहरण, कम्बल, पादप्रोञ्छन आदि कुछ धर्मोपकरण ममता-मूर्च्छारहित होकर रखने का भगवान् महावीर का फरमान है—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, अणुमायं पि संजए।

'संयमी साधक अणुमात्र भी संग्रह न करे।'

गृहस्थ को भी जीवन-यापन के लिए थोड़े-से धन की, नियमित आजीविका की एवं कुछ साधन-सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु धन को ही एकमात्र लक्ष्य मान लिया जाए यह बहुत ही अनुचित है। ऐसी स्थिति में धन साधन न रहकर साध्य बन जाता है। धन की या साधनों की इस तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य बुरे से बुरे अनीतियुक्त कुकार्य करते रहते हैं। गरीबी नहीं, तृष्णा ही हिंसा, हत्या, चोरी, डकैती आदि दुष्कर्मों की जननी है। रिश्वतखोरी, बेईमानी और ठगी, तस्करी आदि के जो विशालकाय अनर्थ हो रहे हैं, जो प्रायः उच्चवर्ग के लोगों द्वारा सम्पन्न किये जा रहे हैं, उनके मूल में गरीबी नहीं, वित्तैषणा होती है। वित्तैषणा के शिकार लोगों का जीवन अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता और परेशानी में व्यतीत होता है। ऐसे लोग वस्तुतः अत्यन्त दयनीय हैं। वे बेचारे न तो जीवन का मूल्य समझ सके, न ही उससे लाभ—उत्तम साधना आदि का—प्राप्त कर सके। असन्तोष की आग में जलने वाले वे वित्तैषणाग्रस्त लोग विशाल अस्पताल के कीमती पलंगों पर पड़े हुए वे रोगी हैं, जो आग से झुलसे हुए हैं, जिनके भीतर और बाहर आग एवं जलन ही पीड़ा दे रही। उन अभागों को कीमती इमारत और बहुमूल्य पलंग का क्या सुख मिल सकता है?

लोकैषणा और वित्तैषणा के कुचक्र को तोड़ने के उपाय

बन्धुओ!

अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य ने लोकैषणा और वित्तैषणा के गठबन्धन को

तोड़ने का भी उपाय बताया है कि साधक को इन दोनों का त्याग करके गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नहीं।

मनुष्य के सामने जीवन जीने के दो पथ हैं। पहला पथ है—अधिक अर्जन करे और अधिक से अधिक खर्च करे। अर्थात्—विलास और वैभव के प्रसाधन अधिकाधिक एकत्रित किये जाएँ, तथा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकाधिक सम्पत्ति जुटाए।

दूसरा पथ है—सीमित आवश्यकताएँ और सीमित साधन। अर्थात् संयम मर्यादा में रहकर कम से कम साधनों से, अपनी अत्यल्प आवश्यकताओं की पूर्ति करे, और वह भी समाज के प्रति कृतज्ञ और नम्र रहकर! दोनों प्रकार की एषणाएँ आवश्यकताओं को बढ़ाने के मार्ग पर ले जाती हैं।

जैन संस्कृति दोनों प्रकार की एषणाओं से दूर रहकर दूसरे पथ से जाने का निर्देश करती है।

जैन धर्म कहता है—साधु वर्ग एवं गृहस्थ वर्ग दोनों अपने-अपने दायरे में आवश्यकताओं पर अंकुश लगाकर चलें श्रावक का परिग्रहपरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत, अनर्थदण्डविरमणव्रत, दिशापरिमाणव्रत आदि व्रत आवश्यकताओं और आकांक्षाओं में कटौती करता है, उसमें मितव्ययिता लाता है और कम से कम आवश्यकताओं से अपना जीवन चलाने की प्रेरणा देता है। साथ ही लोकैषणा को शान्त करने के लिए अपने साधनों में से अतिथि (सुपात्र) के लिए भी विभाग करे। जैन संस्कृति कहती है—जितनी ही आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, उनकी पूर्ति के लिए उतने ही पाप बढ़ेंगे। उतने ही संघर्ष बढ़ेंगे, हैरानी, अशान्ति, चिन्ता और बेचैनी बढ़ेंगी। संसार में इच्छाएँ असीम हैं उनका कोई अन्त नहीं है। कहा भी है—इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। जितनी इच्छाएँ हैं, संसार में उतने साधन नहीं हैं, वे तो सीमित हैं। शरीर है तो उसके निर्वाह के लिए कुछ न कुछ आवश्यकता तो रहेगी ही। किन्तु वे आवश्यकताएँ अनियंत्रित न हों। इसके लिए जैन साधक के लिए निर्देश दिया कि वह गोपथ से जाए, महापथ से नहीं।

साधुवर्ग को गोपथ से जाने के निर्देश का रहस्य

इसका भावार्थ यह है कि साधक संयमपथ से या यतनापथ से जाए। यदि उसकी आवश्यकता एक ही वस्त्र से पूर्ण हो जाती है तो वह दूसरे वस्त्र

के लिए प्रयत्न न करे। वह जो भी प्रवृत्ति करे, यतना से करे। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ॥

साधक यतनापूर्वक चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे, यतना से सोए, यतना से भोजन करे, यतना से बोले तो पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

तप, जप, प्रवचन, विहार या अन्य परोपकार के कार्यों को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन न बनाए। उसके पीछे नामना-कामना से दूर रहे, लोकैषणा के जाल में तप, जप, आचारपालन, महाव्रत, समिति-गुप्ति-पालन आदि को गूंथे; तभी इन दोनों एषणाओं से पिण्ड छूट सकता है।

जो भी चर्या करे, उसे कामनारहित, आसक्ति-रहित, फलासक्तिरहित एवं प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से दूर रहकर करे। आसक्ति को त्याग कर यथा-लाभ सन्तोष की नीति अपना कर चले। सुख पाने में नहीं, त्याग में है। सुख, कर्मफल के दीवाने रहने या लालायित रहने में नहीं है बल्कि कर्तव्य-शील एवं दायित्व युक्त होकर विचरण करने में है। श्रमण वर्ग इस स्वर्णसूत्र को अपनाए—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ ॥

लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, जीवित और मरण, निन्दा और प्रशंसा तथा मान और अपमान सभी द्वन्द्वों में समभाव रखे।

प्राणिमात्र के प्रति समभाव और आत्मौपम्यभाव रखकर चले। अनिवार्य आवश्यक वस्तु की याचना करने पर यदि प्रासुक, एषणीय एवं कल्पनीय वस्तु प्राप्त नहीं हुई तो वह रोष या द्वेष व्यक्त न करे। उसे परीषह समझ कर समभाव से सहे।

इसके लिए गोपथ से जाने का उपाय बताते हुए अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

जहा कवोता य कविंजला य गाओ चरंति इह पातरासं।
एवं मुनी गोयरियप्पविट्ठे, णो आलवे, णो वि य संजलेज्जा ॥१॥
पंच वणीमकसुद्धं जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणाए विप्पमुक्कदोसस्स ॥२॥
पंथाणं रूवसंबद्धं फलावत्ति च चितए।
कोहातीणं विवाकं च अप्पणो य परस्स य ॥३॥

जैसे कबूतर, कपिंजल पक्षी और गाय प्रातःकाल का भोजन प्राप्त करने के लिए वन में घूमते हैं, इसी प्रकार गोचरी के लिए प्रविष्ट मुनि गोवत् भिक्षा करे, परन्तु स्वादिष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए किसी गृहस्थ की प्रशंसा न करे और न ही भिक्षा न मिलने पर वह कुपित हो।

कर्मक्षय करने हेतु भिक्षाजनित दोषों से विमुक्त मुनि पंचविध वनी-पकों (याचक, अतिथि, कृपण दीन, ब्राह्मण, या कुत्ता एवं अन्यतीर्थिक श्रमण) से (अर्थात्—इनको अन्तराय न डालते हुए) शुद्ध (निर्दोष) भिक्षा गवेषणापूर्वक ग्रहण करे।

मुनि अपने रूप (स्वरूप) से सम्बद्ध पथ और फलवृत्ति का चिन्तन करे तथा स्व और पर के क्रोधादि के विपाक का भी विचार करे। भावार्थ यह है कि भिक्षा के लिए जाते समय जिनशासन और मुनि के स्वरूप को सदैव दृष्टिगत रखे। उसी के अनुरूप फल की आवृत्ति चाहे। साथ ही, वह स्व और पर किसी के लिए भी क्रोध का निमित्त न बने।

पहले लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग करने का निर्देश किया गया था। अब इन तीन गाथाओं में उसी सन्दर्भ में उक्त दोनों एषणाओं का परित्याग करने के लिए साधु वर्ग के लिए शुद्धभिक्षाचरी—गोचरी करने का निर्देश किया गया है। साधुवर्ग जब गोवत् भिक्षाचरी करेगा, उस समय अगर उसमें उक्त दोनों प्रकार की एषणा होगी तो वह ताक-ताक कर सम्पन्न घरों में आहारादि की प्राप्ति के लिए जाएगा, कहीं न मिलने या किसी के न देने पर असन्तुष्ट होकर कुपित होगा, उस ग्राम, नगर या घर को कोसेगा, अथवा कहीं दीनता दिखाएगा, अपनी जाति, कुल, आजीविका आदि का बखान करेगा, या किसी के यहाँ से सरस स्वादिष्ट आहार, सुन्दर वस्त्र, पात्रादि मिलने पर या लेने के लिए उसकी प्रशंसा करेगा। इस प्रकार वह साधु लोकैषणा और वित्तैषणा दोनों से लिप्त हो जाएगा।

जिस साधु में वित्तैषणा (पदार्थों के पाने की लालसा) या लोकैषणा नहीं होगी, वह गाय की तरह क्रम से उच्च-नीच या मध्यम कुलों में तथा सम्पन्न या असम्पन्न सभी घरों में क्रमशः गोचरी करेगा, और सहज में प्राप्त कल्पनीय एवं एषणीय वस्तु को ग्रहण करके समभाव से उसका उपयोग करेगा। सरस वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके मन में गर्व नहीं होगा और नीरस वस्तु मिलने पर उसे दीनता, निराशा या खिन्नता नहीं होगी।

वह लाभ या अलाभ में सम रहेगा। उसके मन में सरस स्वादिष्ट या अभीष्ट वस्तु को पाने या प्रचुर मात्रा में पाने की एषणा (लोभ) नहीं

जागेगी, और न ही उसके लिए वह किसी प्रकार का चमत्कार, या यंत्र-मंत्रादि या जादू टोने का प्रयोग करेगा, और न ही किसी प्रकार की तिकड़मबाजी करेगा। वह अपनी स्वपर-कल्याण-साधना में मस्त रहेगा।

कबूतर आदि पक्षी भी जब अपने भोजन की तलाश में निकलते हैं, तब उनके मन में न तो किसी प्रकार की आकुलता रहती है और न ही दौड़-धूप। इसी प्रकार साधु के मन में भी स्वादिष्ट पदार्थों या अभीष्ट पदार्थों को पाने की आकुलता या सब याचकों से पहले प्राप्त करने की दौड़-धूप नहीं होनी चाहिए। वह भिक्षा के समय समचित्त रहे। अगर गृहस्थ के द्वार पर कोइ भी याचक खड़ा है तो उसे अतिक्रमण करके गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश न करे। ऐसा करने से दूसरे याचकों या दाता के मन में साधु के प्रति अश्रद्धा पैदा हो सकती है तथा जैन शासन की भी अप्रतिष्ठा हो सकती है। कदाचित् अपने लाभ के प्रति विघ्नकारक समझ कर वे याचक मुनि पर क्रुद्ध होकर संघर्ष कर सकते हैं, मुनि को भला-बुरा कह सकते हैं। अतः समभाव के उपासक मुनि का कर्त्तव्य है कि वह अपने और दूसरों के दिलों में क्रोधादि उत्पन्न होने का निमित्त न बने।

भिक्षा लेते समय भी साधु अपने मुनिरूप और शासन की प्रतिष्ठा का विचार करे। दीनता दिखाकर या रौब गांठ कर अथवा दूसरों को अपने चमत्कार दिखाकर प्रभावित करके भिक्षा लेना मुनिरूप और शासन की प्रतिष्ठा को समाप्त करना है।

गृहस्थ के लिए भी यही सिद्धान्त

गृहस्थ को भी उक्त दोनों एषणाओं का परित्याग करने हेतु गोपथ से जाने और महापथ से जाने का सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। वह भी आहारादि प्राप्ति के विषय में अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होगा, महारम्भी, और महा-परिग्रही का पथ अंगीकार नहीं करेगा। कुटुम्ब पालन में जीवन निर्वाह योग्य धन से एक मकान से, थोड़े-से वस्त्रों से तथा सादे-सीधे सात्विक और पोषक भोजन से काम चल जाता है तो वह अधिक को पाने, संग्रह करने या उसके लिए महान् आरम्भ करने का उपक्रम नहीं करेगा। यही अर्हतर्षि याज्ञवल्क्य की अनुभवमूलक प्रेरणा है। ●

१६

जीवन की सुन्दरता

दो प्रकार के जीवन

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति आते हैं। एक—दूसरों को दबा-सता कर, सत्ता के जोर से दूसरों को कुचल कर, अन्याय-अत्याचार करके, अथवा शोषण करके फलते-फूलते हैं, आगे बढ़ते हैं। जनता उनके समक्ष नतमस्तक होती है, उनकी जय-जयकार करती है।

दूसरे—ऐसे व्यक्ति आते हैं, जो न्याय, नीति और धर्मपूर्वक अपना जीवन-यापन करते हैं। दूसरों के प्रति सहानुभूति, दया, क्षमा, सेवा, समता, करुणा, आत्मोपम्य का भाव रखकर जीते हैं। ऐसे लोग दूसरों के हृदय पर शासन करते हैं, उनके सम्पर्क में आने वाले लोग उन्हें प्रणाम, वन्दन नमन करते हैं, उनके गुणगान करते हैं, परन्तु वे किसी से ऐसी अपेक्षा नहीं करते। वे प्रशंसा करने वालों पर राग और निन्दा करने वालों या उपेक्षा करने वालों के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते। वे अपना जीवन संतोषवृत्ति से सुखपूर्वक बिताते हैं। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करते जिससे दूसरों को कष्ट हो, वे अन्याय-अत्याचार या दमन से पीड़ित हों।

आपसे पूछा जाए कि आप कौन-सा जीवन पसन्द करते हैं ? आप शायद दूसरे प्रकार का जीवन ही पसन्द करेंगे। लेकिन उसके लिए आपको स्वयं पुरुषार्थ करना होगा। अपने परिवार और समाज में वैसा वातावरण, वैसी ही शिक्षा-दीक्षा और संस्कार का माहौल बनाना होगा।

सौन्दर्यपूर्ण जीवन का रहस्य

जैन सस्कृति में 'जैन' शब्द में भी विजय का स्वर निहित है, परन्तु किस पर ? यहाँ बाह्य विजय नहीं, जनता के हृदय पर विजय, जनता के

दिलों को जीतना ही वास्तविक विजय है। अर्हतर्षि भयाली ने तेरहवें अध्ययन में किसी के द्वारा लावण्य सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर इसी आशय का उत्तर दिया है—

प्रश्न—किमत्थं णत्थि लावण्णं ताए ?

उत्तर - मेत्तेज्जेण भयालिणा अरहता इसिणा बुइतं।

णोऽहं खलु भो अप्पणो विमोयणट्ठाए परं अभिभविस्सामि।
माणं मा णं से परे अभिभूयमाणे ममं चेव अहिताए भविस्संति।

प्रश्न– तुम्हारा लावण्य—(जीवन में सौन्दर्य) क्यों नहीं है ?

उत्तर—इसके उत्तर में मैत्रेय भयाली अर्हतर्षि ने कहा—

"मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरे को पराजित नहीं करूँगा। नहीं, नहीं; वह पराजित व्यक्ति मेरे लिए ही अहितकर्त्ता बनेगा।"

ऐसा जीवन सौन्दर्यमय नहीं है

अर्हतर्षि के कहने का आशय यह है कि विश्व में अधिकांश व्यक्ति अपने जीवन को पुष्ट, लावण्यमय, सुखमय एवं विजयी बनाने के लिए दूसरों को पराजित करते हैं, सताते-दबाते और कुचलते हैं, पीड़ित करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने विकास, अपने अभ्युदय और अपने प्रेय के लिए दूसरों का विनाश करते हैं, दूसरों को गुलाम बनाकर उनके साथ मनमाना कठोर व्यवहार करते हैं। उन मान्धाताओं की मुस्कान दूसरों को परेशान करके टिकती है। ऐसा जीवन सौन्दर्यमय नहीं है।

इसे समझने के लिए एक ऐतिहासिक घटना लीजिए—

प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के जन्मदिवस का महोत्सव था। इस अवसर पर सभी प्रान्तों के शासक आए थे। सम्राट् की ओर से घोषणा की गई—'सर्वश्रेष्ठ शासक को आज पुरस्कार दिया जाएगा।' इस पर उत्तरी सीमा के शासक ने कहा—प्रादेशिक शासन की आय मैंने तीन गुनी बढ़ा दी है।

दक्षिण के प्रान्ताधीश ने कहा—इस वर्ष मेरे प्रान्त की ओर से राज्य कोष में गतवर्ष से दुगुना सोना अर्पित किया गया है।

पूर्वी प्रान्तों के शासक ने कहा—पूर्वी सीमान्त के उपद्रवियों का मैंने सिर तोड़ दिया है। अब वे कदापि सिर उठाने का साहस नहीं कर सकेंगे।

पश्चिमी प्रदेश के अधिकारी बोले—मैंने सेवकों का वेतन घटा दिया

है, तथा जनता पर कर बढ़ा दिया है, जिससे राज्य की आय अनेक गुनी बढ़ गई है। आय के अन्य कई साधन भी ढूंढ़ लिये हैं।....

अन्त में उठे मगध के प्रान्तीय शासक। वे नम्रतापूर्वक बोले— महाराज ! मैं क्या निवेदन करूँ ? मेरे प्रान्त ने प्रतिवर्ष के आधे से भी कम धन इस वर्ष केन्द्रीय राज्यकोष में भेजा है। मैंने प्रजा पर कर कम किये हैं। राज-सेवकों को कुछ अधिक सुविधाएँ दी गई हैं। जिसके फलस्वरूप वे अधिक उत्साह, प्रामाणिकता एवं परिश्रम के साथ अपना कर्तव्य अदा कर रहे हैं। प्रान्त में सर्वत्र धर्मशालाएँ और कुँए बनवाये गये हैं। निःशुल्क चिकित्सालय खोले गये हैं। प्रत्येक कस्बे और बड़े गाँव में पाठशालाएँ खोली गई हैं।

सम्राट् सिंहासन से उठे और घोषणा की—मुझे प्रजा के रक्त से रंजित स्वर्णराशि नहीं चाहिए। प्रजा को सुख-सुविधाएँ मिले, यही मेरी हार्दिक इच्छा है। यह सब कहने के बाद सम्राट् अशोक ने मगध के प्रान्तीय शासक को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए कहा—"इस वर्ष का पुरस्कार मगध के शासक को दिया जाय।"

वास्तव में जो शासक प्रजा पर अधिक कर लगाकर अथवा शासन-सेवकों का वेतन घटाकर शोषण और उत्पीड़न करता है, अथवा अपनी विजय के लिए दूसरे निर्दोष देश पर हमला करके उसे पराजित करता है, और अपनी राज्य सीमा बढ़ाता है, उस शासक या व्यक्ति का जीवन कभी सौन्दर्ययुक्त (लावण्यमय) नहीं हो सकता। जीवन का वास्तविक सौन्दर्य अपने से दुर्बलों, अशिक्षितों, पीड़ितों या निर्धनों को उत्पीड़ित, शोषित, पददलित या पराजित करने में नहीं, वह है—उन्हें ऊपर उठाने, विपत्ति में उनकी सहायता करने, उनके दुःख में सहभागी बनकर उनके आँसू पोंछने में। तभी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' या 'मित्ती मे सव्वभूएसु' का सिद्धान्त क्रियान्वित होता है। वही विजयी जीवन लावण्यमय, कान्तिमय हो उठता है।

मध्ययुग में पश्चिमी देशों में एक सिद्धान्त प्रचलित हुआ था जिसका नारा था—'Survival of the fittest' योग्यतम व्यक्ति ही जीने का अधिकारी है। योग्यतम का भावार्थ था—जो शक्तिशाली हो, फिर वह चाहे तन से हो, धन से हो, सत्ता से हो या फिर आतंक से हो। ऐसे लोग ही उस युग में प्रचलित गुलामी प्रथा (दास-दासी क्रय-विक्रय) के प्रबल समर्थक थे।

इसीलिए अर्हतर्षि भयाली के आगे के कथन का तात्पर्य है कि 'मैं अपनी

विजय, अपनी दुःखविमुक्ति, या अपनी समृद्धि के लिए दूसरों को पराजित, पीड़ित या अभिभूत (दबा-सता) नहीं कर सकता। दूसरे की चिता-भस्म पर अपने लिए महल नहीं बना सकता, क्योंकि दूसरे के पराभव, पराजय या उत्पीड़न में मेरा ही अहित छिपा हुआ है। दूसरे के आँसू मेरी आत्मा को चैन से नहीं रहने देंगे। दूसरे के पराजय या उत्पीड़न से मेरी विश्वमैत्री का सिद्धान्त चूर-चूर हो जाएगा। ऐसी स्थिति में अहिंसा, करुणा, दया, समता या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मेरा सिद्धान्त समाप्त हो जायेगा, जो मेरी आत्मा के लिए इस जन्म के लिए ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर के लिए भी हानिकारक होगा। अतः दूसरे के हर्ष में ही मेरा हर्ष है, दूसरों के सुख में ही मेरा सुख है। ऐसा विश्वमैत्री एवं विश्वबन्धुत्व से ओतप्रोत आत्मौपम्ययुक्त जीवन ही सौन्दर्यमय—लावण्ययुक्त हो सकता है।

'जिलाकर जीओ' के सिद्धान्त से साधुजीवन सौन्दर्यमय

वास्तव में साधुजीवन में तो सौन्दर्यमय जीवन के लिए समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भाव लेकर चलना पड़ता है। वहाँ तो "अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए" अर्थात्—'छह ही काया के जीवों को आत्मतुल्य माने' का सिद्धान्त जीवन में चरितार्थ करना है। वहाँ एक भी प्राणी को मारना तो दूर रहा, उसे सताना, दबाना, कुचलना, डराना-धमकाना, पीड़ित करना या बिना ही मतलब के उससे छेड़खानी करना, छाया से धूप में या धूप से छाया में रखना अथवा धोखा देना, भटकाना, अपमानित करना, अपशब्द कहना आदि हिंसाजनक कार्य करने का निषेध है। यही कारण है कि साधु का जीवन 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त से ऊपर उठकर दूसरों को जिलाकर जीओ' के सिद्धान्त से ही सुन्दर बन सकता है। जब-जब संघ, समाज और राष्ट्र पर संकट आये हैं, साधुजनों ने स्वयं प्राणों पर खेल कर, घोर परीषह सहन करके उस संकट का निवारण किया है, उस कष्ट या दुःख को अपना कष्ट या दुःख समझकर दूसरों को जिला कर जीने के सिद्धान्त को आचरित किया है।

जैन इतिहास में रक्षाबन्धन पर्व के दिन नमुचि के अत्याचार से साधुओं को मुक्त कराने का विष्णुमुनि का कार्य इसी सिद्धान्त का परिपोषक है।

विष्णु मुनि ने संघ और राष्ट्र पर आये हुए विकट संकट को स्वयं की परवाह न करते हुए दूर किया और दूसरों को जिलाकर जीने के सिद्धान्त को चरितार्थ किया। षट्काय के रक्षक साधु संघ की रक्षा के साथ-साथ

उस जनपद की, अन्याय पीड़ित जनता की तथा नमुचि की नास्तिकता के कारण अन्य उत्पीड़ित मानवेतर प्राणियों की भी रक्षा की।

'जिला कर जीओ' के सिद्धान्त का परिपालक षट्कायरक्षक साधु अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए, अपने अपमान या कष्ट का बदला लेने के लिए दूसरे मानवों की हानि का जरा-सा विचार भी नहीं कर सकता। न ही वह अपने से भिन्न समुदाय, मत, पंथ, विचारधारा या आचारधारा के लोगों को हैरान कर सकता है, न ही नीचा दिखाने या बदनाम करने का प्रयत्न कर सकता है। वह व्यक्ति, सम्प्रदाय, जाति-कौम, प्रान्त, राष्ट्र एवं समाज से ऊपर उठकर सारे विश्व के प्रति मैत्री भावना को, सर्वहित चिन्तन, सर्व-जीव रक्षण सर्वोदय को साकार करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह स्वप्न में भी किसी का अहित, अकल्याण या बुरा चिन्तन नहीं कर सकता। अपने हित के लिए दूसरों के हित या जोवन के साथ वह खिलवाड़ नहीं कर सकता।

अपने जीवन को टिकाने के लिए मूलभूत आवश्यकताओं—आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि को प्राप्त करने में संयम से चलता है, यतना के साथ सभी प्रवृत्तियाँ करता है, अहिंसा का उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करता है। इसके लिए वह त्याग, नियम एवं मौलिक मर्यादाओं को लेकर चलता है। उसका अपने देह, गेह, वस्त्रादि उपकरणों पर या समुदाय, जाति-कौम, वर्ग या प्रान्तादि पर भी मोह ममत्व नहीं रहता। ऐसे महाश्रमण की झांकी प्रस्तुत करते हुए एक कवि कहता है—

विश्व के कल्याण हित सर्वस्व को जो त्याग देता।
हार की माला गले में डाल, जय का दान देता।
जो अकिंचन बन स्वयं ही बाँट देता मुकुट सारे।
है श्रमण वह, विश्व सारा टिक रहा जिसके सहारे ॥१॥

जो गरल पीकर हृदय में प्रेम की धारा बहाता।
शत्रु को भी ढूंढ़ कर जो जोड़ता है स्नेह-नाता।
कण्टकाकुल मार्ग में पदत्राण बनकर जो उबारे ॥है श्रमण०॥२॥
जो पराश्रय से निरन्तर दूर रहना जानता है।
मित्र औ अरि आत्म को तज, जो न पर को मानता है।
जागता रहता निरन्तर, जो महाव्रत के उजारे ॥है श्रमण०॥३॥
भेद औ वैषम्य को, जिसने निरा मिथ्यात्व माना।
सब जनों सब प्राणियों में एक आत्मा को पिछाना।
विश्वमैत्री और समता के लगाता नित्य नारे ॥ है श्रमण० ॥४॥

यह है सत्यं और शिवं के साथ सुन्दरम् से अनुप्राणित साधु जीवन।

सौन्दर्यमय गृहस्थ जीवन के मूलमन्त्र

अब जरा गृहस्थ जीवन के विषय में भी अर्हतर्षि भयाली के विचारों को सुन लीजिए। वे कहते हैं—

आताणाए उ सव्वेसिं गिहिबूहणतारए।
संसार वास-संताणं कहं मे हंतुमिच्छसि ?॥१॥

दूसरा अभिभूत (पराजित) होने वाला व्यक्ति संसार में रहे हुए गृहस्थ कहे जाने वाले तारक—श्रावक से पूछता है— तुम मुझे मारना क्यों चाहते हो ?

गृहस्थ श्रावक साधुओं के जितनी उच्चकोटि की अहिंसा, सत्य आदि का पालन तो नहीं कर सकता, फिर भी अहिंसा आदि के विषय में उसकी एक मर्यादा—सीमा है, उसमें रहकर वह चलता है। जैसे श्रावक के लिए स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत भगवान ने बताया है। इसका मतलब है— वह द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक की संकल्पजा हिंसा से सर्वथा विरत होता है, आरम्भजा हिंसा में भी वह अनर्थक, अनावश्यक, एवं अमर्यादित हिंसा से दूर रहेगा। पांच प्रकार के स्थावर जीवों (एकेन्द्रिय प्राणियों) की वह अनाप शनाप या अमर्यादित हिंसा नहीं करेगा उसमें भी विवेक एवं सयम से काम लेगा।

प्रस्तुत गाथा में अर्हतर्षि भयाली ने गृहस्थ श्रावकों के लिए 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त संवाद के रूप में अभिव्यक्त कर दिया है। किसी श्रावक ने अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके किसी अन्य गृहस्थ को दबाया-सताया, तब वह उक्त श्रावक से जबाव तलब करता है—तुम्हारी मर्यादाओं, श्रावकव्रत के दायरे का अतिक्रमण करके तुम मुझे मारना क्यों चाहते हो ? मारने का अर्थ यहाँ प्राणों से वियुक्त कर देना ही नहीं है, अपितु दबाना, सताना, पीड़ित करना, हानि पहुँचाना, हैरान, परेशान करना, दुःख और सकट में डालना, चोट पहुंचाना, मार-पीट करना, भूखे-प्यासे मारना, श्वास बन्द करना, गुलाम बनाकर कष्ट देना, शोषण करना, सघर्ष करके किसी के विकास को रोक देना, आजीविका (रोजी-रोटी) में अन्तराय डालना, संतप्त करना, डराना-धमकाना, धक्का-मुक्की करना, अंगभंग करना इत्यादि भी है।

हिंसा के इन अर्थों पर बारीकी से ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक भी अपनी मर्यादा में ये और इस प्रकार की संकल्पी हिंसाएँ नहीं कर सकता, जिनसे दूसरों का शोषण, उत्पीड़न, अनिष्ट, अहित, अंग-भग या विनाश हो, अथवा नुकसान हो।

आज अगर देखा जाय तो गृहस्थ समाज में इस प्रकार की कई पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, साम्प्रदायिक, जातीय या प्रान्तीय आदि हिंसाएँ पनप रही हैं। जिन्हें देखकर रौंगटे खड़े हो जाते हैं कि वर्तमान जैन समाज जो अहिंसा का दावा करता है, पानी छानकर पीता है, रात्रि में भोजन नहीं करता, माँस-मछली और अंडों के सेवन परहेज करता है, मद्यपान नहीं करता, वह व्यावहारिक जीवन में कितना नीचे उतर आया है? एक तरफ एकेन्द्रिय जीवों का रक्षण करने वाला पंचेन्द्रिय जीवों और उसमें भी मनुष्यों की दया में कितना पिछड़ा हुआ है। मानव-सेवा, पशु-सेवा के क्षेत्र में उसे आगे आना है।

पारिवारिक जीवन में भी आज कई प्रकार की मानवीय हिंसाएँ पनप रही हैं। सगे भाइयों में परस्पर वैमनस्य इतना बढ़ जाता है कि एक भाई दूसरे भाई को जान से मारने, सताने और आत्महत्या करने को विवश कर देता है। एक भाई आर्थिक दृष्टि से कमजोर है, यहाँ तक कि उसके घर में रोटियों के भी लाले पड़े हैं, फिर भी दूसरे सम्पन्न भाई को दया नहीं आती, वह सहानुभूति भी नहीं बता सकता, सहायता भी नहीं कर सकता, बल्कि द्वार पर आ जाये तो धक्के देकर निकाल देता है, क्या इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार हिंसा नहीं है।

इसी प्रकार किसी के लड़का है, वह दूसरे की लड़की से अपने लड़के का रिश्ता तय करता है। उस समय लड़की वाले की हैसियत मुँहमाँगा देने की नहीं होती, फिर भी उस पर दबाव डाला जाता है, अगर वह समय पर उतने रुपये या साधन सामग्री देने की व्यवस्था नहीं कर पाता तो दहेज के लोभी निर्दय लोग उस सम्बन्ध को तोड़ डालते हैं। अगर उस लड़की के साथ विवाह हो भी जाता है तो लड़की को बार-बार तंग करते हैं. कई दहेज लोभी दानव तो उसे जला डालते हैं, मारते-पीटते हैं, अनेक प्रकार के जुल्म ढहाते हैं, वचन बाणों से बींध डालते हैं। आए दिन समाचार पत्रों में जैनेतर ही नहीं, जैन परिवारों में भी लड़कियों को दहेज की बलि वेदी पर जला कर या गला घोंट कर मार डालने के समाचार पढ़ते हैं। इससे मालूम होता है कि जैन समाज अभी अहिंसा के संस्कारों से कितनी दूर है?

मानवता से भी कितना दूर है ? दहेज लोभी अहिंसा धर्म से कितने विमुख हैं ? इस विषय में कविरत्न चन्दन मुनिजी का मार्मिक कथन देखिए—

भारत से धर्म देख लो, अब तो रवाना हो गया ।
किसको सुनाएँ भाइयो ! बहरा जमाना हो गया ।।ध्रुव।।

लड़के का बाप पूछता, लड़की के साथ दोगे क्या ?
मोटर बिना तो व्याह का, मुश्किल रचाना हो गया ।।भारत।।१।।

लड़की चाहे गुणवती, चाहे हो सीता सती ।
लड़के का लालची पिता धन का दीवाना हो गया ।।भारत।।२।।

कई शोषणकर्त्ता लोग ब्याज आदि के रूप में आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को पीड़ित कर देते हैं, वे ब्याज पर ब्याज लगाकर सौ के बदले एक बिंदी और चढ़ाकर हजार करके अपनी प्रामाणिकता, न्याय-नीति और अहिंसा-धर्म का दीवाला निकाल देते हैं ।

कई लोग श्रमजीवी लोगों से अधिक श्रम लेकर, बदले में बहुत कम पारिश्रमिक देते हैं, कई तो बेचारे श्रमजीवी सेवकों के, किसी कारणवश जरा-सी देर से आने पर, उसके या उसके परिवार के किसी व्यक्ति की बीमारी आदि होने पर जरा भी सहानुभूति नहीं बताते. उसके वेतन में से काट लेते हैं । इसके कारण मालिक-मजदूर, स्वामी-सेवक आदि में परस्पर स्वार्थों की टक्कर चलती है । आए दिन हड़ताल, बंद, कार्य में क्षति, उत्पादन में कमी आदि अनिष्ट इसी के परिणाम हैं । दोनों ओर रोष, द्वेष, कलह आदि का दौर चलता है, जो भयंकर मानसिक हिंसा का कारण है ।

श्रावक को इन और ऐसी पारिवारिक एवं सामाजिक हिंसाओं से दूर रहना चाहिए । ऐसे ही किसी शोषणजीवी, अर्थलोभी श्रावक से कोई पीड़ित एवं शोषित व्यक्ति प्रश्न पूछ सकता है कि मेरा शोषण करके या मुझे पीड़ित करके क्यों मार रहे हो ?

अपने कुटुम्ब या जाति में जो आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, या घर में केवल एक विधवा महिला है, कमाने वाला कोई नहीं है, फिर भी कई कौटुम्बिक जन या ज्ञातिजन उसे ज्ञाति की अमुक कुरूढ़ि, जैसे—मृतक भोज, प्रीतिभोज आदि करने के लिए विवश एवं कायल कर देते हैं । इससे वह कुटुम्ब, ज्ञाति या परिवार पनप नहीं पाता । अन्दर ही अन्दर ऐसे लोगों के प्रति अर्थ संकटग्रस्त व्यक्ति के अन्तर् से आह निकलती है ।

कई बार कई व्यापारी, जिनमें जैन श्रावक भी हैं, दूसरे की कमजोर आर्थिक-स्थिति का फायदा उठाने के लिए पहले तो किसी चीज का सौदा कर लेते हैं, फिर उस चीज का भाव गिर जाने पर जब वह घाटे की रकम समय पर चुका नहीं पाता, तब बड़ी सख्ती से, निर्दयता से उसके साथ पेश आते हैं, कई तो कुर्की लाकर उसका घर-बार तक नीलाम करा देते हैं। परन्तु जो सच्चा श्रावक होता है, वह ऐसे समय में आर्थिक दृष्टि से कम-जोर व्यक्ति के साथ सहानुभूति, दया और मानवता का व्यवहार किये बिना नहीं रह सकता।

खून नहीं पी सकता

श्रीमद् रायचन्द्रजी जैन साधक थे। वे जवाहरात का व्यवसाय करते थे। एक बार उन्होंने किसी दूसरे व्यापारी के साथ जवाहरात का सौदा किया, अमुक भाव में उसे रायचन्द्रजी को अमुक अबधि (मुद्दत) तक में माल दे देना था। परन्तु भावों में एकदम तेजी आ गई। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने सोचा कि ऐसे समय में अगर वह व्यापारी मुझे अपने सौदे के अनुसार माल देगा तो बर्बाद हो जायेगा, वह सँभल नहीं पायेगा, दर-दर का मोहताज हो जायेगा। अतः मुद्दत से कुछ दिन पहले ही वे उस व्यापारी के यहाँ गये। वह सकपकाया और कहने लगा—मैंने जो सौदा किया है, वह पक्का है, आप घबराइए नहीं।

परन्तु श्रीमद् रायचन्द्रजी ने कहा—वह पुर्जा लाओ, जो हमारा सौदा तय होने पर लिखा गया था। उन्होंने उस व्यापारी से पुर्जा लेकर तुरन्त उसे फाड़ डाला। व्यापारी बोला—"आपने ऐसा क्यों किया? मैं तो इस सौदे में घाटे की पाई-पाई चुकाने का प्रयत्न करता।"

रायचन्द्रजी ने कहा—'रायचन्द्र किसी का दूध पी सकता है, खून नहीं। मैं अपनी मानवता को तिलांजलि देकर ऐसा कार्य नहीं कर सकता। आपका और हमारा सौदा रद्द है।"

बन्धुओ! यह है श्रावक के द्वारा होने वाली सामाजिक हिंसा में सावधानी! ऐसे तो अनेक प्रसंग आते हैं, जिनमें श्रावक को हिंसा-अहिंसा का विवेक करना है। किसी की धरोहर या अमानत वस्तु या सम्पत्ति को हजम कर जाना, किसी के साथ मनमुटाव होने पर उसका घर जला देना, उसकी कार या किसी चीज को फूँक देना, थोड़ी-सी गलती पर नौकर को सख्त सजा देना, किसी पर झूठा कलंक लगाकर या झूठमूठ डाइन घोषित करके उसे कायल कर देना, आदि सब हिंसा काण्ड हैं।

विवाह शादियों में कई बार इतनी रोशनी की जाती है कि उसमें सैकड़ों जीव आकर मर जाते हैं। दीवाली, होली आदि के दिनों में फटाके, आतिशबाजी आदि में हजारों जीव स्वाहा हो जाते हैं। कई बार श्रावक-श्राविका के अविवेक के कारण अनाज में कीड़े पड़ जाते हैं। तेल, घी आदि के बर्तन खुले रह जाने पर भी कई जीव उनमें पड़कर मर जाते हैं। इस प्रकार के अविवेक के कारण हुई त्रसजीवों की हिंसा से बचा जा सकता है।

कई श्रावक रेशमी कपड़े पहनते हैं, पर वे यह नहीं जानते कि एक मीटर रेशमी कपड़े बनाने में कितने शहतूत के कीड़े उबाल कर मारे जाते हैं। इसी प्रकार मोती, हाथी दाँत आदि का उपयोग करने वालों को उनको प्राप्त करने में होने वाली हिंसा का ख्याल करना चाहिए।

कॉफ लेदर, क्रूम लेदर आदि चमड़े से बनी हुई वस्तुओं का इस्तेमाल करने से पहले उसको प्राप्त करने में कितने पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा हुई है, इसका विचार करके इन हिंसानिष्पन्न वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक है।

आजकल बहुत-से शृंगार-प्रसाधनों में कई त्रसजीवों की हिंसा होती है। अतः इस प्रकार के हिंसानिष्पन्न शृंगार प्रसाधनों का इस्तेमाल कतई नहीं करना चाहिए। अपने मौज-शौक, अपनी सुख-सुविधा के लिए श्रावक वर्ग को किसी वस्तु का इस्तेमाल करने से पूर्व उसे मन ही मन प्रश्न करना चाहिए क्या वह जीव मुझ से प्रश्न नहीं कर सकता कि अपने मौज-शौक, ऐश-आराम एवं सुख के लिए मुझे क्यों मारना चाहते हो?

श्रावक को महाहिंसाजनक महारम्भ और महापरिग्रह के बचना अनिवार्य है, क्योंकि ये दोनों नरक में ले जाने वाले हैं, नाना प्रकार के दुष्कर्म बन्ध कराने वाले हैं।

देखो, आत्मा का सौन्दर्य कितना और क्यों विकृत है?

अब एक दूसरे पहलू से आत्मिक सौन्दर्य का वास्तविक परिचय कराने के लिए अर्हतर्षि भयाली दार्शनिक चर्चा छेड़ते हुए कहते हैं—

संतस्स करणं णत्थि, णासतो करणं भवे।
बहुधा दिट्ठं इमं सुट्ठु, णासतो भव-संकरे ॥२॥

संतमेतं इमं कम्मं, दारेणेतेणोवट्ठियं।
णिमित्तमेत्तं परो एत्थ मज्झ मे तु पुरे कडं ॥३॥

इनका भावार्थ यह है कि 'विद्यमान वस्तु कभी की नहीं जाती, और असत् वस्तु तो कभी की ही नहीं जाती। अथवा—विद्यमान वस्तु का करण नहीं है, क्योंकि अपने करण के द्वारा ही वह कार्य रूप में आई है, और असत् वस्तु का कोई करण नहीं होता। बहुधा यह भलीभाँति देखा गया है कि भवसांकर्य (संसार-परम्परा) असत् नहीं है, क्योंकि वह सहेतुक है, उसके पीछे कर्म वर्गणा है, जो कि भवपरम्परा का मुख्य हेतु है।

यह उपस्थित (विद्यमान) कर्म, भवपरम्परा के द्वार के रूप में विद्यमान है। दूसरा तो केवल निमित्त-मात्र है। मेरे शुभाशुभ कर्मफल (विपाक) के लिए तो मेरे पूर्वकृत कर्म ही उत्तरदायी हैं।

दार्शनिक क्षेत्र में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं। एक है – सत्कार्यवाद और दूसरा है—असत्कार्यवाद। सांख्य, योग और जैनदर्शन सत्कार्यवादी हैं। इनका कहना है कि विश्व में विद्यमान वस्तु ही की जाती है, असत् (अविद्यमान) नहीं। घड़ा मिट्टी के रूप में पहले से ही विद्यमान है तभी कुम्भकार के कुशल हाथ उसे मूर्त रूप देकर घड़ा बनाते हैं। यदि कुम्भकार यह दावा करे कि मैं असत् (मिट्टी की अविद्यमानता) से घड़ा बना दूँ तो, वह दावा व्यर्थ है। यदि वह ऐसा दावा करता है तो आकाश से घड़ा बना दे, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। दूसरी ओर बौद्ध और वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी हैं। वे कहते हैं—जिस समय घड़ा बनता है, उस समय यदि वह मिट्टी में उपस्थित है तो दिखाई क्यों नहीं देता ? अतः असत् की ही उत्पत्ति होती है। यदि मिट्टी में घड़ा पहले से मौजूद है तो फिर कुम्भकार की या उस घड़े को खरीदने को क्या आवश्यकता है। परन्तु पिछला सिद्धान्त युक्ति से खण्डित हो जाता है। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, और सत् कभी नष्ट नहीं होता। अतः निष्कर्ष यह निकला कि असत् कभी किया नहीं जाता और सत् को भी करने की जरूरत नहीं, क्योंकि वह तो विद्यमान है ही। 'कृतस्य करणं नास्ति'' इस न्याय से कृत का करना नहीं है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अर्हतर्षि कहना चाहते हैं कि भवपरम्परा असत् नहीं है, वह सत् (विद्यमान है ही। साथ ही कर्म भी सत् है। इन दोनों को इस प्रकार समझना है। भवपरम्परा कार्य है, और कर्म उसका कारण है। मनुष्य विपत्ति या संकट आने पर अपने उपादानरूप आत्मा का सौन्दर्य नहीं देखता कि वह विविध कर्मों के कारण कितना विकृत है ? तथा उन्हीं स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप आत्मा को अनेक भवों में भटकना पड़ता है।

परन्तु अधिकांश भ्रान्त मानव आत्मा के सौन्दर्य को न देखकर केवल शरीर के सौन्दर्य को ही अपना सौन्दर्य मान लेते हैं, जिसके कारण वे शरीर

से सम्बन्धित निमित्तों – सगे-सम्बन्धियों वस्तुओं या ऋतुओं को कोसते रहते हैं। अथवा शरीर से सम्बन्धित शारीरिक सौष्ठव-सौन्दर्य, वस्त्र, धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि शुभनिमित्तों के देखकर गर्व करते रहते हैं। इन दोनों ही परिस्थितियों में निमित्तों को देखने के कारण मनुष्य नाना प्रकार के कर्मबन्धन करता रहता है और वह भविष्य में अनेक भवों तक भटकाते रहते हैं।

इसके विपरीत जो सम्यग्दृष्टि मानव आत्मा के सौन्दर्य को देखता है। वह आत्मा को शाश्वत, नित्य, अविनाशी तथा स्वकृत कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और क्षयकर्त्ता मानता है।

बन्धुओ !

शरीर से सम्बन्धित शुभाशुभ निमित्तों को देखने की आज होड़ लग रही है, परन्तु आत्मा पर लगे हुए दाग—कर्मों के मैल को देखने और उनको मिटाने की ओर बहुत ही कम ध्यान है। कर्मों के कारण जो आत्मा की कुरूपता क्षण-क्षण में बढ़ रही है, इसका विचार करने वाले ही वास्तव में आत्मिक सौन्दर्य के द्रष्टा हैं। वे ही आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट करने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नाना दुःखों के लिए स्वकृत कर्मों को ही उत्तरदायी मानते हैं। आत्मा की वास्तविक सुन्दरता सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र एवं तप से है। ज्ञानादि-सम्पन्न आत्मा विपत्ति के दुःखद क्षणों में निमित्तों पर रोष-द्वेष नहीं करती और न ही विषय सुख सम्पन्नता के क्षणों में निमित्तों पर राग या मोह करती है। वह आत्म-सौन्दर्य का ज्ञाता-द्रष्टा मानव जानता है कि दुःख और सुख स्वकृतकर्मों का ही फल है। अतः आत्मिक सौन्दर्य बढ़ाना हो तो मुझे इन कर्मों को क्षय करने के लिए कृत-निश्चयी होना चाहिए।

आत्म-सौन्दर्यनाशक कर्म का क्षय कैसे और किस प्रकार ?

यदि आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट या फीका करने वाले कर्मों तथा उनके फलस्वरूप होने वाली भवपरम्परा को समाप्त करना हो तो क्या करना चाहिए ? इसके लिए अर्हतर्षि भयाली कहते हैं—

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं।
फलत्थी सिंचति मूलं, फलघाती ण सिंचती ॥४॥
लुप्पती जस्स जं अत्थि, णासंतं किंचि लुप्पती।
संताती लुप्पती किंचि, णासंतं किंचि लुप्पती ॥५॥

अर्थात्—'मूल को सींचने से फल की उत्पत्ति होती है। मूल को नष्ट कर दिये जाने पर फल नष्ट हो जाता है। फलार्थी मूल का सिंचन करता रहता है, जबकि फल को नष्ट करने वाला उसका सिंचन नहीं करता।'

जिसका जो कर्म (उदयरूप में सत्—विद्यमान) है, वही लुप्त हो सकता है, किन्तु असत् (वर्तमान में उदयरूप में अविद्यमान) का लोप नहीं हो सकता। विद्यमान (सत्) में किंचित् लोप हो सकता है, किन्तु असत् (अविद्यमान) में से किंचित् भी लोप नहीं हो सकता।'

वास्तव में भवपरम्परारूप फल की प्राप्ति उसके कर्मरूप मूल को सींचने से होती है। अगर भव परम्परारूप फल को समाप्त करना हो तो उसके कर्म रूप मूल को नष्ट करना चाहिए। जो भवाभिनन्दी होता है, भव-भ्रमण करने में ही जो अपने आपको सुखी मानता है, वह फलार्थी आलस्य-वश या प्रमाद के वश भवभ्रमण को समाप्त करने का पुरुषार्थ नहीं करता। किन्तु जो भवभीरू होता है, भवभ्रमण से जिसे विरक्ति हो चुकी है, वह चार बातों पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है।

(१) भव-स्वरूप का चिन्तन, (२) कर्म-विपाक का विचार, (३) आत्मा के शुद्धस्वरूप और उस की अनन्तशक्ति का भान, और (४) वीतराग परमात्मा की आज्ञा के प्रति बहुमान।

यह चारों बातें हृदय में जम या रम गईं तो समझ लो भववैराग्य पक्का हो गया। भववैराग्य परिपक्व होते ही भवपरम्परा को समाप्त करने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, अर्थात्—स्वकृतकर्मों को निर्जरा द्वारा क्षय करने तथा नये आते हुए कर्मों को संवर द्वारा रोकने का पुरुषार्थ शुरू हो जाता है।

परन्तु अर्हतर्षि भयाली कहते हैं, कि आत्मा पहले के स्वकृत सभी कर्मों का क्षय एक साथ करना चाहे तो वह तभी कर सकता है, यदि वे कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हों, अर्थात्—वर्तमान में जो कर्म उदय में आ गये हों। परन्तु कर्म सिद्धान्तानुसार उदय में आये हुए सभी कर्मों का क्षय, वही आत्मा कर सकता है, जो उदित कर्मों को शान्त भाव से भोगता है। जो आत्मा कर्मोदय के फलों में अशान्त हो उठता है, वह उदित कर्मों का भी सर्वथा क्षय नहीं कर पाता। यद्यपि उदय में आए हुए कर्मों को उसे बरबस भोगना पड़ता है, उससे अकाम निर्जरावश कर्म क्षय तो होते हैं, किन्तु साथ ही अशान्तभाव से हाय-हाय करके, या प्रशंसा या गर्व से रागभावपूर्वक भोगने से और नये कर्मों का बन्ध हो जाता है, जो कि पूर्व कर्मों के अनुपात में कई गुना अधिक होते हैं। अतः उदय में आए हुए कर्मों को शान्तभाव से भोगने से पुराने कर्म क्षय हो जाते हैं और नये कर्म नहीं बंधते।

सारांश यह है कि कर्मों का क्षय दो प्रकार से होता है—(१) विपाकोदय से और (२) उदीरणा से। कर्म जब सहज रूप में विपाककाल समाप्त होने पर उदय में आकर क्षय हो जाता है, उसे विपाकोदय कहते हैं। किन्तु देर से उदय में आने वाले कर्मों को आत्मा जिस प्रक्रिया द्वारा शीघ्र उदय में ले आता है, उसे उदीरणा कहते हैं। उदीरणा के भी दो रूप हैं। पहला रूप है—शान्त उदीरणा और दूसरा रूप है - अशान्त उदीरणा। शान्त उदीरणा में आत्मा कर्मों का क्षय करता है। जबकि अशान्त उदीरणा में वह कर्मों का अधिक बन्ध कर लेता है।

दान : कर्मक्षय का साधन, कब और कब नहीं ?

आत्मा के सौन्दर्य को नष्ट या मन्द करने वाले कर्मों को क्षय करने में 'दान' भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। किन्तु दान देते समय मनुष्य की भावना और विवेकदृष्टि पर ही विशेष दारोमदार है। इसी दृष्टि से अर्हतर्षि भयाली इस अन्तिम गाथा में दान देने वालों की भावनाओं के प्रकार बताते हुए कहते हैं—

'अत्थि मे' तेण देति, 'नत्थि मे' तेण देइ मे।
जइ से होज्ज, ण मे देज्जा, णत्थि से तेण देइ मे ॥६॥

अर्थात्—एक व्यक्ति मेरे पास कुछ है इसलिए कुछ देता है, दूसरा व्यक्ति—'मेरे पास नहीं है' ऐसा जानकर भी कुछ न कुछ दे देता है। तीसरा व्यक्ति ऐसा है, जिसके पास कुछ है, फिर भी देने से इन्कार करता है; चौथा व्यक्ति कहता है—'मेरा तो कुछ भी नहीं है,' इस प्रकार वस्तु पर अपना अधिकार नहीं मान कर देता है।

वस्तुतः यहाँ दान के पीछे चार प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख परोक्ष-रूप से किया गया है—

(१) एक व्यक्ति के पास देने को बहुत है, परन्तु वह देता है—पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि या हजार देकर दस हजार गुना सम्मान पाने की आशा से। यह दान नहीं, एक प्रकार की सौदेबाजी है, विज्ञापनवृत्ति है जो दान की पवित्रता को समाप्त करती है।

(२) दूसरा व्यक्ति कुछ नहीं है, यह कहकर देता है, किन्तु देता है—स्वर्गप्राप्ति के लोभ से। उसकी धारणा यह है कि जो कुछ यहाँ दिया जाएगा उसका हजार गुना होकर स्वर्ग में मिलेगा।

(३) तीसरा व्यक्ति कुछ इसलिए देता है कि समाज में फैली हुई विषमता नष्ट हो।

(४) चौथे व्यक्ति की धारणा यह है कि 'सम्पत्ति मेरी थी ही कब ? संसार में आया जब कुछ नहीं था, जाऊँगा तब कुछ भी साथ नहीं जाएगा, फिर मैं अपना अधिकार क्यों मानूं ! तेरा तुझको देने में मेरा लगता ही क्या है ?'

इन चारों में पहले दो लोभी हैं—एक है कीर्ति का और दूसरा है स्वर्ग का। तीसरा भी देता है, पर सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व या अधिकार नहीं छोड़ता, किन्तु चौथा सम्पत्ति पर अपना अधिकार भी नहीं मानता।

बन्धुओ ! कर्मक्षय करने के लिए दान के पीछे चौथी वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए। भाग्य से आपके पास जो कुछ है, उस पर भी ममत्व मत रखिए, और दान देना है तो यह सोचकर दीजिए—मेरा तो इसमें कुछ भी नहीं है, जो है वह समाज का है।

"तेरा तुझको सोपते क्या जायेगा मेरा।"

समाज का धन, राष्ट्र की संपत्ति यदि उसी को सौप रहा हूं तो इसमें मेरा क्या महत्व है ? इतनी उदार और निष्काम वृत्ति से देना ही वास्तविक दान है।

इस प्रकार कर्मक्षय कर लेने पर भवपरम्परा समाप्त होगी। आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट होंगे, जिनसे उसका सौन्दर्य चमक उठेगा।

□

१७

शुद्ध-अशुद्ध क्रिया का मापदण्ड

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज मैं ऐसे पवित्र और प्रामाणिक जीवन के विषय में चर्चा करूंगा, जिसमें शुभ क्रिया के साथ शुभ निष्ठा होनी अनिवार्य है।

साधना या धर्मक्रिया के पीछे शुभनिष्ठा हो

कई लोग कहा करते हैं, हमें कार्य सिद्ध करने से मतलब है, उस कार्य के पीछे चाहे हमारे विचार कैसे भी हों। परन्तु जैनदर्शन इस बात से स्पष्ट इन्कार करता है कि आपका साध्य—कार्य तो शुभ हो, किन्तु उसके पीछे विचार भले ही अशुभ हों। सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप, भक्ति, नियम, त्याग-प्रत्याख्यान, व्रताचरण आदि किसी भी साधना के पीछे यदि निष्ठा या विचार शुभ नहीं है, तो भगवान् ने उस साधना को यथार्थ नहीं माना है। उदाहरण के तौर पर—सामायिक को ही ले लीजिए। आप जब सामायिक करते हैं, तब आपको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव शुद्धि का विचार करना अनिवार्य है। साथ ही सामायिक के ३२ दोषों से (१० मन के, १० वचन के और १२ काया के दोषों से) बचना भी अनिवार्य बताया है। सामायिक व्रत के पांच अतिचारों (दोषों) में भी आता है—

'सामाइयस्स सइ - अकरणयाए।
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए ॥

अर्थात्—'मैंने सामायिक ठीक ढंग से स्मृति रखकर न की हो। सामायिक अव्यवस्थित चित्त से की हो।'

इसी प्रकार पौषधव्रत की साधना के विषय में सावधान किया गया है—

पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया।

पौषधव्रत का सम्यक् रूप से पालन न किया हो।

इसी प्रकार तपश्चर्या के सम्बन्ध में भी दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा गया है —

न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
न परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥
न कित्ति-वन्न-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥

इहलौकिक फलाकांक्षावश तपश्चर्या न करे। न ही पारलौकिक फलाकांक्षापूर्वक तप करे और न कीर्ति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि आदि की दृष्टि से तप करे, किन्तु एकान्त निर्जरा (कर्मक्षय करके आत्मशुद्धि) के लिए ही तपश्चर्या करे।

जो बात तपस्या के लिए कही गई है, वही बात ज्ञानाचार आदि पांच प्रकार के आचार (धर्माचरण) के लिए कही गई है।

'नन्नत्थ आरहतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा'

आचार का पालन भी एकमात्र अर्हतरूप (वीतरागता) की प्राप्ति के उद्देश्य से करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि क्या साधु की और क्या श्रावक सभी की साधनाओं या अनुष्ठानों के पीछे उद्देश्य, विचार, निष्ठा, दृष्टि या श्रद्धा का शुद्ध होना आवश्यक है।

नन्दीसूत्र में जहाँ, मिथ्याश्रुत और सम्यक्श्रुत के कतिपय नामों का उल्लेख किया है, वहाँ बताया गया है कि जैसी दृष्टि होगी, तदनुसार वह श्रुत (शास्त्र) भी उसके लिए वैसा ही माना जाएगा। जैसे कि वहाँ मिथ्याश्रुत की परिगणना के बाद कहा गया है—

एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त परिग्गहियाइं सम्मसुयं।

ये ही मिथ्याश्रुत (जिनके नाम ऊपर गिना आए हैं) सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्रूप में ग्रहण करने के कारण सम्यक्श्रुत हैं। साथ ही वहाँ आचारांग आदि सम्यक्श्रुतों की परिगणना के बाद कहा गया है—

एआइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं

ये ही (आचारांग, भगवती आदि सम्यक्श्रुत) मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्या (विपरीत) रूप में ग्रहण करने के कारण मिथ्याश्रुत हैं।

इसी दृष्टि से इस चौदहवें अध्ययन में बाहुक अर्हतर्षि ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

जुत्तं अजुत्तं जोगं ण पमाणमिति बाहुकेण अरहता इसिणा वुइतं।

'युक्त (यथार्थ) बात भी अयुक्त योग (मन, वचन और काया) के साथ है तो वह प्रमाणरूप नहीं है; इस प्रकार श्री बाहुक अर्हतर्षि ने कहा।'

वस्तुतः प्रत्येक साधना के पीछे निष्ठा, दृष्टि, उद्देश्य, विचार या श्रद्धा अथवा वर्तमान युग की भाषा में कहें तो इरादे (Intention) का महत्व है, केवल क्रिया का नहीं।

क्रिया : कब शुद्ध कब अशुद्ध ?

कोई क्रिया शुभ है, किन्तु उसके पीछे अशुभ निष्ठा काम कर रही है तो वह क्रिया अपवित्र हो जाएगी। एक वैद्य है, वह किसी रुग्ण बहन का हाथ नब्ज देखने के लिए पकड़ता है; एक गुण्डा भी किसी स्त्री का हाथ कामवासना से प्रेरित होकर पकड़ता है। इन दोनों की क्रिया दीखने में समान है, किन्तु भाव या दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर है। इसीलिए दोनों के परिणाम (फल) में अन्तर है।

बिल्ली उन्हीं दांतों से अपने बच्चे को पकड़ती है और उन्हीं दांतों से एक चूहे को पकड़ती है, परन्तु पकड़ने की क्रिया एक होते हुए भी दोनों के पीछे भावों में अन्तर है। अपने बच्चे को वह वात्सल्यपूर्वक पकड़ती है; जबकि चूहे को जब पकड़ती है, तब वह अपने दांत तीखे कांटे की तरह गड़ा देती है।

एक कैदी जेल में भूखा रहता है, क्योंकि उसे बरबस भूखा रखा गया है, जबकि एक तपस्वी स्वेच्छा से उपवास करके भूखा रहता है। भूखे रहने की क्रिया में समानता होने पर भी दोनों के भावों में अन्तर होने से फल में अन्तर हो जाता है। एक डॉक्टर भी ऑपरेशन करते समय छुरी से रोगी के अंग की चीर-फाड़ करता है और एक हत्यारा भी किसी किसी के अंग में छुरी घुसेड़कर उस अंग को चीर या फाड़ डालता है। छुरी अंग में घुसेड़ कर उसे चीरने-फाड़ने की क्रिया एक सरीखी होते हुए भी दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर होने से दोनों के फल में रात-दिन का अन्तर है।

मान लो, तीन बहनें रसोई बनाने की क्रिया कर रही हैं। एक बहन चाहती है कि मैं ऐसी रसोई बनाऊँ जिससे घर के तथा पड़ौसी मुझे चतुर और सुघड़ नारी कहें, मेरी प्रशंसा करें। इस बहन का प्रशंसा-प्राप्ति का दृष्टिकोण है।

दूसरी बहन रसोई बनाती है—बेगार समझकर। उस पर रसोई बनाने का काम आ पड़ा। इसलिए जैसी-तैसी रसोई बनाकर छुट्टी पाना चाहती है। इस बहन का दृष्टिकोण रसोई की क्रिया को बोझरूप समझकर करने का है।

तीसरी बहन रसोई इस दृष्टिकोण से बनाती है कि इस भोजन को पाकर मेरे समस्त कुटुम्बीजन स्वस्थ और सशक्त रहें, साथ ही इस भोजन में से अतिथि, अभ्यागत एवं साधु-साध्वी को भी देने का लाभ प्राप्त हो।

रसोई की क्रिया तीनों बहनों की एक होते हुए भी तीनों के दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर होने से इनके फल में भी अन्तर आना स्पष्ट है। पहली दो बहनों की रसोई की क्रिया की अपेक्षा तीसरी बहन की रसोई बनाने की क्रिया में आरम्भ होते हुए भी पुण्यलाभ या धर्मलाभ का पलड़ा भारी है।

निष्कर्ष यह है कि क्रिया शुद्ध होने पर भी अगर उसके पीछे विचार-धारा अशुद्ध है तो सारी क्रिया अशुद्ध हो जाएगी।

त्याग और प्रत्याख्यान की क्रिया शुद्ध होते हुए भी अगर उस त्याग या प्रत्याख्यान के पीछे अशुद्ध उद्देश्य है तो वह त्याग दुस्त्याग और वह प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान समझा जाता है। भगवान् महावीर ने गौतम गण-धर से इस विषय में स्पष्ट कहा है। भगवतीसूत्र इस बात का साक्षी है। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति क्रोध के आवेश में या गृहकलह से तंग आकर आमरण आहार का प्रत्याख्यान करने को तत्पर होता है। दूसरा साधक शरीर से धर्मपालन करने में बिल्कुल अशक्त, दुर्बल और असमर्थ होने पर समाधिभाव से स्वेच्छा से आजीवन आहार का प्रत्याख्यान करने को तत्पर होता है। भगवान् कहते हैं कि पहले व्यक्ति का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है और दूसरे व्यक्ति का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।

पक्षियों को दाना डालना करुणा-प्रेरित कार्य माना जाता है। एक बहेलिया (शिकारी) भी दाने बिखेरता है, किन्तु उसके पीछे उसकी भावना अशुद्ध है, पक्षियों को जाल में फंसाने की है। अतः अन्नदान की शुभ क्रिया भी पुण्यजनक न होकर पापजनक (पापकर्म-बन्धक) हो जाती है।

इस बात को दृष्टिगत रखकर अर्हतर्षि बाहुक कहते हैं शुद्ध (युक्त) क्रिया भी अनुचित भाव के साथ है, तो वह यथार्थ एवं प्रामाणिक नहीं है।

क्रिया एक : स्थितिभेदवश परिणाम अनेक

इसी बात को दूसरे पहलू से अर्हतर्षि बाहुक कहते हैं—

अप्पाणिया खलु भो अप्पाणं समुक्कसिया ण भवति बद्धचिधे णरवती।
अप्पणिया खलु भो य अप्पाणं समुक्कसिय भवति बद्धचिधे सेट्ठी।

अर्थात्—अपने आपको स्वयं द्वारा कसकर राजा बद्धचिह्न (फटा हुआ अथवा वन्द लगा हुआ वस्त्र) नहीं कहलाता, जबकि एक सेठ अपने आपको स्वयं द्वारा कसने पर बद्धचिन्ह कहलाता है।

इसका आशय यह है कि एक सम्राट् यदि फटा हुआ वस्त्र पहनता है, तो भी फटेहाल नहीं कहलाता, बल्कि इस कार्य के लिए उसकी सादगी का बखान और आदर किया जाता है; जबकि एक सामान्य गृहस्थ फटा हुआ वस्त्र पहने तो वह फटेहाल कहा जाता है। दूसरी ओर, एक लक्षाधिपति यदि अधिक बोलता है तो वह वाचाल नहीं, किन्तु सम्भाषण में उदार समझा जाता है; जबकि एक निर्धन किसी उचित बात को भी स्पष्ट करने के लिए अधिक बोलता है तो वाचाल या बातूनी समझा जाता है। वस्तुतः क्रिया एक होने पर भी परिस्थिति-भेद या पात्रभेद के कारण उसके परिणाम में अथवा लोकबोध में अन्तर आ जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो—एक व्यक्ति एक कार्य करता है, तो उसका परिणाम ठीक आता है, जबकि दूसरा व्यक्ति वही काम करता है तो उसका परिणाम विपरीत आता है। जैसे कि लोक में एक कहावत है—

गृहस्थ के पास पैसा न हो तो वह कौड़ी का है,
साधु के पास पैसा हो तो वह भी कौड़ी का है।

यहाँ पात्रभेद से क्रिया का परिणाम विपरीत है। एक क्षत्रिय योद्धा है, उसके हाथ में शस्त्र हो तो वह वीर समझा जाता है; जबकि वे ही शस्त्र साधु के हाथ में हों तो वह कायर और असाधु समझा जाता है। इसी प्रकार किसी योग्य व्यक्ति के पास उसके लिए उपयुक्त चिह्न या आभूषण न हों तो भी वह योग्य समझा जाता है; जबकि किसी अयोग्य को वे ही चिह्न या आभूषण पहना दिए जाएँ तो वह योग्य नहीं समझा जाता है। जैसे—एक राजा राजचिन्हों से युक्त न हो तो भी पहचानने वाले उसे राजा ही कहते- समझते हैं, जबकि राजा के नौकर को राजा का वेश पहना कर राजचिन्ह धारण करा दिये जाएँ तो भी लोग उसे राजा नहीं समझते। एक सेठ, भले ही सर्वमान्य हो, परन्तु वह अपने वेश में ही उचित है, अगर उसे राजा या फकीर का वेश पहना दिया जाए तो वह राजा या फकीर नहीं माना जा सकता। अतः सेठ को स्ववेश में ही अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने की आवश्यकता है।

सौराष्ट्र के एक कस्बे में देवचन्द भाई नाम का एक व्यापारी रहता था। वह उस कस्बे का महाजन (सेठ) कहलाता था। उस कस्बे के सभी लोगों का वह माननीय और आदरणीय व्यक्ति था। आधी रात को भी किसी पर कोई संकट आता या पैसे की या किसी आवश्यक वस्तु की जरूरत होती तो देवचन्दभाई उसे मदद करता था। देवचन्दभाई महाजन पद की बहुत बड़ी जिम्मेवारी समझता था।

एक बार उस गाँव के बाहर एक कुँए से पानी भरने के लिए एक हरिजन महिला गई। पानी भरते समय अकस्मात् उसका पैर फिसल गया और वह कुँए में गिर गई। कुँए पर कुछ युवक खड़े थे, वे तैराक भी थे। कुछ लोगों ने उनसे कहा भी कि 'यह बाई कुँए में गिर पड़ी है, तुम तैर सकते हो, तो इसमें कूद पर इसे बाहर निकाल दो न!' परन्तु वहाँ खड़े हुए सभी युवकों ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए कहा—'हें हें! हम कैसे निकालें इस महिला को? यह अछूत है, इसे छूने से हमारा धर्म भ्रष्ट हो जायेगा। हम इस कार्य को नहीं कर सकते।' इतने में किसी ने उस हरिजन महिला के पति को खबर दी कि तुम्हारी पत्नी कुंए में गिर गई है। वह बेचारा दौड़ा-दौड़ा आया। उसे तैरना नहीं आता था। इसलिए उसने कुँए पर खड़े उन युवकों से कहा तो उन्होंने इन्कार के रूप में वही उत्तर दिया। तब उस हरिजन महिला का पति घबराया हुआ-सा भागा-भागा देवचन्दभाई महाजन के पास गया और गिड़गिड़ा कर कहने लगा—'देवाभा! मेरी पत्नी कुँए में गिर गई है। किसी तरह आप उसे निकाल दें, बड़ी कृपा होगी।'

देवचन्दभाई के सामने अपने महाजन-पद की जिम्मेवारी का तथा मानवता का प्रश्न था। इसलिए उन्होंने इन्कार न करके तुरन्त आश्वासन देते हुए हरिजन से कहा—"घबरा मत। मैं तुरन्त आता हूँ।" सेठ जिन कपड़ों में था, उन्हीं साधारण कपड़ों में कुँए पर आया। साथ में एक बड़ा मजबूत रस्सा ले आया। पहले तो सेठ ने अपनी कमर के चारों ओर रस्सा बाँधा और फिर उसका सिरा मजबूती से थामने को अपने कुछ लोगों से कहा। सेठ जब कुंए में उतरने को तैयार हुआ तो वहाँ जो युवक पहले उपेक्षा करके खड़े थे, उनके हृदय में राम जागा। उन्होंने महाजन को कुँए में उतरने से इन्कार करते हुए कहा—'सेठजी, रहने दीजिए। हम तुरन्त उस बाई को बाहर निकाल कर ले आते हैं।' एक साथ तीन-चार युवक कुंए में कूदे और बहुत फुर्ती से उस बाई को कुंए से बाहर निकाल लाये। वह काफी पानी पी गई थी, इसलिए उसके शरीर से पानी निकाल कर

होश में लाए। सेठ ने कुछ आवश्यक दवाइयाँ दीं, जिससे वह थोड़ी ही देर में स्वस्थ हो गई। सभी लोगों के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। वह हरिजन पति तो देवचन्दभाई का बहुत आभार मान कर उसके चरणों में गिर पड़ा। इतने में कुछ संभ्रान्त व्यक्ति भी वहा आ गये। उन्होंने देवचन्दभाई की कर्त्तव्यपरायणता और मानवता की प्रशंसा करते हुए पूछा—"सेठ! आप स्वयं तैरना तो जानते नहीं थे, फिर इस कुंए में कूदकर बाई को कैसे बचाते ?"

देवचन्दभाई ने बहुत ही नम्र शब्दों में उत्तर दिया– भाइयो ! यद्यपि मैं तैरना नहीं जानता था, परन्तु अपने महाजन पद के अनुरूप एक संकट-ग्रस्त व्यक्ति का संकट दूर करना मेरा उत्तरदायित्व एवं मानवता के नाते कर्त्तव्य हो जाता है। मैं बारहों महीने महाजन की मोटी पगड़ी बाँधे फिरूँ, इसमें मेरे पद की सार्थकता क्या है ? अतएव मैंने तैरना न जानते हुए भी अपनी कमर से बड़ा रस्सा बाँधकर बाई को बाहर निकालने का बीड़ा उठा लिया था। इन युवकों ने मुझे रोक दिया। वरना मैं तो अपने कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन करता। फिर भी मुझे सन्तोष है, अपने पद के दायित्व को निभाने का।

यह है—वेश और पद के अनुरूप कर्त्तव्य-पालन करके अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने का ज्वलन्त उदाहरण ! देवचन्द सेठ के सिर पर उस समय पगड़ी या अन्य वेष नहीं था, फिर भी वे अपने दायित्व एवं कर्त्तव्य का पालन करने के कारण लोगों के और अधिक सम्माननीय एवं आदरणीय बन गये।

स्थानविशेष के कारण योग्य क्रिया भी अयोग्य

कभी-कभी ऐसा देखा भी जाता है कि जो क्रिया एक स्थान में योग्य रहती है, वही क्रिया किसी अन्य स्थान पर अयोग्य भी हो जाती है। जैसे—एक जैन श्रावक है। वह सुबह-सुबह ग्वाले के यहाँ से लोटे में दूध लेकर जा रहा है। तभी वहाँ के नामी कलवार (मद्य विक्रेता) ने उक्त श्रावक को आवश्यक परामर्श के लिए दूकान पर बिठा लिया। सेठ ने कहा—'मुझे धारोष्ण दूध पीना है। देर हो जाने से दूध खराब हो जायेगा। मैं यहीं अभी दूध पी लेता हूं, फिर तुमसे बात करूँगा।" यों कहकर उक्त श्रावक ने वहीं दूध पी लिया। जिस समय श्रावक दूध पी रहा था, उस समय उसके कुछ परिचित श्रावकों ने उसे देख लिया। कलवार के यहाँ बैठकर दूध पीने के कारण भी लोगों के मन में शंका बैठ गई कि यह श्रावक शराब पीता है। अभी-अभी हमने देखा है ! लोग श्रावक की निन्दा और भर्त्सना करने लगे।

श्रावक के द्वारा स्पष्टीकरण करने पर भी लोगों के दिमाग से वह बात निकली नहीं। इसीलिए अर्हतर्षि बाहुक ने कहा - युक्त क्रिया भी अयोग्य स्थान में होती है तो वह यथार्थ प्रमाणभूत नहीं मानी जाती।

साधना कब पवित्र : कब अपवित्र

अब एक अन्य पहलू से इसी तथ्य (अनुयोग) को समझाते हुए कहते हैं—

'... **भो समणा माहणा ! गामे अदुवा रण्णे, अदुवा गामेणोऽवि रण्णे, अभिणिस्सिए इमं लोगं, परलोगं पणिस्सए, दुहओ वि लोगे अणट्ठिते।**"

अर्थात् ग्राम में या अरण्य में अथवा ग्राम और अरण्य के मध्य में रहते हुए श्रमण और ब्राह्मण इस लोक के लिए अभिनिःसृत हैं और परलोक में प्रनिःसृत हैं, तो वे दोनों लोकों में अप्रतिष्ठित होते हैं, (क्योंकि दोनों ही लोक अशाश्वत हैं।)

इसका भावार्थ यह है कि श्रमण और ब्राह्मण कभी गाँव में रहते हैं, तो कभी वन में जाकर साधना करते हैं और कभी इच्छा हुई तो गाँव और वन के बीच में भी साधना करते हैं। साधक कहीं भी रहे, उसका लक्ष्य साध्य में रहना चाहिए। साध्य में लक्ष्य रखेगा, तो वह स्वयं (साधक) भी शुद्ध होगा, साधन भी शुद्ध होगा, तभी वह साधना (क्रिया) लक्ष्यमुखी एवं शुद्ध (पवित्र) रहेगी। अगर साधक इहलोक सम्बन्धी या परलोक सम्बन्धी नामना-कामनाओं या वासनाओं के आश्रित होकर साधना करता है तो साधना पवित्र होते हुए भी अशाश्वत उभयलौकिक भौतिक कामनाओं—भोगवांछाओं से दूषित एवं अपवित्र हो जाती है, अतएव उसका परिणाम भी अच्छा और आत्ममुक्तिपरक नहीं आता। साधक की वह पवित्र साधना भी कामनामूलक दूषित साधन के कारण अशुद्ध, निरुद्देश्य और लक्ष्यभ्रष्ट हो जाती है।

भगवान् महावीर ने भी दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
न कित्तिवन्न सद्द सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा॥

"कोई भी साधक इहलौकिक कामनावश होकर आचार-पालन न करे, न ही वह परलोक की वासना को लक्ष्य में रखकर आचार-पालन करे,

और न कीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि या प्रशस्ति आदि कामनाओं के वश आचार-पालन करे, किन्तु आर्हता (वीतरागता)—प्राप्ति के उद्देश्य से ही आचार-पालन करे।"

अकाम और निष्काम साधना से फल में अन्तर

नामना-कामनायुक्त योग युक्तयोगियों का अयुक्तयोग है। इस तथ्य को अर्हतर्षि बाहुक अपने ही उदाहरण द्वारा सिद्ध करते हैं—

"अकामए बाहुए मतेति अकामए चरए तवं अकामए कालगए नरयं पत्ते। अकामए पव्वइए, अकामते चरते तवं, अकामते कालगते सिद्धि पत्तो अकामए।"

अर्थात्—पहले कामनारहित (अकामक) बाहुक ने अकाम तप किया। अकाम-मरण से मर कर (पूर्व कर्मवश) नरक में गया। (वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके मनुष्य लोक में जन्म लेकर) निष्काम (अकाम) दीक्षा ग्रहण की। फिर निष्काम तपश्चरण किया। इस प्रकार सर्वत्र निष्काम साधना करके कालधर्म प्राप्त होने पर (जन्मजरामृत्युरहित) निष्काम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करेगा।

शब्द एक : भावनाभेद से अर्थ में अन्तर

प्रस्तुत अर्हतर्षि बाहुक के आत्म-कथन में 'अकाम' साधना शब्द एक ही है, किन्तु उसी को एक स्थान पर नरक-प्राप्ति का हेतु बताया गया है, दूसरे स्थान पर उसी अकाम-साधना को मुक्ति का कारण बतलाया गया है। इस अन्तर के पीछे मुख्य कारण है—भावना, दृष्टि अथवा उद्देश्य का अन्तर।

जिस आत्मा को विवेक-दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है, जिसे अपने साध्य का बोध नहीं है, जहाँ आत्मा अन्तःप्रेरणा के बिना किसी बाहरी दबाव-विशेष से प्रेरित होकर निरुद्देश्य तप आदि साधना करता है, उसे जैन परिभाषा में 'अकाम निर्जरा' कहा गया है। ऐसी अकाम-साधना आत्मा को लक्ष्य पर नहीं पहुंचा सकती। जैसे कि भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
कामेव पत्थमाणा, अकामा जंति दोग्गइं॥

काम-भोग शल्य हैं, ये विष हैं तथा आशीविष सर्प के समान हैं। जो काम भोगों की अभिलाषा करते हैं, वे अकाम-मृत्यु से मर कर दुर्गति में जाते हैं।

लक्ष्यहीन साधना, अकाम-निर्जरा की हेतु है, वह कभी नरक का हेतु भी हो सकती है। 'अकाम' का दूसरा अर्थ होता है—निष्काम = कामना रहित; फलासक्तिरहित निष्काम साधना। जिसमें न इहलौकिक कामना-वासना हो और न पारलौकिक कामना-वासना हो। अथवा जिस साधना के पीछे न तो स्वर्ग के रंगीन सुख की कामना हो और न ही नरक की आग से बचने की आकांक्षा हो। ऐसा निष्काम तपश्चरण मोक्ष का हेतु होता है। अकाम का पहला रूप जैन-परम्परा में अधिक प्रचलित है, जबकि दूसरा रूप भगवद् गीता में निष्काम कर्मयोग के रूप में प्रचलित है।

सकाम शब्द भी दो अर्थों में

जैन दृष्टि में निष्काम के बदले सकाम शब्द अधिक व्यवहृत हुआ है। अतः अर्हतर्षि बाहुक 'सकाम' साधना का माहात्म्य और द्विविध परिणाम बताते हुए कहते हैं—

"सकामए पव्वइए, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते णरगं पत्ते। सकामए चरते तवं, सकामए कालगते सिद्धि पत्ते सकामए।"

—जो साधक कामनाओं के साथ प्रव्रजित हुआ है, और कामनायुक्त तपश्चरण करता है; वह सकाम—कामनायुक्त मृत्यु प्राप्त करके नरक को जाता है। दूसरी ओर, सकाम (स्वकाम—स्वेच्छा से) तपश्चरण करता है, सकाम (इच्छित अन्तिम समाधि) मरण प्राप्त करके आत्मा सकामक (अभीष्ट) सिद्धि स्थिति को प्राप्त करता है।

'अकाम' शब्द की तरह 'सकाम' शब्द का भी दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। पहले प्रयुक्त 'सकाम' का भावार्थ है—जिस साधक के मन में विविध इहलौकिक-पारलौकिक कामनाओं का जाल बिछा हुआ है। उन्हीं कामनाओं और सुखभोग की सामग्री को सहस्रगुणित रूप में पाने के लिए जो साधना करता है, उसकी वह वासना की ज्वाला कभी नरक की ज्वाला के रूप में भी परिणत हो सकती है।

सकाम तप का दूसरा अर्थ है—स्वेच्छा से, सदुद्देश्य से, लक्ष्य प्राप्ति के लिए किया गया तप, जिसमें बाहरी दबाव, नरक का भय या स्वर्ग का प्रलोभन आदि न हो। परिस्थिति से या पराधीनता से विवश होकर भूखा

रहना सकाम तप नहीं, जैन दृष्टि से अकाम तप है। किन्तु जिस तप आदि साधना के पीछे विवेक की मशाल जल रही है, साधक के रग-रग में तप की प्रेरणा है, ऐसा तप स्वेच्छाकृत आत्मसाधना का, अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति का या साध्यसिद्धि का कारण बन सकता है।

निष्कर्ष यह है कि सकाम और अकाम दोनों ही साधनाएँ मोक्षहेतुक हो सकती है, बशर्ते कि उनके पीछे सदुद्देश्य हो, अन्यथा दोनों ही नरकहेतु हैं। अतः क्रिया का बाह्य रूप अन्तःशुद्धि का मापदण्ड नहीं हो सकता। शुद्ध अन्तर्भावना ही शुद्ध क्रिया का मापदण्ड है।

❑

१८

दुःखदायी सुखों से सावधान

संसार में प्रायः सभी लोग दुःखी हैं। जो सुखी दिखाई देते हैं, वे अन्दर से दुःखी हैं, अथवा सुख में पागल होकर भविष्य के लिए दुःख के बीज बो रहे हैं, अथवा जो दुःखी हैं, वे अज्ञानवश दुष्कर्मफल समभाव से न सहन कर सकने के कारण पुनः-पुनः दुःख के बीजरूप दुष्कर्मबन्ध कर रहे हैं। इस प्रकार संसार में जहाँ देखो वहीं दुःख की घटमाल चल रही है। इस दुःख की परम्परा को कभी समाप्त भी किया जा सकता है अथवा नहीं? यदि समाप्त किया जा सकता है तो कैसे? इस प्रकार जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों को उठाते हुए पन्द्रहवें अध्ययन में मधुराज अर्हतर्षि कहते हैं। प्रश्नोत्तर का भावार्थ इस प्रकार है —

प्रश्न—शात (साता) दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा करती है या अशात (असाता) दुःख से अभिभूत दुःखी आत्मा दुःख की उदीरणा करती है?

उत्तर—शातदुःख और अशातदुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा नहीं करती, किन्तु शातदुःख से अभिभूत आत्माएँ दुःख की उदीरणा करती हैं तथा अशातदुःख से अभिभूत दुःखी आत्माएँ दुःख की उदीरणा करती हैं।

शातदुःख और अशातदुःख से तात्पर्य

प्रश्न होता है कि शात-दुःख और अशात-दुःख का क्या अर्थ है? ये दुःख किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? शात या सात शब्द सुख के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैनजगत में 'साता' शब्द बहुत ही प्रचलित है—सुख के अर्थ में। सातावेदनीय और असातावेदनीय नामक वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। उनका अर्थ भी क्रमशः सुख और दुःख है। शात या सात (सुख) से उत्पन्न दुःख तब पैदा होता है, जब व्यक्ति अत्यधिक सुख-सामग्री या वैभव या वैषयिक सुख के उन्माद में पागल होता है, वह विषय-सुखों में इतना आसक्त एवं

मुग्ध हो जाता है कि उसे अगर कोई उन सुखों को छोड़ने को कहे तो उसे बड़ा दुःख होता है। अथवा विषय-सुख जब बरबस छूटने लगते हैं, तब मनुष्य दुःखी होकर रोता-कलपता है, झूरने लगता है, हाय-तौबा मचाने लगता है, विलाप करता है। इस प्रकार के सब सुख 'दुःख-बीज' सुख हैं। ये सुख तो हैं, परन्तु प्राप्त होने पर भी इनके रक्षण की चिन्ता में मनुष्य दुःखी होता है, पहले तो इनके उपार्जन के लिए मनुष्य व्याकुल, दुःखी और संतप्त होता है। दूसरों को सुखी देखकर स्वयं ईर्ष्या के मारे जलता है, कुढ़ता है, दूसरे का सुख उससे देखा नहीं जाता। उसे तथाकथित सुख प्राप्त होने पर भी वह अपने से अधिक सुखी को देखकर मन ही मन बेचैन होता रहता है, अधिक सुख पाने के लिए। प्राप्त सुख पर उसकी इतनी अधिक आसक्ति हो जाती है कि उस सुख में जरा सी कमी आ जाती है तो वह उदास हो जाता है, खिन्न-चित्त होकर चिल्लाता है।

जिस प्रकार अफीम का नशेबाज आदमी किसी दिन अफीम न मिलने पर या कम मिलने पर बेचैन हो जाता है, अपने पारिवारिकजनों या सेवकों पर क्रुद्ध होता है, उन्हें कोसता है, तड़पता है, आखिरकार उतनी मात्रा में अफीम मिलने पर ही शान्त होता है; उसी प्रकार सुख का नशेबाज भी स्वकल्पित सुख-सामग्री न मिलने पर अपने सम्बन्धियों या नौकरों आदि पर बरस पड़ता है, उन्हें भला-बुरा कहता है। अथवा बुढ़ापा, बीमारी अशक्ति या अंगविकलता, इन्द्रिय-विकलता, पागलपन, बुद्धिमन्दता आदि आने पर जब मनुष्य तथाकथित सुख का उपभोग नहीं कर पाता, तब मन ही मन अत्यन्त दुःखी होता है, मन मसोस कर रह जाता है, अथवा उस कल्पित सुखवर्द्धक सजीव या अजीव पदार्थ का वियोग होने पर व्यय हो जाने पर या उसके कहीं दूर हो जाने या चले जाने पर मनुष्य विलाप करने लगता है। शोक और संताप से अभिभूत होकर वह गहरे दुःखसागर में डूब जाता है। सुख पर आसक्ति के कारण नाना अशुभकर्मों – मोहकर्मों का बन्धन होता है, जो भविष्य में घोर दुःख के जनक हैं। ये और इस प्रकार सभी सुख दुःखोत्पादक हैं। ये दुःखबीज सुख हैं।

रावण और दुर्योधन आदि के पास प्रचुर वैषयिक सुख थे। वे रात-दिन उन सुखों में पागल थे, आसक्त थे और उन सुखों के अर्जित करने में, अर्जित होने पर, अर्जित की रक्षा करने में, उनके व्यय या वियोग होने पर

अत्यन्त दु:खी थे। यही कारण है कि सुख की समस्त सामग्री होते हुए भी वे अन्तर् से दु:खी थे। उनके सुख ही दु:खों को साथ में चिपकाए हुए थे।

आठ प्रकार के सुख

इससे पूर्व हम उन सुखों का ही विश्लेषण कर ले तो ठीक रहेगा, जो पदार्थ-जनित हैं या कामनाजनित हैं, अथवा विषयजनित हैं। ऐसे सुख आठ प्रकार के होते हैं।

(१) ज्ञानानन्द, (२) प्रेमानन्द, (३) जीवनानन्द, (४) विनोदानन्द, (५) स्वतंत्रतानन्द, (६) विषयानन्द, (७) महत्त्वानन्द और (८) रौद्रानन्द।

ज्ञानानन्द— वैसे तो सम्यक्‌दृष्टि के लिए ज्ञान जीवन का प्रमुख आनन्द है। परन्तु मिथ्यादृष्टि या अज्ञानो वैसा ज्ञान प्राप्त करने में आनन्द मानता है, जिसे पाकर दूसरों को ठग सके, दूसरों पर जबरन शासन करके उन्हें डरा-सता सके, दूसरों पर कहर बरसा सके अथवा मंत्र-तंत्र, जादू-टोना आदि का ज्ञान करके दूसरों को प्रभावित करके उनसे धन खींच सके। ऐसा ज्ञानानन्द सुख रूप होते हुए भी दु:ख के बीज बोने वाला है।

दूसरा **प्रेमानन्द** है। मनुष्य को जब माता-पिता या गुरुजनों आदि का प्रेम मिलता है, तो मन में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु यही सुखानुभूति तब दु:ख रूप हो जाती है, जब प्रेम संकुचित स्वार्थ, धोखादेही, वंचना या कलह का रूप ले लेता है, या वह प्रेमपात्र से मिलना बन्द हो जाता है। अथवा वह प्रेम विकृत रूप लेकर किसी पतिव्रता, परस्त्री या युवती को अपने मोह जाल में फँसाने का कारण बनता है, तब दु:खरूप हो जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के कामुक प्रेम में पागल व्यक्तियों को भारी संकट उठाना पड़ता है; प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। ऐसा प्रेम कल्पित सुखरूप होते हुए भी अनेक दु:खों को लेकर आता है।

तीसरा **जीवनानन्द** है, जो जीवन के लिए उपभोग्य वस्तुओं के मिलने से प्राप्त होता है। परन्तु यह सुख भी तब दु:खरूप हो जाता है, जब इसमें अन्य सम्बन्धित लोगों के प्रति अनुदारता, संकीर्ण स्वार्थवृत्ति, ईर्ष्या, छल-कपट, अन्तरायवृत्ति आ जाती है। तब परस्पर संघर्ष, तूतू-मैंमैं और कलह होता है। कई बार वर्षों तक वैर-विरोध चलता है। ऐसी स्थिति में वह जीवनानन्द भी दु:खरूप बन जाता है।

चौथा **विनोदानन्द** मनोरंजन, प्रसन्नता, खेलकूद, विनोद, हास-प्रहास, नाटक, सिनेमा आदि का प्रेक्षण वगैरह से जो आनन्द होता है, उसे विनोदा-

नन्द कहते हैं। परन्तु वह विनोदानन्द भी तब दुःखरूप हो जाता है, जब हँसी-मजाक लड़ाई और द्वेष का रूप धारण कर लेती है अथवा किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग हो जाता है, अथवा जुए आदि के खेल में अत्यधिक हार होकर धनहानि हो जाती है, अथवा शिकार आदि करके अपने जरा-से सुख के लिए या मनोरंजन के लिए अनेक निर्दोष प्राणियों को मौत के घाट उतार दिया जाता है। ये और ऐसे सभी विनोदानन्द दुःख के बीज बोने वाले हैं।

पाँचवाँ **स्वतन्त्रतानन्द** है। किसी बन्धन से, परतंत्रता से, अथवा किसी के नियंत्रण से छूटना स्वतन्त्रता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता से मनुष्य को जो सुख मिलता है, वह स्वतन्त्रतानन्द है। परन्तु कई बार मनुष्य स्वतंत्रता के बदले स्वच्छन्दता को अपना कर अपना पतन कर लेता है, किसी के नैतिक नियंत्रण में रहना पसन्द नहीं करता, समाज के नियमों के विरुद्ध चलता है; शराब, मांसाहार, परस्त्रीगमन आदि व्यसनों का शिकार बन जाता है, तब उसका वह सुख परिवार, समाज, एवं राज्य के कठोर दण्ड से, बेइज्जती, बदनामी आदि के कारण दुःखरूप बन जाता है। समाज एवं परिवार के असहयोग का दुःख भी उठाना पड़ता है। स्वच्छन्दता के कारण चोरी, हत्या, डकैती, गुण्डागर्दी आदि के कारण समाज एवं राष्ट्र के लिए वह कांटा बन जाता है, उसे उखाड़ने का प्रयत्न होता है, तब उसकी तथाकथित स्वतंत्रता अनेक दुःखों को न्यौता देने वाली बन जाती है।

छठा है—**विषयानन्द**; यह भी इन्द्रियविषयों के अतिभोग के कारण इष्ट विषयों के वियोग और अनिष्ट विषयों के संयोग के कारण रोग, शोक, दैन्य आदि दुःखों को आमंत्रण देने वाला बन जाता है।

सातवाँ **महत्त्वानन्द** है, मनुष्य के मन में उठने वाले सम्मान, प्रतिष्ठा, पद, अधिकार, यशकीर्ति आदि की भूख शान्त होने पर जो सुखानुभव होता है, उसे महत्त्वानन्द कहते हैं। परन्तु यह महत्त्वानन्द पद-प्रतिष्ठा आदि के छिन जाने, अपमान, अपयश आदि होने पर दुःखरूप बन जाता है।

आठवाँ **रौद्रानन्द** है; हत्या, हिंसा, बलि, आगजनी, लूटपाट, डकैती चोरी आदि क्रूर एवं रौद्र (भयंकर) कुकृत्य करने में जो सुख मिलता है, उसे रौद्रानन्द कहते हैं। रौद्रानन्द को दूसरे शब्दों में क्रूरानन्द या पापानन्द कह सकते हैं। निरपराध व्यक्तियों को, निरीह मानवों, पशु-पक्षियों पर बरसाई जाने वाली क्रूरता या निर्दयतापूर्वक मारे-पीटे जाने को देखकर मन में जो आनन्दानुभव होता है, वह रौद्रानन्द है। जानवरों को लड़ाना, उनकी बलि

देना, मनुष्य को क्रूरतापूर्वक मरवाना, घोर कर्मबन्ध का कारण होने से भविष्य में अनेक दु:खों को निमंत्रण देने वाला है। जैसे—रोम जब जल रहा था, तब 'नीरो' फीडल बजाकर खुशी में पागल हो रहा था।

ये आठों ही प्रकार के आनन्द दु:खरूप भी हो जाते हैं, इसलिए ये प्राय: दु:खबीज सुख हैं।

प्रश्न का तात्पर्य और विश्लेषण

अर्हतर्षि मधुराज सर्वप्रथम यही प्रश्न उठाते हैं कि सात-दु:ख (दु:ख-बीज सुख) से अभिभूत (पीड़ित) आत्मा दु:ख की उदीरणा करता है या नहीं ? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि सुख से उत्पन्न होने वाले दु:ख से दु:खी आत्मा दूसरे दु:ख को निमंत्रण देती है या नहीं ? पहले बताये हुए आठों ही प्रकार के सुख दु:ख से घुले-मिले हो जाते हैं, ऐसे एक नहीं अनेक व्यक्ति नाना दु:खों को निमंत्रण देते हैं। अर्हतर्षि ने बहुवचन में इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से आप समझ गये होंगे कि सुख में आसक्त, प्रमत्त एवं उन्मत्त व्यक्ति अपने लिए कितने कितने दु:खों के बीज बो देते हैं, जिनको भोगना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसे लोग परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के लिए भी दु:खदायी बन जाते हैं।

अब दूसरा प्रश्न है—असात-दु:ख से अभिभूत आत्मा दु:ख की उदीरणा करता है ? वस्तुत: असातारूप दु:ख का उदय होने पर व्यक्ति धैर्य खो बैठता है, वह उस समय अपनी आत्मालोचना, आत्मनिन्दना (पश्चात्ताप) गर्हणा, प्रतिक्रमण आदि नहीं करता। प्राय: अज्ञानी व्यक्ति ऐसे समय में निमित्तों पर आक्रोश करने लगता है। अतएव वह अकेला ही नहीं, अनेकों लोग उस दु:ख के साथ दूसरे अनेक दु:खों को निमंत्रण देते हैं। दु:खग्रस्त व्यक्ति अपने दु:ख से तो दु:खी होते ही हैं, वे और लोगों को, खासकर अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र को भी दु:खी कर देते हैं।

एक बार एक व्यक्ति जिस सरकारी महकमे में क्लर्क था, वहाँ उसकी गलती पर उसके ऑफीसर ने डाँटा, तथा नौकरी से खारिज कर देने की धमकी भी दी। इस प्रकार के भयंकर अपमान के दु:ख से उसके मन को भयंकर आघात लगा। घर आया। वहाँ पत्नी ने चाय बनाने में जरा-सी देर कर दी, इस पर उसे पीट डाला और भन्नाता हुआ घर से बाहर निकल गया। इधर उसकी पत्नी का भी दिमाग गर्म हो गया था। वह भी पति के द्वारा जरा-सी बात पर मार-पीट के कारण दु:खी थी। शाम को

जब दोनों लड़के स्कूल से घर पर देर से आये तो वह उन पर बरस पड़ी। दोनों बच्चों के एक-एक चपत लगा दी। बच्चे भी माँ के द्वारा पीटे जाने से दुःखी हुए। घर में रोना-चीखना और अशान्ति छा गई।

बन्धुओ! इस प्रकार एक व्यक्ति का दुःख अनेकों व्यक्तियों को दुःख देने का कारण बन जाता है।

दुःख-आगमन के तीन द्वार

दुःख भी तीन प्रकार का होता है—१. स्वकृत २. परकृत और ३ प्राकृतिक। स्वकृत दुःख वे हैं, जो अपने अज्ञान, मूर्खता, मूढ़ता मोह, आसक्ति, तृष्णा, ईर्ष्या, घमंड, क्रोध, घृणा, छल आदि के कारण होते हैं।

दूसरे परकृत दुःख हैं, जो दूसरे प्राणियों द्वारा मनुष्य को दिये जाते हैं। दूसरे मनुष्यों के द्वारा चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात, कृतघ्नता, हिंसा, झूठ, ठगी, बेईमानी, स्वार्थपरता आदि के द्वारा जो दुःख व्यक्ति या व्यक्तियों को मिलता है, वे परकृत दुःख की कोटि में हैं। निर्बल पर सबलों द्वारा अन्याय, अत्याचार, युद्ध, कलह, बदनामी आदि से नाना दुःख मिलते हैं, वे भी परकृत हैं। ये दुःख कभी परिवार द्वारा, कभी समाज और कभी राष्ट्र द्वारा भी दिये जाते हैं।

प्राकृतिक दुःख वे हैं, जो सर्दी, गर्मी, वर्षा, धूप, भूकम्प, विद्युत्पात आदि प्रकृति प्रदत्त होते हैं। मनुष्य किसी हद तक इनका प्रतीकार कर सकता है। दुःख के आगमन के ये तीन द्वार हैं।

ये सब दुःख स्वकृतकर्म-फल हैं

परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो ये दुःख मनुष्य के अपने ही पूर्वकृत कर्मों के फल हैं। परकृत या प्रकृतिप्रदत्त दुःख भी मनुष्य के अपने ही कृतकर्मों के फलस्वरूप आते हैं। अतः अगर मनुष्य सावधान, जागरूक और अप्रमत्त रहे, तो इन दुःखों से छुटकारा पा सकता है। समभावपूर्वक इन दुःखों को सहने से दुःख के हेतुभूतकर्म भी नष्ट हो सकते हैं, व्यक्ति भविष्य में सुखी हो सकता है। वर्तमान में भी वह उन दुःखों को समभाव से सहे तो दुःखवेदन अल्प हो सकता है।

उदीरणा : शान्त-दुःख की या अशान्त-दुःख की ?

अब मधुराज अर्हतर्षि दूसरे पहलू से इन्हीं प्रश्नों को उठाकर समाधान करते हैं। उनके कथन का भावार्थ यह है—

प्रश्न—दुःखी व्यक्ति शान्त दुःख की उदीरणा करता है, अथवा अशान्त दुःख की ?

उत्तर—दुःखी व्यक्ति शान्त दुःख की ही उदीरणा करता है, (क्योंकि उदीरित की उदीरणा निरर्थक है ।) शान्त दुःखों से ही अभिभूत व्यक्ति के कर्मों की उदीरणा होती है । अशान्त दुःखी दुःख की उदीरणा नहीं करता, क्योंकि कर्मों की उदीरणा से वह दुःखी हुआ है । इसलिए फिर से उदीरणा का कोई प्रश्न नहीं उठता ।

शान्त दुःख से तात्पर्य

कर्मप्रदेश आत्मा के साथ बंधे हुए होते हैं । वे कुछ काल तक निश्चल पड़े रहते हैं । उन्हें शान्तकर्म कहते हैं । शान्त दुःख और कोई नहीं, शान्त कर्म ही हैं । यहाँ अर्हतर्षि मधुराज के कथन का तात्पर्य यह है कि जिन के कर्म शान्त और निश्चल अवस्था में पड़े हुए हैं, ऐसा आत्मा भी भविष्य की अपेक्षा से दुःखी है । वह शान्त दुःख (कर्म) की ही उदीरणा करता है अशान्त दुःख की नहीं; क्योंकि निश्चल कर्मों की उदीरणा होती है । जो कर्म चलित हो चुके हैं, उदीरणा में आ चुके हैं, उनकी उदीरणा ही क्या होगी ?

दुःखों से अविमुक्त आत्मा की दशा : कैसी, क्यों और किस कारण से ?

इसके आगे मधुराजऋषि नौवें अध्ययन में उक्त कथन की तरह यहाँ पुनः कथन करते हैं—

"जो आत्मा दुःख से मुक्त नहीं हैं, उन्हें विविध गतियों और योनियों में जन्म-मरण करना पड़ता है, वहाँ उन्हें हस्तछेदन, पाद-छेदन आदि के रूप में नाना प्रकार के दुःख बार-बार मिलते हैं ।

कर्मयुक्त जीव को अवश्य ही बार-बार जन्म लेना पड़ता है, और जब जन्म होता है तो उससे सम्बद्ध नाना दुःख मिलते हैं । संसार के समस्त देहधारियों के अनिर्वाण—भवभ्रमण का मूल पाप है । समस्त दुःखों की जड़ पाप हैं । ये जन्म-मरण भी पापमूलक हैं ।।१।।

संसार में प्राप्त होने वाले नाना दुःखों का मूल भी पूर्वकृत पापकर्म हैं । अतः भिक्षु को चाहिए कि उन पापकर्मों के निरोध के लिए वह सम्यक् पुरुषार्थ करे ।।२।।

वृक्ष के स्कन्ध का सद्भाव होने पर लता उस पर अवश्य चढ़ेगी । बीज के विकसित होने पर अंकुरों की सम्पदा अवश्य आएगी ।।३।।

पाप का सद्भाव होने पर निश्चय ही उनसे दुःख उत्पन्न होंगे । मृत्पिण्ड के अभाव में घट आदि की रचना संभव नहीं है । मृत्पिण्ड है इसीलिए घटादि उत्पन्न हो सकते हैं । इसी प्रकार पाप है, इसीलिए दुःख की उत्पत्ति है ।।४।।

जैसे कन्द के सद्भाव में ही लता उत्पन्न होती है और बीज से ही अंकुर फूटते हैं, उसी प्रकार पापरूप लता से दुःख अंकुरित होते हैं ।।५।।

जैसे फूल को नष्ट कर देने पर फल स्वतः नष्ट हो जाता है इसी प्रकार पाप को नष्ट कर देने से दुःख भी समाप्त हो जाता है। सूई के द्वारा ताड़ के ऊर्ध्वभाग को बींध देने पर फिर ताड़वृक्ष का विनाश निश्चित है ।।६।।

"मूल के सींचने पर फल प्राप्त होता है और मूल को नष्ट कर देने से फल तो स्वतः ही नष्ट हो जाता है। फलार्थी मूल को सींचता है, परन्तु फल को नष्ट करने वाला मूल को नहीं सींचता ।।७।।

दुःख का वेदन (अनुभव) करते हुए दुःखाभिभूत देहधारी दुःख का नाश चाहते हैं, किन्तु एक दुःख का प्रतीकार करने के साथ ही साथ वे दूसरे दुःख का बन्ध कर लेते हैं ।।८।।

संसारी जीव पहले दुःख का बीज बोता है, किन्तु जब दुःख पाता है, तब शोक करता है। पहले कर्ज लिया है तो उसे चुकाये बिना वह मुक्त (दुःखमुक्त) नहीं हो सकता ।।९।।

जिस प्रकार भूखा बालक आग और सर्प को (भोजन समझ कर) पकड़ लेता है, वह संकट को ही न्यौता देता है। इसी प्रकार सुखार्थी (अज्ञानी आत्मा) अन्य नया पाप करता है ।।१०।।

पावं परस्स कुव्वंतो हसती मोहमोहितो ।
मच्छोगलं गसंतो वा विणिघातं स पस्सती ।।११।।

पच्चुपण्णरसे गिद्धो मोहमल्लपणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणा ।।१२।।

परोवघात-तल्लिच्छो, दप्प मोह-मल्लुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा गुणदोसं न विंदती ।।१३।।

अर्थात्—जब मोहमूढ़ आत्मा दूसरे की हानि के लिए पाप करता है, तब आनन्द का अनुभव करता है। जैसे मछली आटे की गोली निगलती हुई आनन्द पाती है, मगर (उसके पीछे छिपे हुए) अपने विनाश को नहीं देखती ।।११।।

मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमान कामभोग में लुब्ध होता है। पानी की मझधार में रहे हुए हाथी की भांति वह मोहमूढ़ जीव दीप्त उत्कण्ठा अथवा उत्कट उत्तेजना प्राप्त करता है ।।१२।।

दर्परूप मोहमल्ल से उद्धत बना हुआ व्यक्ति दूसरों के घात से प्रसन्न

होता है। जैसे वृद्ध सिंह उन्मत्त होकर विवेक खो बैठता है और निर्बल प्राणियों की हिंसा करता है। उसी प्रकार मोहोन्मत्त व्यक्ति गुण-दोष का विवेक भूल जाता है, और दूसरों के घात के लिए उतारू हो जाता है ॥१३॥

मोह विवेक की ज्योति को बुझा देता है। मोह ऐसा मद्य है कि जो इसे पीता है; वह झूठे सुख में—वर्तमानकालिक क्षणिक सुख में पागल हो जाता है, अहंकार से उसका मन उन्मत्त हो जाता है। वह अहंकार के वशीभूत होकर दूसरे को सदैव दुर्बल मानकर उस पर विपत्ति का वज्र प्रहार करता है।

भोला मानव उस भूखी मछली की तरह है जो आटे की गोली के मोह में पड़कर उसे निगलने में सुख मानती है, पर वह उस कांटे को नहीं देखती, जो भविष्य में उसका सर्वनाश कर देता है। इसी प्रकार मोहप्रेरित आत्मा वर्तमान भोग के सुख में लब्ध होकर अपना सर्वनाश कर लेता है।

मधुराज-ऋषि आगे यह भी बताते हैं कि वर्तमान सुख में लुब्ध मनुष्य कैसे-कैसे पाप कर लेता है? फिर फलभोग के समय किस प्रकार दुःख पाता है, और नये-नये पाप कर्म बाँधता है? देखिये उनके ही शब्दों में—

सवसो पावं पुरो किच्चा, दुःखं वेदेति दुम्मती।
आसत्तकंठपावो (सो) वा, मुक्कधारो दुहट्ठिओ ॥१४॥

पावं जे उपकुव्वंति, जीवा साताणुगामिणो।
वड्ढती पावकं तेसिं अणग्गाहिस्स वा अणं ॥१५॥

अणुबद्धमपस्संता पच्चुप्पण्ण-गवेसका।
ते पच्छा दुक्खमच्छंति, गलुच्छिन्ना झसा जहा ॥१६॥

अर्थात्—पूर्वकृत पाप के वशीभूत होकर दुर्बुद्धि आत्मा दुःख का अनुभव करता है। आकण्ठ पाप में डूबा रहने वाला व्यक्ति कष्टों और विपदाओं की धारा में अपने आपको खुला छोड़ देता है। सुखार्थी जीव सुख के लिए पाप करते हैं, किन्तु जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण चढ़ता ही जाता है, वैसे ही उन सुखार्थी जीवों का पाप बढ़ता ही जाता है।

जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते हैं, किन्तु उससे अनुबद्ध (दुःखरूप) फल को नहीं देखते, वे बाद में उसी प्रकार दुःख पाते हैं, जिस प्रकार गला बींधी हुई मछली।

जीव अनादिकाल से सुख के लिए परिश्रम करता है। उस स्वार्थजन्य सुख प्राप्ति के लिए जघन्य से जघन्य कुकृत्य भी करता है। अतः उसकी

पापपरम्परा सुरसा के मुँह की भाँति बढ़ती ही जाती है, वह एक ऐसा कर्जदार है, जो कर्ज तो लेता ही जाता है, परन्तु चुकाता उसका दशांश भी नहीं है, कर्ज पुनः पुनः बढ़ता ही जाता है, ऐसी स्थिति में वह ऋणमुक्त कैसे हो सकता है ?

वर्तमान सुख पर ही प्रायः उसकी दृष्टि होती है, परन्तु उस सुख के साथ बंधी हुई दुःख की परम्परा को नहीं देखते। उनकी दशा वैसी ही हो जाती है, जैसे सिर्फ आटे की गोली को निगलने वाली मछली गला बींधने के कष्ट को नहीं देख पाती।

परन्तु दूसरों के लिए किये जाने वाले पाप कर्म को दूसरा नहीं भोग कर स्वयं को ही भोगना पड़ता है, ईश्वर या कोई शक्ति उसमें रियायत नहीं कर सकती, न ही उसके बदले दूसरा कोई उस पाप कर्म का फल भोग सकता है। इसी सिद्धान्त को मधुराज ऋषि के शब्दों में देखिये—

आताकडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ॥१७॥

अर्थात्—अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल स्वयं (आत्मा) ही मनुष्य भोगता है। अतः साधक आत्मा के अभ्युदय के लिए पापकर्मों को छोड़ दे।

आत्मा ही स्वयं कर्मों का कर्ता है, स्वयं ही कर्मबन्ध करता है और उसका फल भी स्वयं ही (आत्मा) भोगता है। विश्व की कोई भी शक्ति दूसरे को उसके कर्म से मुक्त नहीं कर सकती और न ही एक के बदले में दूसरी आत्मा कर्मबन्ध कर सकती है।

जन्म समाप्त होते ही कर्मफलरूप दुःख समाप्त

अब मधुराज ऋषि जन्म के साथ नाना दुःखों का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं—

संते जम्मे पसूयंति वाहि—सोग—जरादओ।
नासंते डहते वण्ही; तरुच्छेत्ता ण छिंदति ॥१८॥
दुक्खं जरा य मच्चू य, सोगो माणावमाणणा।
जम्मघाते हता होंति, पुप्फघाते जहा फलं ॥१९॥

जन्म के सद्भाव में (होने पर) व्याधि, शोक और बुढ़ापा आदि उपाधियाँ पैदा होती हैं। जन्म का अभाव होने पर समस्त उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं। आग में जलाने योग्य वस्तु का अभाव हो तो आग किसे जलाएगी ? अथवा आग का अभाव है तो वह ईंधन को कैसे जलाएगी ? यदि

वृक्ष काटने वाले का अभाव है, तो अकेली कुल्हाड़ी वृक्ष को नहीं काट सकेगी।

तात्पर्य यह है कि यदि जन्म-जन्य उपाधियों से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा। आदमी जन्म को तो खुशी से अपनाता है, किन्तु मौत से डरता है। यदि मौत से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा। जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु अवश्यम्भावी है।

निष्कर्ष यह है कि अगर आत्मा सरागवृत्ति से हट जाए और वीतरागदशा प्राप्त कर ले तो जन्म भी समाप्त हो जाएगा, और जन्म से होने वाली व्याधि, जरा, मृत्यु आदि उपाधियाँ भी समाप्त हो जायेंगी। क्योंकि मृत्यु, जरा, व्याधि, मानापमान, दरिद्रता, अंगविकलता, बुद्धिमन्दता आदि सब दुःख जन्म के पैर से बँधे हुए हैं। 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी' इस कहावत के अनुसार जन्म ही नहीं रहेगा तो ये सब दुःख भी नहीं रहेंगे।

दुःख आने पर अन्य दुःखों को उत्पन्न करने वाले

मधुराज-ऋषि उन अज्ञानी आत्माओं की मनोदशा का वर्णन करते हैं, जो दुःख आ पड़ने पर अन्य नाना दुःखों को आमन्त्रण देते हैं—

पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्पं डसइ पत्थरं।
मिगारी ऊसरं पप्प, सरूपत्तिं व मग्गति ॥२०॥
तहा बालो दुही वत्थुं, बाहिरं णिंदती भिसं।
दुक्खुप्पत्ति-विणासं तु, मिगारि व्व ण पप्पति ॥२१॥
वणं वण्हि कसाए य अणं जं वावि दुट्ठितं।
आमगं च उव्वहंता, दुक्खं पावंति पीवरं ॥२२॥
वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमकस्स वणस्स य।
णिस्सेसं घायिणं सेयो, छिण्णो वि रुहती दुमो ॥२३॥
भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोहो जहा रिपू।
पावकम्मं तहा लीणं, दुक्खसंताण-संकडं ॥२४॥
पत्तिंधणस्स वण्हिस्स, उद्दामस्स विसस्स य।
मिच्छत्ते यावि कम्मस्स, दित्ता वुड्ढी दुहावहा ॥२५॥
धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाणं च जं अणं।
मंताहतं विसं जं ति, धुवं तं खयमिच्छती ॥२६॥
छिण्णादाणं धुवं कम्मं, झिज्जते तं तहाहतं।
आदित्त-रस्सि-तत्तं व छिण्णादाणं जहा जलं ॥२७॥
तम्हा उ सव्वदुक्खाणं, कुज्जा मूलविणासणं।
वालग्गाहि व्व सप्पस्स, विसदोस-विणासणं ॥२८॥

अर्थात्—पत्थर की चोट खाया हुआ कुत्ता पत्थर को ही काटने दौड़ता है, किन्तु जब सिंह को बाण लगता है, तो वह बाण को छोड़कर बाण के उत्पत्ति (छूटे हुए) स्थल पर झपटता है। इसी प्रकार अज्ञानी आत्मा दुःख आने पर बाहरी वस्तु (निमित्त) पर आक्रोश करता है, किन्तु सिंह के समान दुःखोत्पत्ति के मूल को नष्ट करने का प्रयास नहीं करता। २०-२१।

व्रण, अग्नि और कषाय तथा अन्यान्य दुष्कर्मों को करके बीमारियों को ढोते हुए व्यक्ति प्रचुर दुःख पाते हैं। २२।

अग्नि चार प्रकार की है—ऋण की आग, कर्म की आग, रोग की आग और वन की आग। (ये चारों ही दुःख देने वाली हैं; अतः इन चारों ही) दुःखों की जड़ को पूर्णरूप से नष्ट कर देनी चाहिए। क्योंकि ऊपर से काट डालने पर वृक्ष फिर से उग आता है। (इसलिए चारों दुःखों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकना चाहिए।) ।२३।

राख से ढकी हुई अग्नि और निगूढ़ क्रोधी शत्रु जैसे छिपकर घात करता है, उसी प्रकार पापकर्म में दुःख की परम्परा और संकट छिपे रहते हैं ।२४।

अग्नि को प्रचुर ईंधन प्राप्त हो जाता है, विष जब उत्कट (उद्दाम) हो जाता है, और कर्म जब मिथ्यात्व में प्रवेश करता है, तो ये तीनों प्रचण्ड और उद्दीप्त हो जाते हैं। इस अभिवृद्धि का परिणाम आत्मा के लिए दुःख-रूप ही होता है ।२५।

जैसे धूमहीन अग्नि, नया लेना बंद कर दिया हो, ऐसा ऋण और मंत्राहत विष निश्चित ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार, कर्म का आदान (ग्रहण या आस्रव) जब समाप्त हो जाता है, तब कर्म भी निर्जरित (क्षय) हो जाता है। जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से पानी गर्म हो जाता है, किन्तु सूर्य किरणों का साहचर्य (संयोग) छूटते ही वह प्रकृतिस्थ होकर स्वाभाविक रूप से शीतल हो जाता है। इसी प्रकार कर्म के संयोग से आत्मा विभावदशा में आकुल होकर परिभ्रमण करता है। किन्तु कर्म का साहचर्य छूटते ही वह स्वभाव में स्थित होकर सहज रूप को प्राप्त कर लेता है ।२६-२७।

अतः साधक सभी दुःखों के जड़मूल को उसी प्रकार विनष्ट करे, जिस प्रकार सपेरा सर्प के विष-दोष को नष्ट कर देता है ।२८।

निष्कर्ष

बन्धुओ !

निष्कर्ष यह है कि आत्मा भोग-वासनाजन्य दुःखबीज सुख को एकांत सुखरूप समझकर अपनाता है, उससे भयंकर पापकर्म का बन्धन होता है, फिर जन्म परम्परा दीर्घकाल तक चलती है। अतः जन्म और कर्म की परम्परा को समाप्त करना है, तो इन्हें जड़मूल से समाप्त करने चाहिए। जब तक आत्मा के साथ कर्म का साहचर्य रहेगा, तब तक आत्मा विभावदशा में भटकता रहेगा, कर्म का साहचर्य—कर्मों का ग्रहण, बन्द करते ही वह स्वभाव में स्थित हो जायेगा। अतः दुःखों से सर्वथा मुक्त होने के लिए उनके मूल—कर्मों को सर्वथा समाप्त करना चाहिए। यही मधुराज ऋषि का तात्पर्य है।

□

१६

महानता का मूल : इन्द्रिय-विजय

इन्द्रियविजेता ही उत्तमपुरुष

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

क्या आप बता सकते हैं कि महान् मानव कौन है ? कई लोग कह देते हैं कि जिसके पास सत्ता है, जिसकी हुकूमत चलती है; अथवा जिसके यहाँ धन का अम्बार लग रहा है, वैभव की झंकार है, या जो रात-दिन रागरंग और भोग-विलास में मस्त रहता है. सुन्दरियों के पायल की झंकार जिसकी अट्टालिकाओं में गूँजती है, वही महान् और उत्तम मनुष्य है। परन्तु अगर आपने भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया होगा तो आप इस बात से सर्वथा इन्कार कर देंगे। भारतीय संस्कृति में भोग की महत्ता को कतई स्वीकार नहीं किया है, यहाँ त्याग की महत्ता सदा-सदा से रही है। यहाँ बड़े-बड़े सत्ताधारी, चक्रवर्ती, विशाल भूमि के अधिपति अथवा धनाधीशों या वैभव और भोग-विलास में रत व्यक्तियों ने त्यागियों के चरणों में मस्तक झुकाया है।

इसी दृष्टि से प्रस्तुत सोलहवें अध्ययन में सोरियायन अर्हतर्षि ने इन्द्रियविजेता को ही उत्तम पुरुष बताते हुए कहा है—

जस्स खलु भो विषयायारा ण य परिस्सवंति इंदिया य दवेंहि से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति सोरियायणेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थात्—'जिसके इन्द्रियों का वेग द्रवित (पतली) वस्तु की तरह विषयाचार की ओर नहीं दौड़ता, वही मनुष्य उत्तम है'; इस प्रकार सोरियायन अर्हतर्षि ने कहा।

महर्षि का तात्पर्य यह है कि महान् या उत्तम पुरुष वह नहीं है, जो दुनिया पर तो शासन करता है, किन्तु अपने मन और इन्द्रियों का गुलाम है। शूरवीर वह नहीं है जो संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीत लेता है;

किन्तु स्वयं इन्द्रियों के अधीन है, इन्द्रियों का दास है। एक रूपक कथा के द्वारा इसका रहस्य समझा दूँ—

एक बार राजमार्ग पर पिता और पुत्र जा रहे थे। उसी समय राजा की सवारी वहाँ से निकली। राजा के साथ छह सिपाही थे। जिज्ञासावश पुत्र ने पिता से पूछा—"पिताजी! यह कौन जा रहा है?"

पिता बोले—"राजा जा रहे हैं, बेटा!"

थोड़ी ही देर बाद एक चोर को पकड़ कर राज्य के ६ सिपाही लिये जा रहे थे। पुत्र ने पिता से पूछा—"पिताजी! यह कौन है?"

पिता ने कहा—"यह चोर है बेटा!"

यह सुनकर पुत्र को आश्चर्य हुआ। उसने पिता से पूछा—"पहले भी एक आदमी जा रहा था, उसके साथ भी ६ सिपाही थे और इसके साथ भी ६ सिपाही हैं। किन्तु आपने पहले जाने वाले को राजा, और पीछे जाने वाले को चोर कहा, ऐसा क्यों? कुछ समझ में नहीं आया।"

पिता ने कहा—"बेटा! इन दोनों में बहुत अन्तर है।"

पुत्र बोला—"किस बात का? ठाट-बाट का, कपड़ों का या और कुछ अन्तर है?"

पिता ने कहा—"ऐसा कोई फर्क महत्व का नहीं है। यहाँ फर्क दूसरा ही है। पहले जिस आदमी के साथ ६ सिपाही थे, वे उसके अधीन थे। जबकि पीछे वाला ६ सिपाहियों के अधीन था। पहले वाला शासनकर्त्ता था, जबकि पीछे वाला शासित-गुलाम था।"

इसे आध्यात्मिक दृष्टि से यों घटित किया जा सकता है। ६ सिपाहियों के समान ६ इन्द्रियाँ हैं—श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियाँ और छठा नो-इन्द्रिय मन। इन्द्रियों पर शासन करने वाला जितेन्द्रिय पुरुष, इन ६ इन्द्रियों पर शासन करता है, इन्हें जीत लेता है। जैसा कि मनुस्मृति (२/९८) में कहा है –

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

जिस मनुष्य को निन्दा-स्तुति सुनकर, सुखद-दुखद स्पर्श को छूकर, सुरूप-कुरूप को देखकर, सरस-नीरस वस्तु को खाकर एवं सुगन्ध-दुर्गन्ध को सूँघकर भी हर्ष-विषाद नहीं होता, जो मन को शान्त-प्रशान्त रखता है, उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिये।

इसके विपरीत जो इन छहों इन्द्रियों का गुलाम—दास है, वह इनके विषयों के प्रति राग-द्वेषवश हर्ष-शोक करता है, वह इन ६ के अधीन है।

इन्द्रियविजेता ही विश्वविजेता

जो इन इन्द्रियों का गुलाम है, वह दुनिया का गुलाम है, जो इन इन्द्रियों का विजेता है, वही विश्वविजेता है। क्योंकि बाह्य शत्रुओं को शस्त्रास्त्र द्वारा युद्ध कौशल से जीतना आसान है, मगर (उत्पथगामी) इन्द्रिय-शत्रुओं को जीतना अत्यन्त कठिन है। किरातार्जुनीयम् (सर्ग ११/३२ श्लोक) में कहा गया है—

> जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
> जितेषु ननु लोकोऽयं, तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥

'अपने शरीर में रही हुई चक्षु आदि इन्द्रियाँ दुर्जय शत्रु हैं। इन्हें सर्वप्रथम जीतना चाहिए। इन्हें जीत लेने पर समझो कि तुमने सारा संसार जीत लिया।'

जगत को सैन्यबल या शस्त्रों के द्वारा जीतना सुगम है। जगत् पर पशुबल से साम्राज्य चलाना भी सरल है, परन्तु इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना अथवा इन्द्रियों पर आत्मा का साम्राज्य स्थापित करना कठिन ही नहीं, अति कठिन है।

इन्द्रियाँ जिसके काबू में नहीं हैं, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ने से रोक नहीं सकता, उसे विजयी कैसे कहा जा सकता है? अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से वह पराजित है, परतन्त्र है।

आज स्वाधीनता के नाम की रट लगाने वाले व्यक्ति तो बहुत हैं। पर वे नहीं जानते कि स्वाधीनता किस चिड़िया का नाम है। जिनको अपने आप पर जरा भी संयम या शासन नहीं है, केवल स्वाधीनता की बातें करते हैं वे स्वाधीनता का मर्म नहीं जानते। जिस मनुष्य की आँखें अपवित्र रूप और सौन्दर्य की प्यासी बनी हुई हैं, जीभ भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बिना भिन्न-भिन्न स्वादिष्ट वस्तुओं का स्वाद चखने के लिए तरसती है। कान नहीं सुनने योग्य बातों और निन्दा-चुगली को सुनने के लिए तैयार रहते हों, स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) अपवित्र और गुदगुदाते कोमल स्पर्शों की लिप्सु हो, मन दूसरों का बुरा चिन्तन करने में रचा-पचा रहता हो, नाक सुन्दर सुवास के लिए हजारों पुष्पों का उपमर्दन करके तैयार किये हुए इत्र या सुगन्धित पदार्थ को सूँघने में तत्पर रहती हो तथा दुर्गन्ध या बदबू-दार कहकर ग्रामीण गरीबों, तथा सच्चे सेवकों से दूर भागती हो, ऐसी

स्थिति में कैसे माना जाय कि इस मनुष्य ने इन्द्रियों पर विजय पाई है, वह स्वाधीन बना है।

बर्नार्ड शॉ ने भगवान् महावीर के निर्वाण कल्याणक के अवसर पर भाषण देते हुए महाकवि शेक्सपीयर के एक वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा था—

'Give me that man who is not passions' slave and I will wear him in my heart's core.'

"मुझे ऐसा मनुष्य दो, जो इन्द्रिय-विषयों का गुलाम न हो, अर्थात् जिसने इन्द्रियों पर विजय पा ली हो, उसे मैं अपने हृदय के गहरे से गहरे कौने में विराजमान करूँगा।"

बर्नार्ड शॉ के उद्गार कितने प्रेरक हैं ? मैं आप से ही पूछता हूं कि आप अपने दिल के दीवानखाने में किसकी छवि विराजमान करते हैं ? किसी बादशाह (शासक) को या महात्मा आत्मानुशासक की ?

विश्वविजेता कौन ? इन्द्रियविजयी या इन्द्रियदास

सिकन्दर जब विश्वविजेता बनने के अहंकार से फूल रहा था और जब उसने दिग्विजय करने के लिए भारत की ओर कूच किया, तब उसके गुरु अरिस्टोटल (अरस्तू) ने उसे सच्चे विश्वविजेता के दर्शन कराने और उसके गर्व को खण्डित करने हेतु भारत से स्वदेश लौटते समय एक जैन साधु को ले आने को कहा।

अतः जब सिकंदर युद्ध करके पंजाब से वापस लौट रहा था, तब अपने सैनिकों को भेज कर एक जैन साधु को तलाश करके लाने का आदेश दिया। सैनिकों को बहुत खोज के पश्चात नदी के तट पर आत्मसमाधि में बैठे हुए एक मस्त जैन साधु मिल गये। उन्होंने कहा—'चलिये महाराज ! विश्व-विजेता सिकंदर आपको याद करते हैं।"

जैन सत ने धीर गम्भीर वाणी में कहा—"सिकंदर कौन है ? यह मैं नहीं जानता। तुम कहते हो कि विश्वविजयी है, तो होगा। परन्तु उस विश्वविजयी से मेरा एक विनम्र प्रश्न पूछना—आपने विश्वविजय तो किया, पर इन्द्रिय-विजय किया या नहीं ? अगर आपने इन्द्रियों पर विजय कर लिया हो तो मैं तुम्हारे पास आने के लिए तैयार हूं। परन्तु केवल जगत् को ही जीता हो तो मुझे वहाँ जाने की जरूरत नहीं।"

भौतिकता और भोगविलास के रंग में रंगे हुए सिकंदर को यह प्रश्न बिल्कुल नया लगा। उसे आत्मा, परमात्मा और इन्द्रिय-विजय आदि पर कोई रुचि भी नहीं थी। जिसके सामने बड़े-बड़े वीर, राजा-महाराजा काँपतेथे,

उसे इस प्रकार ललकारने वाला यह कौन पैदा हुआ है ? इस प्रकार आश्चर्यचकित और प्रभावित सिकंदर स्वयं ही जैन साधु से मिलने के लिए पहुंचा। जैन मुनि की सौम्य एवं प्रसन्नमुद्रा देखकर तथा धर्मलाभ की प्रेरणात्मक वाणी सुनकर सिकन्दर भावविभोर हो गया। उसने कहा—"ओ महान् सन्त ! आप मेरे साथ पधारिये। मैं अत्यन्त सम्मानपूर्वक आपको अपने देश में ले जाऊँगा। विजय यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय मेरे गुरु अरिस्टोटल ने एक जैन साधु को ले आने की माँग की थी। अतः आप पधारिये। सुन्दर वाहन, भव्य महल, सुरम्य उपवन, हीरा माणक-मोती आदि कीमती से कीमती वस्तु आपकी सेवा में हाजिर कर दूँगा। परन्तु आप मेरे साथ पधारिये।"

सिकन्दर समझता था कि शायद प्रलोभन देने से संत पिघल जाएगा। परन्तु जिसकी इन्द्रियों और मन का वेग विषयों की ओर जरा भी नहीं दौड़ता, ऐसा जितेन्द्रिय मुनि भला सिकन्दर के इस प्रलोभन के वश में कैसे हो सकता था ? उसने सिकन्दर को मुनिधर्म का मर्म समझाया तथा धन, वाहन, वैभव, वनिता आदि का त्याग तथा मौलिक मर्यादाएँ बताईं और अपने धर्मक्षेत्र एवं कार्यक्षेत्र को छोड़कर वहाँ न जाने का अपना दृढ़निश्चय भी प्रगट किया।

परन्तु सत्ता के गर्व में चूर सिकंदर ने भय बताया, धमकियाँ दीं, मारने के लिए तलवार भी उठाई। परन्तु संत की निर्भीक, आत्मा की अमरता की सन्देशवाहक वाणी सुनकर वह स्वयं स्तब्ध हो गया। वह पराजित होकर संत के चरणों में झुक गया।

यह थी इन्द्रियविजेता की तथाकथित विश्वविजेता के हृदय पर विजय।

जिसने इन्द्रियविषयों को जीतकर आत्मस्वरूप में रमणता प्राप्त कर ली है, वह मृत्यु से या किसी भी प्रकार के भय से जरा भी कंपित नहीं होता। इसलिए सिकन्दर को कहना पड़ा—

जगत् को जीतने वाले की अपेक्षा इन्द्रियों को जीतने वाला महान् है, शूरवीर है, धीर है, मृत्युञ्जयी है।

इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

'न रणे विजयाच्छूरो.........इन्द्रियाणां जये शूरः।

रण में विजय प्राप्त कर लेने से शूरवीर नहीं कहलाता, अपितु जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही शूरवीर है। एक कवि ने कहा

है—स पण्डितो यः करणैरखण्डितः" पण्डित वही है, जिसकी इन्द्रियाँ विषयों को देखकर खण्डित—विचलित न हुई हो।'

श्रमण इन्द्रियों के विषय-प्रवाह में न बहे

जिस प्रकार पानी का स्वभाव ढलाव की ओर बहने का है, उसी प्रकार इन्द्रियों का स्वभाव अपने अपने विषय की ओर लुढ़कने का—विषय-प्रवाह में बह जाने का है। जिस समय कोई भी इन्द्रिय अपने विषय की ओर बहने लगे, उस समय यदि संयमी पुरुष भी उनसे प्राप्त होने वाले तथाकथित क्षणिक विषय-सुखों के प्रलोभन में आकर राग-द्वेष करने लगता है तो वह ज्ञान, ध्यान, तप, चरित्र आदि सबको भूल जाता है। यही कारण है कि बाह्य जीवन (शरीरादि की) की नश्वरता को स्वीकार करते हुए भी उस समय आत्मा के उद्धार की बात भी धरी रह जाती है। इन्द्रियाँ अत्यन्त उत्तेजित होकर कई बार ऐसे गाफिल साधक के मन को बलात् खींच ले जाती हैं। इसीलिए गीता में कहा गया है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

इन्द्रियाँ अपने पूर्वसंस्कार एवं अभ्यासवश अच्छे से अच्छे साधक को बलात् अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित करके ले जाती हैं।

इसीलिए सोरियायन ऋषि साधकों को इन्द्रियों के विषय-प्रवाह में बहने से सावधान करते हुए कहते हैं। उनके कथन का भावार्थ यह है—

प्रश्न—इन्द्रियों का परिस्रवण (बहाव) विषयों की ओर जाते से कैसे रोका जा सकता है और कैसे उक्त प्रवाह में साधक बह जाता है?'

उत्तर—'श्रोत्रेन्द्रिय-विषय-प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में साधक आसक्त न हो, अनुरक्त न हो, न ही उन मधुर शब्दों में गृद्ध हो। उन कर्णप्रिय शब्दों के द्वारा साधक अपनी स्वाभाविक स्थिति के व्याघात का अनुभव न करे। श्रोत्र-विषय-प्राप्त शब्दों में आसक्ति अनुरक्ति, और गृद्धि करता हुआ तथा सुमना (सुन्दर मन वाला) श्रमण मन से उनकी आसेवना करता हुआ, उनके माधुर्य-रस-प्रवाह में बहता हुआ पापकर्मों का ग्रहण (बन्ध) कर लेता है। इसलिए साधक श्रोत्र-विषय-प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में कतई आसक्त, अनुरक्त एवं गृद्ध न हो। इसी प्रकार सुमना श्रमण मनोज्ञ रूप, गन्ध, रस और स्पर्शों में आसक्त, अनुरक्त एवं गृद्ध न हो, अर्थात् राग न करे। और इसके विपरीत अमनोज्ञ रूप-गन्ध-रस-स्पर्शों पर द्वेष न करे।'

इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाने से महाहानि

कई लोग अथवा नास्तिक या भोगवादी दार्शनिक कहते हैं कि इन्द्रियों को विषयों में खुली छोड़ दें, तो क्या हर्ज है? वे तो अपने आप में

जड़ हैं, उन्हें तो आत्मा या मन जिधर मोड़ेंगे उधर ही मुड़ेंगी, फिर इन्द्रियों को वश में करने पर इतना जोर क्यों दिया जाता है ? इन्द्रिय-विषयों का (राग-द्वेषपूर्वक) सेवन करने से क्या हानि है ? मनुष्य जन्म में पाँचों इन्द्रियाँ मिली हैं तो उनसे आनन्द क्यों न प्राप्त किया जाये ?

ये ऐसे प्रश्न हैं, जो वर्तमान में भोगपरायण पाश्चात्य-देशों एवं एवं पौर्वात्य देशों के नास्तिक या भोगवादी लोगों के द्वारा उठाये जाते हैं। परन्तु यह तो निश्चित है कि इन्द्रियों को बार-बार विषयों की ओर दौड़ाने से उन-उन इन्द्रियों की शक्ति, तेजस्विता एवं तीव्रता समाप्त होती है। आँख के द्वारा तेज रोशनी, सिनेमा आदि के अत्यधिक देखने से आँखों की रोशनी तो क्षीण होती ही है, मानसिक कामविकार के कारण ब्रह्मचर्य भी स्खलित होता है एवं बौद्धिक मंदता आदि भी बढ़ती है।

हमें एक शहर में एक लड़का मिला। जो प्रतिदिन सिनेमा देखता था। उसके पिता ने बताया कि यह लड़का प्रतिदिन सिनेमा देखता है, इस कारण दिन भर सुस्ती में पड़ा रहता है, कमजोर भी हो रहा है। फिर आँखें अंदर धंसी हुई हैं, गाल पिचके हुए हैं, टाँगें पतली हैं, लड़खड़ाता हुआ चलता है।

यह तो हुआ शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक नुकसान। इन्द्रियों के अत्यधिक उपयोग से शारीरिक हानि ही नहीं, प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। शब्द, रस, गंध और स्पर्श के भी अत्यधिक के उपभोग से कम हानि नहीं है।

शब्द में आसक्ति के कारण मृग शिकारियों द्वारा मार डाला जाता है।

रूप में आसक्त जीव भी अपने प्राणों तक से हाथ धो बैठते हैं। पारस्परिक कलह, वैमनस्य, बेइज्जती, कारागार, कठोर दण्ड आदि शारीरिक हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं।

गंध में आसक्त होकर भौंरा कमलकोष में बंद हो जाता है। मछली आटे की गोली के स्वाद में पड़कर अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है। स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर हाथी जैसा शक्तिशाली प्राणी भी बन्धन में बाँध लिया जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य भी इन इन्द्रियों का दुरुपयोग या अधिक विषयोपभोग करके अपने स्वास्थ्य, सत्त्व, प्राणशक्ति, मनःशक्ति, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक क्षमता आदि को खो बैठता है।

अत्यधिक विलासिता में इन्द्रियों का उपयोग करने वाले व्यक्ति असमय में ही बूढ़े और अशक्त हो जाते हैं और कई तो असमय में ही मौत के मुँह में चले जाते हैं या आत्महत्या करके अपने जीवन का नाश करने पर उतारू हो जाते हैं।

मैंने एक कहानी पढ़ी थी कि अमेरिका के एक धनाढ्य पुरुष ने अपनी इन्द्रियों से विषय-वासना का पर्याप्त खेल खेला। अपार धन खर्च करके विषय सुख लूटने के लिए हर प्रकार की विलास-सामग्री का खुलकर उपयोग किया। इसका नतीजा यह हुआ कि उसका शरीर जर्जर हो गया। सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। उनकी शक्ति क्षीण हो गई। अतः उसने जिंदगी से ऊबकर आत्महत्या करने का विचार किया। परंतु उसके एक हितैषी मित्र को इस कुविचार का पता लगा। उसने उसे सलाह दी कि तुम मेरे कहने से कुछ अर्से तक जंगल में रहकर प्राकृतिक जीवन बिताओ। व्यायाम और प्राणायाम द्वारा, यौगिक आसनादि द्वारा एवं फलाहारादि द्वारा प्रकृति की ओर लौटो। भगवान की प्रार्थना, कीर्तन एवं गुणगान करो। देखो, तुम्हारा जीवन कितना सुन्दर और कलापूर्ण बन जाता है।

उसने इसी प्रकार किया, लगभग ६ महीने में उसका काया पलट हो गया।

आध्यात्मिक हानि

यह तो हुई इन्द्रियविषयों में अत्यधिक उपभोग से भौतिक हानि की बात। आध्यात्मिक हानि भी कम नहीं है। प्रस्तुत में सोरियायन ऋषि ने इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति एवं द्वेष से पापकर्मबंधन का ही संकेत किया है। किंतु दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाए तो पापकर्म के फलस्वरूप नरक या तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है, क्योंकि विषयों में आसक्त आत्मा सभी पापों में रंग जाता है। विषयों की चाह ही अनेक दुःखों को आमंत्रित करती है। जो जीव बेरोकटोक स्वच्छंद होकर इन्द्रिय-विषयों का सेवन करते हैं, वे इन्द्रियों के वशीभूत होकर उनके अस्तित्व को निरंतर बने रहने की इच्छा करते हैं, उनके अभाव में दुःखी होते हैं, अत्यंत आतुर होकर विषयों में लीन रहते हैं, वे चिकने कर्मों का बध करते हैं, जिनके फलस्वरूप अनेक भवों में भ्रमण करना पड़ता है।

इसीलिए ज्ञानसार में कहा है—

विभेषि यदि संसारात् मोक्ष-प्राप्तिं च कांक्षसि।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फार-पौरुषम्॥

हे साधक! यदि तू संसार-परिभ्रमण से घबराता है, और मुक्ति की

महा-समाधि चाहता है तो अपनी इन्द्रियों को जीतने का पूर्ण पराक्रम भरे पौरुष का उपयोग कर।

इन्द्रिय-अनिग्रह के तीन स्तर

इस अध्ययन से सोरियायन महर्षि ने आत्मार्थी साधक को इन्द्रियों के विषय-प्रवाह में न बहने का संकेत किया है। साधक तीन प्रकार से विषय प्रवाह में बहता है—

(१) विषयों के न होने पर भी उनकी आसक्ति से।

(२) इन्द्रियाँ चपल हो जाने से विषयों में बाह्यरूप से प्रवृत्त होने से।

(३ विषयों के प्रति राग अथवा द्वेष होने से।

दूसरे शब्दों में इन्हें विषयासक्ति, विषय-प्रवृत्ति और विषय-विकृति कह सकते हैं। ये तीनों स्तर इन्द्रिय-अनिग्रह के हैं।

इन्द्रिय-निग्रह के चार प्रकार

इन्द्रिय-निरोध के चार प्रकार हैं—(१) सिर्फ विषयों में आसक्ति का त्याग, (२) विषयों में प्रवृत्त न होना (अर्थात्—सिर्फ दूर रहना), (३) विषयों में प्रवृत्त होती हुई इन्द्रियों को वहाँ से हटा देना, और (४) विषय-प्रवृत्ति में होती राग-द्वेषरूप विकृति को उदित न होने देना, उदित विकृति को रोकना।

इन्द्रिय-विजय का वास्तविक अर्थ

इन्द्रिय-विजय का अर्थ इन्द्रियों को बंद करके या गठड़ी बाँधकर रख देना नहीं है, अपितु इन्द्रियों पर संयम और सावधानी रखना है। इन्द्रियाँ जब भी विषयों की ओर दौड़ें, तब उन्हें सावधानी से सँभाला जाए, देख-भाल रखी जाए।

इन्द्रियनिग्रह में सावधानी

अनियन्त्रित इन्द्रियाँ प्रबल अन्धड़ के समान हैं, वे ज्ञान-विज्ञान के दीपक को बुझा न दें, इसका पूरा ध्यान रखना है। विषयों के प्रति राग-द्वेष में स्वच्छन्द विचरण करती हुई इन्द्रियाँ विचार एवं विवेक से थोड़ी-सी देर के लिए नियंत्रण में रखी जा सकती हैं। इतना करने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियाँ आपके वश में हो गईं। अनुकूल परिस्थिति या संयोग मिलते ही उनमें पुनः प्रबल उत्तेजना उठे बिना नहीं रहती। ऐसी स्थिति में विचार शक्ति कुण्ठित हो जाती है। विद्वान् कहे जाने वाले लोग भी बलात् उन दुर्विषयों से जनित दुष्कर्मों की ओर खिंच जाते हैं। अतः विचार, विवेक, प्रबल इच्छाशक्ति, दृढ़वैराग्य, दीर्घकालीन अभ्यास, इन्द्रिय-विजय के प्रति पूर्ण श्रद्धा, जितेन्द्रिय का आदर्श आदि निरन्तर समक्ष न हो, तब तक यह खतरा उपस्थित हो सकता है।

विषयासक्ति निवारण : दृढ़ विरक्ति से

पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए विषयासक्ति का निवारण करना अनिवार्य है। विषयासक्ति से दृढ़विरक्ति ही उससे निवारण का प्रमुख उपाय है। विषयों के प्रति अरुचि, उनकी दुःखरूपता, असारता, अतृप्ति और पुनरावृत्ति-भावना के चिन्तन से विरक्ति दृढ़ हो जाती है।

विषयो के प्रति अरुचि उनके दोषों के दर्शन चिन्तन-मनन से होती है। विषयरुचि का प्रधान कारण कांक्षामोह का उदय है। अतः सर्वप्रथम विषयों के प्रति अरुचि या घृणा होनी चाहिए। एक दृष्टान्त द्वारा मैं अपनी बात स्पष्ट कर देता हूं—

एक भक्त राजा ने एक जितेन्द्रिय महात्मा से अपने महलों में पधारने की प्रार्थना की। परन्तु महात्मा ने यह कहकर उसकी प्रार्थना टाल दी कि मुझे तुम्हारे महलों में दुर्गन्ध आती है, इसलिए मैं वहाँ नहीं आ सकता।

राजा ने कहा—"महाराज ! महलों में तो इत्र-फुलेल छिड़का रहता है, वहाँ दुर्गन्ध का क्या काम ? महात्मन् ! आपकी बात समझ में नहीं आई।"

महात्मा एक दिन राजा को साथ लेकर चमारों की बस्ती में जा पहुंचे। वहाँ एक पीपल की छाया में दोनों खड़े रहे। चमारों के घरों में कहीं चमड़ा कमाया जा रहा था, कहीं वह सूख रहा था तो कहीं ताजा चमड़ा तैयार किया जा रहा था। उसमें से बड़ी दुर्गन्ध आ रही थी। दुर्गन्ध के मारे राजा की नाक फटने लगी। उसने महात्मा से कहा—"महात्माजी ! जल्दी चलिये यहाँ से। दुर्गन्ध के मारे यहाँ खड़ा नहीं रहा जाता।"

महात्माजी बोले—"राजन् ! तुम्हें ही दुर्गन्ध आती है, इन चमारों के स्त्री-पुरुषों को तो देखो। ये सब काम कर रहे हैं, खा-पी रहे हैं। इनको तो बिल्कुल दुर्गन्ध नहीं आती।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! चमड़ा कमाते-कमाते और चमड़े में रहते-रहते इनका ऐसा अभ्यास हो गया है कि इन्हें चमड़े की दुर्गन्ध नहीं आती। पर मैं तो इसका अभ्यासी नहीं हूँ।"

महात्मा ने हंसकर कहा—"राजन् ! यही हाल तुम्हारे राजमहल का हैं। तुम्हें विषयभोगों में रहते-रहते उनकी दुर्गन्ध नहीं आती, तुम्हारा अभ्यास हो गया है, पर मुझे तो विषय को देखते ही उसकी दुर्गन्ध के मारे उलटी-सी आती है। इसी कारण मैंने तुम्हारे महल में आने से इन्कार किया था।" राजा ने रहस्य समझ लिया।

बन्धुओ ! उक्त महात्मा की तरह जब साधक को विषयों से अरुचि हो जाएगी, तब उसकी सच्ची विरक्ति समझी जाएगी।

विषयों में दोष प्रतीति के लिए इन पांच भावनाओं का भी चिन्तन करना आवश्यक है।

(१) **दुःखत्वभावना**—हे आत्मन् ! विषयों में सुख नहीं है। विषय दुःखरूप ही हैं। उनमें सुखानुभव भ्रान्ति है क्योकि विषयों के सेवन से पूर्व, सेवन करते समय और सेवन के बाद आकुलता बनी रहती है, जो दुःखरूप ही है। विषय-सेवन से कई शारीरिक-मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं। एक-एक विषय के सेवन से मृग, पतंगा, भुजंग, मत्स्य और हाथी दुःखी हो जाते हैं, मर जाते हैं। विषयसेवन हिंसादि कई पापों की खान है।

(२) **उच्छिष्टता-भावना**—हे आत्मन् ! तू जिन विषयों का सेवन कर रहा है, यह अनन्त जीवों की जूठन है, तेरी अपनी भी जूठन है। अनन्त ऐश्वर्य का स्वामी होकर तू जूठन के सेवन में सुख मान रहा है। पराई जूठन खाना निन्द्यकर्म है।

(३) **असारता भावना**—हे आत्मन् ! ये विषयसुख असार हैं, क्षणिक हैं, विकृति के भण्डार हैं। एक क्षण पहले जो विषय आकर्षक लगते हैं वे ही क्षणभर बाद घृणित हो जाते हैं। इनका आकर्षण भी भ्रान्त है।

(४) **अतृप्ति-भावना**—हे जीव ! विषयों से जीव को कभी तृप्ति नहीं होती। इन्द्रियों की प्यास विषयों के सेवन से अधिकाधिक भड़कती है। ज्यों-ज्यों विषयों का सेवन, त्यों-त्यों तृष्णा की तीव्रता, अतृप्ति की आकुलता जीव को विक्षिप्त बना देती है।

(५) **पुनरावृत्ति-भावना**—हे जीव ! एक ही बात की बार-बार आवृत्ति मनुष्य को उबा देती है, तब विषयों की बार-बार आवृत्ति तुम्हें क्यों नहीं उबाती ? कौन-सा ऐसा भव है, जिसमें तुमने विषयों का बार-बार सेवन नहीं किया ? इसी भव में उन्हीं-उन्हीं विषयों का बार-बार सेवन किया है। अब इस भव में तो समझदारीपूर्वक इन्हें छोड़ !

इसी प्रकार विषयों की अनित्यता, आस्रवरूपता, अशुचिता आदि भावनाओं का चिन्तन भी विरक्ति को सुदृढ़ बनाता है।

इन्द्रियविजय के अन्य उपाय

इन्द्रियविजय के कुछ उपाय मैं बता चुका हूं। उनके अतिरिक्त कुछ उपाय और भी हैं। पहला उपाय है—**जिनाज्ञा-चिन्तन और आत्मा को आदेश-प्रदान**—इन्द्रियों को विषयों में रमण अनुकूल लगता है, अतः जब साधक देखे कि इन्द्रियाँ विषयों में उच्छृंखल हो रही हैं, तब तत्काल उन्हें वहाँ से खींच ले। ऐसा करने के लिए आत्मा में एकाग्र बनना और प्रत्येक प्रवृत्ति में जिन-

आज्ञा का चिन्तन करना चाहिए कि रागद्वेष-विजेता जिन भगवान् का इस विषय में क्या आदेश है ? मैं रागादि के जय के लिए चला हूं तो मुझे उनकी आज्ञा माननी चाहिए। जिनाज्ञा-चिन्तन से स्वच्छन्दता मिटेगी। साथ ही बार-बार विषयों का सेवन न करने का संकल्प करना चाहिए, ताकि साधना पक्की हो जाए।

दूसरा उपाय है—**एकत्वानुभूति को तोड़ना**—विषयसुखों के साथ होने वाली आत्मा की एकत्वानुभूति— स्मृति को तोड़ डालना चाहिए, क्योंकि विषय जड़ हैं, वे चैतन्य के साथ एकरूप हो नहीं सकते। यह एकत्वानुभूति भ्रान्ति है।

तीसरा उपाय है—**चार शरणों का ग्रहण**—यह भी इन्द्रियजय के लिए अमोघ उपाय है।

चौथा उपाय है—**आलोचना-निन्दना-गर्हणा**—असावधानी से यदि इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त हो गई हों तो मिथ्यादुष्कृत, आलोचना, आत्म-निन्दा, गर्हा आदि के अभ्यास से उन्हें वापस हटाना, आत्मा की सेवा में लगाना। दोष परिहार और शुद्ध चेतना का स्वीकार।

पाँचवाँ उपाय है—**इन्द्रियविजेता महात्माओं के सुकृत की अनुमोदना करना।**

छठा उपाय है—**प्रेक्षासाधना**—एक आसन पर स्थिर होकर बैठ जाना और इन्द्रियाँ (इन्द्रिय-प्रेरित मन) को देखते रहना कि वे कहाँ-कहाँ जाती हैं ? उन्हें विषयों से अलग न करके केवल उपयोग को मोड़कर अन्त-र्मुख करना। ऐसा करने से इन्द्रियाँ स्वयं थककर विषयों से स्वतः निवृत्त हो जाती हैं। पदार्थ को देखना और जानना मात्र कर्मबन्धन का हेतु नहीं है। चूंकि आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है। ज्ञान-दर्शन बन्ध का हेतु नहीं होता। किन्तु जानने देखने के साथ ही यह विकल्प करना कि यह सुन्दर है, यह असुन्दर है यही राग और द्वेष का अनुभव करना कर्मबंध का कारण है। प्रेक्षासाधना में केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहना है। परन्तु अपने उपयोग का मन और इन्द्रियों से अलग करने में सावधानी अपेक्षित है।

सातवाँ उपाय है—**आत्मा को शयन और प्रमाद से दूर रखना**—स्वामी सोया रहे तो नौकर स्वच्छन्द हो जाते हैं। इसी तरह आत्मा सोया रहेगा तो इन्द्रियों का जोर चलेगा, वे उच्छृंखल हो जायेंगी। अतः आत्मा को जागृत और इन्द्रियों को सुलाये रखना अभीष्ट है। इन्द्रियों का शयन है—विषयों में रसहीन होना और स्वामी (आत्मा) के अधीन होना। आत्मा की

अंशमात्र असावधानी (गफलत) से इन्द्रियाँ चंचल होकर साधना को चौपट कर सकती हैं। जैसे—तप-संयम में शूर श्रेणिकपुत्र नंदीषेण असावधानी से गणिका के रूप में मुग्ध हो गये थे, तरुणी की देह सौरभ से आकृष्ट होकर बालमुनि गंधविषय के प्रवाह में बह गये थे। गुरुभक्त, तपोलीन लब्धिमान आषाढ़भूति मुनि को जिह्वारसविषय ने जरा-से प्रमाद के कारण भ्रष्ट कर दिया। संयमी एवं घोरतपस्वी सम्भूतमुनि चक्रवर्ती की रानी के कोमल केशपाश के जरा-से स्पर्श-विषय को पाकर साधना से स्खलित हो गये थे। संगीत स्वर के मधुर आकर्षण ने ज्योति-साध्वी को संयम से पतित कर दिया था। ये सब उदाहरण साधक जीवन में जरा-सी आत्मजागृति के अभाव के सूचक हैं।

इन्द्रियनिग्रह का आठवाँ उपाय है—**आहार-संयम तथा तपश्चर्या**—उत्तेजक, रसीले, नशीले एवं शक्तिवर्द्धक खाद्य-पेय पदार्थों का त्याग, अत्यधिक आहार सेवन-त्याग, अभक्ष्य-अपेय पदार्थों का त्याग, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप और रसपरित्याग तप; ये उपाय भी इन्द्रियनिग्रह के लिए जरूरी हैं।

नौवाँ उपाय—**सुकुमारता एवं सुखशीलता का त्याग**—सौकुमार्य एवं सुखाभ्यास, ये दोनों विकारजनक हैं, अतः इनके निवारण के लिए विविध शय्याशन, उग्रविहार, एवं आतापना, स्थिर आसनों का अभ्यास आदि कायक्लेश तप आवश्यक हैं। इनसे साधक इन्द्रिय-विषयों के संयोग से दूर हो जाता है।

दसवाँ उपाय है—**प्रतिसंलीनता-साधना**—प्रत्येक पदार्थ को दो प्रकार से देखा जाता है। उसका एक रूप मधुर और दूसरा कटु प्रतिभासित होता है। मन की स्थिति ऐसी है कि वह मधुर रूप पर झट आकर्षित होकर इन्द्रियों को उसमें प्रवृत्त कर देता है। साधक उस समय उन इन्द्रियों को वहाँ से तुरन्त नहीं हटाता है, उन विषयों के मधुर रूप पर राग और कटु-रूप पर द्वेषभाव करने में मन को जोड़ देता है तो उससे पापकर्म का बंध होता है। साधक को उस समय जागृत रहकर तुरन्त प्रतिसंलीनता अपनानी चाहिए, जिसका अर्हतर्षि सोरियायन निर्देश कर रहे हैं—

दुद्दंते इन्दिए पंच, राग-दोसपरंगमे।
कुम्मोविव स-अंगाइं, सए देहम्मि साहरे ॥२॥

राग और द्वेष में प्रवृत्त पाँचों इन्द्रियाँ दुर्दान्त बन जाती हैं। अतः साधक राग और द्वेष या अप्रशस्त पथ में से किसी के आघात की आशंका

होते ही जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, वैसे साधक भी आस्रव की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों का संवरण कर ले, आत्मस्थ कर ले।

यही प्रतिसंलीनता-तप है। इसमें अशुभ प्रवृत्ति में प्रविष्ट होती हुई इन्द्रियों को तुरन्त वहाँ से हटाकर आत्मस्थ करना होता है। इसके लिए स्वाध्याय, सुध्यान, कायोत्सर्ग आदि तप भी उपयोगी हो सकते हैं।

कई लोग विषयों के ऊर्ध्वीकरण को भी इन्द्रिय जय का मार्ग बताते हैं। परन्तु सभी विषयों का ऊर्ध्वीकरण सम्भव नहीं है। प्रशस्त उद्देश्य से इन्द्रियों की प्रवृत्ति इन्द्रियों को अधोगामी होने से बचाकर ऊर्ध्वगामी बनाती है, परन्तु इसमें सहज संयम के नाम से इन्द्रियसंयम की लगाम ढीली हो जाती है। फिर श्रोत्रेन्द्रिय का शुभविषय—आगम-श्रवण, भगवद्गुणगान-श्रवण आदि तथा चक्षुरिन्द्रिय का शुभविषय—पठन-पाठन करना-कराना, तथा जीवों की दया करना, देखकर यतना से चलना आदि द्वारा ऊर्ध्वीकरण हो सकता है, किन्तु गंध, रस और स्पर्श का इन्द्रियों से सम्बन्ध और उनमें प्रवृत्त हुए बिना भोग नहीं हो सकता और भोगों का शुभविकल्प कोई नहीं है। अतः इन तीनों इन्द्रियों का ऊर्ध्वीकरण सम्भव नहीं है।

कोई हठयोग के साधक यह कहते हैं कि जो भी इन्द्रिय असंयम-अप्रशस्त मार्ग पर जाए, उसे वहीं तोड़-फोड़ देना चाहिए, जिससे 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी'। परन्तु जैनदर्शन इससे सम्मत नहीं है। द्रव्येन्द्रिय को मारने से इन्द्रिय संयम कैसे हो जाएगा? जबकि विषयों के प्रति राग-द्वेष का सम्बन्ध (मन) भाव के द्वारा होता है। इसलिए भावेन्द्रिय को साधना चाहिए। इन्द्रिय अश्व हैं। अश्व को मारकर उसका कचूमर निकाल देना कुशल चालक का काम नहीं, अपितु विपथ से मोड़कर सुपथ पर चलाना है। इसी प्रकार कुशल साधक विपथगामी इन्द्रियों को मारता नहीं, किन्तु प्रशस्त पथ पर मोड़ता है। बहिर्मुखी इन्द्रियों को अतर्मुखी करना ही इन्द्रिय-विजय की साधना का प्राण है।

ये ही संसार की हेतु, ये ही मोक्ष की हेतु

जिन इन्द्रियों को आम लोग आत्मविकास में विघ्नकारक मानते हैं, यथार्थ में आत्मकल्याण एवं आत्मविकास में कारण भी वे ही बनती हैं। जब तक इनका उपयोग मनुष्य बाह्य जीवन के सुखोपभोग में आसक्त होकर करता है, तभी तक वे शत्रु हैं, किन्तु ज्यों ही इन्हें आत्मकल्याण की ओर मोड़ देते हैं, अन्तर्मुखी बना देते हैं, त्यों ही ये साधक के संयम में पूर्ण सहायक भी बनती हैं।

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए अर्हतर्षि सोरियायन कहते हैं—

दुवन्ता इंदिया पंच, संसाराए सरीरिणं।
ते चेव णियमिया संता, णिज्जाणाए भवंति हि ॥१॥

देहधारियों की दुर्दान्त बनी हुई जो पाँचों इन्द्रियाँ संसार की हेतु बनती हैं, वे ही संवृत—नियंत्रित होने पर मोक्ष की हेतु बन जाती हैं।

वस्तुतः देखा जाए तो इन्द्रियाँ अपने आप में जड़ हैं, वे न तो संसार की हेतु हैं, और न ही मोक्ष की हेतु। उनके पीछे रही हुई शुभ-अशुभ भावना, या संयम-असंयम की वृत्ति-प्रवृत्ति ही मोक्ष और संसार की हेतु होती है। जैसा कि भगवद्गीता (३।३४) में कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक इन्द्रिय और उसके अर्थ (विषय) में जो राग और द्वेष निहित हैं, उन दोनों के वशीभूत न हो, क्योंकि ये दोनों ही आत्मविकास के मार्ग में विघ्न करने वाले प्रबल शत्रु हैं।

निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा इन्द्रियों पर शासन करता है, तब वे मोक्षहेतुक बनती हैं और जब इन्द्रियाँ आत्मा पर शासन करती हैं, तब वे संसारहेतुक बनती हैं। अपनी आन्तरिक निर्मलता—रागद्वेष से निर्लिप्तता बनाये रखने से इन्द्रियाँ स्वतः संयमित होने लगती हैं। इस व्यवस्था का आधार है इन्द्रियों को सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग में लगाये रखना।

इन्द्रियों को यथास्थान जोड़ना ही अभीष्ट

अतः इन्द्रियाँ हमारी शत्रु नहीं, सेवक हैं, साध्य प्राप्ति के लिए सहायक साधन हैं। ये साधना के मार्ग पर चलने में सहायक एवं सेवक हैं; बशर्ते कि इन्हें यथास्थान इनके अनुरूप कार्य में जोड दें! आत्मा पदार्थों के विषय में परोक्षज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। अगर इन्द्रियाँ न हों तो शब्द, रूप, रस, गंध एव स्पर्श का ज्ञान कैसे होगा? जितना भी परोक्ष ज्ञान है, वह सब इन्द्रियों एवं मनो-इन्द्रिय के सहयोग से आत्मा को मिलता है। इसी तथ्य को उजागर करते हुए महर्षि कहते हैं—

वण्ही सरीरमाहारं जहा जोएण जुंजती।
इन्दियाणि य जोए य, तहा जोगे वियाणसु ॥३॥

जिस प्रकार अग्नि आहार और शरीर को यथास्थान जोड़ती है, वैसे ही इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों को आत्मा के साथ जोड़ती हैं और योग को सक्रिय बनाती हैं।

बन्धुओ !

जिस प्रकार अग्नि आहार पकाती है, अगर उसे अधिक जलाया जाए तो वह रोटी आदि को जला देगी, अत्यन्त कम जलाया जाए तो रोटी को कच्ची रख देगी अतः मात्रा में प्रज्वलित किया जाए तो वह आहार को ठीक ढंग से पका कर शरीर के लिए उपयोगी बना देती है, अथवा जठराग्नि खाये हुए भोजन का पाचन करके शरीर के विभिन्न अवयवों को शक्ति प्रदान करती है, वैसे ही इन्द्रियाँ और योगत्रय (मन-वचन-काया) पदार्थों को आत्मा तक पहुंचाते हैं। अतः इन्द्रियों का जहाँ-जहाँ जिस-जिस रूप में संयोजन किया जाए तो वे भी आत्मविकास और आत्मकल्याण में उपयोगी हो सकती हैं, लक्ष्य तक पहुंचा सकती हैं, रत्नत्रय की साधना को शुद्ध रख सकती हैं। अतः आप भी इन्द्रियों का यथायोग्य उपयोग करके इन पर नियंत्रण रखकर इन्द्रियजयी बनें, यही महानता का मूल है।

□□

२०

आत्मविद्या से कर्मविमुक्ति

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

आज हम जीवन के उस पहलू पर विचार कर रहे हैं, जिससे साधक जीवन में प्रकाश पाकर अपने आपको मुक्त कर सके। जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों पास-पास ही रहते हैं, इसी प्रकार मानव जीवन में वे दोनों पास-पास ही रहती हैं, इसी कारण उसे पहचानने में आम आदमी भूल कर बैठता है। अतः उन्हें हम दो नामों से पुकारेंगे। एक का नाम है विद्या और दूसरी का नाम है अविद्या। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं, किन्तु मिथ्याज्ञान है। ज्ञान तो चेतना का लक्षण है, वह सभी में रहता है, किन्तु किसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है तो किसी का मिथ्याज्ञान। इसका कारण है अन्तर् में रही हुई कषाय आदि वृत्तियाँ।

विद्या का महत्व और विद्यावान का जीवन

विद्या और अविद्या की पहचान न कर पाने के कारण अधिकांश लोग दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः इस सतरहवें अध्ययन में अर्हतर्षि विदु विद्या की महत्ता, उसका लक्षण आदि बताकर प्रत्येक साधक को उक्त अध्यात्मविद्या को अपनाने का निर्देश कर रहे हैं—

इमा विज्जा महाविज्जा सव्वविज्जाण उत्तमा।
जं विज्जं साहइत्ताणं सव्वदुक्खाण मुच्चति ॥१॥

वह विद्या महाविद्या है, और समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है; जिस विद्या की साधना कर मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

विद्या का महत्व सभी आस्तिक धर्मों और दर्शनों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसका कारण है कि विद्यावान् व्यक्ति हर एक वस्तु के वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जान-देख पाता है। विद्यावान् व्यक्ति कैसी

भी संकटापन्न परिस्थिति से घबराता नहीं, वह विद्या के बल से युग की नब्ज परख लेता है। वह यह जान लेता है कि युग की माँग क्या है ? विश्व की गतिविधि को वह बखूबी जान लेता है। विद्यावान् बहुत शीघ्र जान लेता है कि कौन-सा कार्य या विचार हेय है, कौन-सा उपादेय है और कौन-सा ज्ञेय है ? कौन-सा कृत्य धर्म है, कौन-सा अधर्म है ? अपना कर्तव्य या दायित्व क्या है ? इस बात को विद्यावान् जान लेता है। जीवन में आने वाली विपत्ति और सम्पत्ति के क्षणों में विषाद और हर्षावेश से युक्त नहीं होता। नीतिकार कहते हैं—

परिच्छेदो हि पांडित्यं यदाऽपन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेद-कर्तृणं विपदः स्युः पदे-पदे ॥

जब विपत्तियाँ आती हैं, तब उनके साधक-बाधकों का विश्लेषण करना ही पांडित्य—विद्यावत्ता है, किन्तु जो ऐसे समय में विवेक करना नहीं जानते, उनके पद-पद पर विपत्तियाँ आती हैं।

विद्यावान् व्यक्ति धर्म के सम्बन्ध में कदाचित् उलझन आ जाय तो शान्त चित्त होकर चिन्तन करता है, उसमें से निकलने का रास्ता निकाल लेता है, जबकि अविद्यावान् धर्म की बात को सुनता ही नहीं, कदाचित् सुन ले तो उस पर अमल नहीं करता। अविद्यावान् व्यक्ति हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म आदि का विवेक नहीं कर पाता। वह न तो हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक कर पाता है और न अपने आत्मिक लाभ-अलाभ की सोचता है। वह सुन्दर और मनोज्ञ प्रतीत होने वाले, किन्तु परिणाम में घोर दुःखदायी विषय-भोगों को सुखकारक मानता है, किन्तु उन्हीं विषय-भोगों में फँसकर वह इस जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर में विषय-भोगों का दास बनकर दुःख पाता है। खूबी यह है कि अविद्या से ओतप्रोत जन सुख के वेष में आये हुए दुःख को सुखरूप समझते हैं। वे हेय-ज्ञेयादि विवेक से रहित होने के कारण हर वस्तु को प्रायः विपरीत रूप में ग्रहण करके दुःख पाते हैं। यही कारण है कि इष्ट वस्तु या विषय के संयोग के समय वे हर्षावेश में आ जाते हैं, तथा अनिष्ट के संयोग में झुँझला उठते हैं, सहनशीलता नहीं रख पाते। अपने अज्ञान के कारण अविद्यावान् पुरुष पद-पद पर दुःखी होता रहता है। वह इष्ट वस्तु की प्राप्ति, रक्षा, वियोग इन सभी में जान-बूझकर दुःखी होता है। दुःख आता नहीं, वह उसे जानकर न्यौता देता है। भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था—

जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुम्पंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए॥

जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं। ऐसे हिताहित अविवेकी मूढ़ प्रायः अनन्त संसार में बार-बार मरते हैं।

परन्तु विद्यावान् आत्मा उस विद्या की साधना करके सर्वदुःखों से मुक्त हो जाती है।

दक्षिण भारत के संत तिरुवल्लुवर इसी प्रकार के विद्यावान् पुरुष थे। वह गृहस्थजीवन में रहते हुए संत का सा जीवन जीते थे। वे व्यापारी थे परन्तु अत्यन्त प्रामाणिक, सत्यवादी और क्रोध से रहित थे। वे फेरी करके कपड़ा बेचते थे। ग्राहक के साथ वे कभी ठगी, धोखेबाजी या नाप में गड़बड़ नहीं करते थे। सदैव शान्ति से बात करते थे।

एक बार वे साड़ियाँ बेचने के लिए बाजार में आए। एक धनिकपुत्र अपने मित्र के साथ वहाँ आया। उसे तिरुवल्लुवर की जीवन सौरभ ज्ञात थी। उसने अपने धनिक मित्र के समक्ष तिरुवल्लुवर की प्रशंसा की। अतः कुतूहलवश उस धनिकपुत्र ने उनकी प्रामाणिकता और शान्ति की परीक्षा के लिए पूछा—'सेठ ! इस साड़ी की कितनी कीमत है ?'

तिरुवल्लूवर बोला—'साड़ी का मूल्य सिर्फ दो रुपये है ?'

धनिकपुत्र—'बस, दो हो रुपये ?'

"हाँ, सिर्फ दो रुपये। इसमें रुई, उसकी कताई, पिंजाई, रंगाई, बुनाई एवं मजदूरी और उस पर रुपये पर मेरा पाँच पैसा मुनाफा मिलाकर मैं सिर्फ दो रुपये में इसे बेचता हूं।"

धनिकपुत्र ने कहा—"देखूं तो कैसी है यह साड़ी ? ठीक देख-परख लूँ।" यों कहकर धनिकपुत्र ने साड़ी को खोलने के बहाने जोर से झटका देकर उस साड़ी को फाड़ दी और फिर कहा—"लो, इस फटी साड़ी का अब क्या करूँ ? मेरे किस काम की है यह साड़ी। इसे तुम ही रख लो।"

शान्त वाणी से तिरुवल्लुवर ने कहा—"ठीक बात है। अब यह साड़ी तुम्हारे काम की नहीं रही। लाओ, मैं इसे वापस रख लेता हूं।"

इस पर आश्चर्यमूढ़ बनकर धनिकपुत्र ने कहा—"सेठ ! आपको कितना नुकसान हुआ ? आपकी साड़ी फट गई, फिर भी आपको मेरे पर गुस्सा नहीं आता ?"

तिरुवल्लुवर— "ना भाई ! गुस्सा किस पर करूँ ? एक जड़ वस्तु के लिए मैं अपनी आत्मा की अमूल्य शक्ति खर्च करूँ ? प्रकृति ने कपास का पौधा बनाया। धरती का अमृतपान करके वह बड़ा हुआ। उसमें अनेक कपासिये लगे, जिन्होंने मिलकर साड़ी के परिमाण में कपास दिया। कपास लोढ़ने वाले ने कपास लोढ़कर उनमें से कपासिये अलग किये। पींजने वाले ने कपास को पींजा, पूनी बनाने वाले ने पूनियाँ बनाईं। कई हाथों ने चर्खे पर उसे काता और सूत तैयार किया, रंगरेज ने उनको अनेक पक्के रंगों में रंगा। बुनकर ने विविध रंगी सूत यथास्थान जोड़कर सुन्दर साड़ी बनाई। अब वह साड़ी फट गई तो मैं किस पर गुस्सा करूँ ? साड़ी के निर्माण में इतने हिस्सेदारों में से किसकी मेहनत व्यर्थ गई ? भाई ! तुम ही कहो, क्रोध करने का कोई स्थान रहा है ?"

वह धनिकपुत्र तो यह सुनकर सिसक-सिसक कर रोने लगा। उसने तिरुवल्लुवर के चरणों में गिरकर कहा—'महात्मन् ! मुझे क्षमा करें। धनवानी के नशे में आकर मैंने ऐसा किया है। आपने मेरी आँख खोल दीं।'

जो काम साड़ी देने से नहीं हुआ, वह काम साड़ी वापस लेने से हो गया। एक धनिकपुत्र का जीवन बदल गया। तिरुवल्लुवर ने उससे कहा— "साड़ी की इतनी कीमत नहीं है, जितनी जीवन की है ? साड़ी बिगड़ी, उसकी मुझे इतनी चिन्ता नहीं है, परन्तु कीमती जीवन बिगड़े, इसकी मुझे चिन्ता थी। अतः भाई ! तुम्हारा कीमती जीवन न बिगड़े, इसका ध्यान रखना।"

यह है एक विद्यावान् का जीवन !

विद्यावान् का अर्थ साक्षर नहीं, आधुनिक पैसा कमाने वाली विद्याएँ पढ़ा हुआ शिक्षित भी नहीं, न ही बी. ए., एम. ए. पढ़ा हुआ ग्रेज्युएट या पोस्ट-ग्रेज्युएट होने से होता है। जिसमें बौद्धिक प्रतिभा नहीं होती, या सात्त्विक व्यवसायत्मिका बुद्धि भी नहीं होती, न ही आध्यात्मिक जिज्ञासा होती है, उसे विद्यावान् नहीं कहा जा सकता। किसी को विद्यावान् तभी कहा जा सकता है, जब उसमें बौद्धिक प्रतिभा, व्यावहारिक एवं सात्त्विक धर्मयुक्त बुद्धि, सिद्धान्तनिष्ठा एवं तत्वश्रद्धा हो, भले ही वह लौकिक विद्याओं से सम्पन्न न हो।

आजकल सफेदपोश और छैल-छबीले वेश में अनेक अविद्यामूर्ति फिरते दिखाई देते हैं। परन्तु उनकी बातचीत, चाल-ढाल, गुणावगुण या व्यवहार पर से ही प्रायः विद्यावान् और अविद्यावान् की परख की जा सकती है। वैसे तो सभी अपने आपको विद्यवान् कहलाना पसंद करते हैं। अतः

विद्यावान् और अविद्यावान् के यथार्थ अर्थ समझने के लिए हमें सबसे पहले विद्या और अविद्या का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

विद्या का स्वरूप

यों तो विद्या शब्द मंत्रशास्त्र में भी प्रसिद्ध है। विशिष्ट मंत्रों द्वारा चमत्कारी शक्तियों (देवियों) की आराधना और सिद्धि को भी विद्या कहा गया है। भौतिक ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखा भी विद्याएँ कहलाती हैं। लौकिक व्यवहार में भाषाविज्ञान, अंकगणित, ज्यामिति, बीजगणित, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, कामविज्ञान (सेक्स-साइकोलोजी), शिक्षामनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, इतिहास, भूगोल, खगोल, भौतिकविज्ञान आदि विविध ज्ञान-विज्ञान बहुविध कला एवं शिल्प को विद्या कहते हैं।

वैसे तो व्याकरण के अनुसार विद्या का अर्थ होता है—जिससे जाना जाय। परन्तु धर्मशास्त्रों और ग्रन्थों में विद्या शब्द कई विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

जैन-विद्या-विशारदों ने लौकिक और लोकोत्तर यों दो भेद विद्या के बताए हैं। लौकिक विद्या के १४ भेद उन्होंने माने हैं—चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। इन चार वेदों के भी छह अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इसके अतिरिक्त (११) इतिहास पुराण, (१२) मीमांसा, (१३) न्याय और (१४) धर्मशास्त्र; ये चार मिलकर कुल १४ विद्याएँ हैं।

वैदिक विद्वानों ने लौकिक विद्या को अपराविद्या भी कहा है।

ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में सच्ची विद्या है—

सा विद्या या विमुक्तये

वही वास्तव में विद्या है, जो जीवों को बन्धनों से मुक्त कर दे। सच्ची विद्या शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बन्धन को काटने तथा स्वातंत्र्य प्राप्त करने का ज्ञान करा देती है। वह मनुष्य को स्वावलम्बी, सदाचारी, आत्मपरायण बनाती है, विषयभोगों से छुटकारा दिला देती है, आत्मसंयम की कला सिखाती है। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि लौकिक विधाओं के साथ यदि अध्यात्म, सद्धर्म और नीति का सम्पुट हो तो ये विद्याएँ भी कथंचित् उपादेय हो सकती हैं। किन्तु समग्र रूपेण उपादेय तो

अध्यात्मविद्या या लोकोत्तर विद्या है । वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ गीता (१०।३२) में भी समस्त विद्याओं में इसी विद्या की महत्ता बताते हुए कहा है—

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'

—विद्याओं में अध्यात्मविद्या ही श्रेष्ठ है।

अर्हतर्षि विदु भी इसी अध्यात्मविद्या की परिभाषा इस प्रकार बताते हैं—

जेण बंधं च मोक्खं च जीवाणं गतिरागतिं ।
आयाभावं च जाणति, सा विज्जा दुक्खमोयणी ॥२॥

—जिसके द्वारा आत्मा के बन्ध और मोक्ष, तथा जीवों की गति-आगति का ज्ञान होता है, एवं जिसके द्वारा आत्मभाव का अवबोध होता है, वही विद्या दुःखों से विमुक्त करने में सक्षम है।

वास्तव में इसी विद्या को महाविद्या कहा गया है, जिसे वैदिक विद्वानों ने पराविद्या कहा है। शंकराचार्य ने अपनी प्रश्नोत्तरी में इसी विद्या की ओर संकेत किया है—

'विद्याहि का ? 'ब्रह्मगतिप्रदा या ।'

विद्या क्या है ? जो ब्रह्मगति (आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान) प्रदान करने वाली हो। अथवा-परमात्मा की गति-मुक्ति को प्राप्त कराने वाली हो।

समूचे संसार का ज्ञान प्राप्त करके भी यदि अपने आपका ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो वह विद्या क्या काम की।

एक मंत्रवादी था। झाड़-फूंक कर लोगों के भूत-प्रेत निकालता था। उसका घर बहुत टूटा-फूटा था। बरसात आती तो सारी झौंपड़ी चूने लगती। रातभर पानी टपकता रहता। पत्नी कहती—तुम कुछ फुर्सत निकालकर अपना घर तो बांध लो। दुनियां भरके भूत-प्रेत भगाते हो और अपना घर भूतों का सा घर बना हुआ है। इसे ठीक ठाक कर लो।

पर मंत्रवादी पत्नी की बात नहीं मानता।

एक दिन वह झाड़ा दे रहा था। मंत्र बोलने लगा— आकाश बांधू, पाताल बांधू, सात समुद्र बांधू, भूत बांधू, प्रेत बांधू…

पत्नी ने यह सुना। उसे बड़ी चिढ़ आई। हाथ में झाड़ू लेकर उठी और उसकी पीठ पर दो चार झाड़ मारकर बोली—

"आकाश-पाताल बांधने की गप्पे मारते हो, और अपनी झौंपड़ी तो बांध ही नहीं सकते झूठे गपोड़शंख कहीं के..........

लोग भी देखते रह गये।

तो जो आकाश-पाताल-समुद्र बांधने की बात करे और अपना झौंपड़ा भी न बांधे तो क्या कहेंगे उसे ?

इसी प्रकार दुनियां भर का ज्ञान बघारने वाला यदि खुद को भी नहीं जाने तो उसका ज्ञान क्या काम का है ?

वस्तुतः सच्ची महाविद्या वह है जो मानव को अन्धकार से प्रकाश की ओर या बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाए। जो क्रिया शारीरिक ममत्व, आवेगों के प्रवाह, कषायों और राग-द्वेष-मोह, तथा विषयासक्ति में बंधने की क्षिशा देती है। चोरी, ठगी, बेईमानी, तस्करी आदि को कला सिखाती है, वह विद्या के नाम पर कुविद्या है, वह भयंकर कर्मबन्धन में डालकर मनुष्य को दुर्गति का मेहमान बना देती है। अध्यात्म रामायण में विद्या और अविद्या का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति कथ्यते ॥

—मैं शरीर हूँ इस प्रकार की जो बुद्धि है, वही अविद्या कहलाती है। किन्तु मैं शरीर नहीं, सच्चिदानन्दघनस्वरूप आत्मा हूं इस प्रकार की बुद्धि को 'विद्या' कहा जाता है।

संक्षेप में, जो आत्मा की शान्ति-पिपासा बुझा सके, दुःखपरम्परा को समाप्त करने की शिक्षा दे तथा आत्मा को अपनी पहचान करा दे, वही विद्या है। जो आत्मा के अहंता और ममता के क्षुद्र घेरों को तोड़कर मानव-मन को विराट् बनाती है।

आत्मभाव का परिज्ञाता जब अपनी शुद्ध स्थिति का अभाव पाता है, तब वह स्वयं को बन्धनबद्ध महसूस करता है, फिर उसकी जिज्ञासा बन्धन-मुक्ति की होती है। बन्धनमुक्ति के लिए पुरुषार्थ बन्धन के कारणों को दूर करने और उपाय को क्रियान्वित करने के लिए कटिबद्ध करता है। इस प्रकार यह लोकोत्तर विद्या सर्व दुःखों से मानव को विमुक्त करती है।

इसके विपरीत जो विद्या व्यक्ति को स्वावलम्बी नहीं बनाती, माता-पिता के आश्रित बनाती है, आत्मिक दीनता से पिण्ड नहीं छुड़ा सकती, वह विद्या विद्या के रूप में एक प्रकार की अविद्या है।

प्राचीनकाल में शिशु को बाल्यकाल से ही आत्मविद्या का सिंचन मिलता था। मदालसा का आख्यान इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मदालसा अपने बालकों को बचपन में पालने में झुलाती हुई उन्हें आत्मा की अनन्त शक्तियों का बोध कराती थी। वह गाती थी—

शुद्धो (सिद्धो)ऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
संसार — माया — परिवर्जितोऽसि।
संसार—स्वप्न त्यज मोहनिद्राम्।
मदालसा पुत्रमुवाच वाक्यम्॥

मदालसा अपने पुत्र को इस प्रकार कहती थी—हे वत्स ! तू शुद्ध है, कषायों तथा राग-द्वेष-मोहादि के विकारों से रहित निर्मल आत्मा है। अथवा तू सिद्ध है, तेरे में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की सिद्धियाँ हैं, तु बुद्ध है—जागृत है, प्रकर्ष प्रज्ञा तेरे में हैं। तू निरंजन है, तुझे कोई भी व्यक्ति वासना के रंग में रंग नहीं सकता। तू मुक्त है—अर्थात्—संसार परिभ्रमण कराने वाली माया—कर्म प्रकृति से तू रहित है, तुझे बाँधने वाली कोई भी शक्ति संसार में नहीं है। संसार एक स्वप्न है, इसमें क्षणिक सुखाभास को सुख मत मान। इसके मोह में मत फँस। मोहनिद्रा को छोड़।

इस प्रकार जिस शिशु को पालने में ही ऐसा मुक्ति गीत—आत्मसंगीत सुनने को मिले, वह युवावस्था में तेजस्वी, त्यागी और प्रतापी क्यों नहीं हो सकता ? आत्मा की अनन्त शक्तियों को जिसने जान लिया, जिसने उन्हें मन में केन्द्रित कर लिया, उन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया, वह शिशु युवावस्था आते ही सांसारिक प्रपंचों से विरक्त और आत्मभाव में रत क्यों नहीं होगा ? यही हुआ। सती मदालसा ने अपने सातों पुत्रों को ऐसी आत्मविद्या दी, जिससे वे बाल्यावस्था में ही विरक्त और त्यागी बन गए।

परन्तु आज बचपन से ही माता-पिता की ओर से आत्मविद्या नहीं, शरीर की विद्या सिखाई जाती है, शरीर की रक्षा के लिए कैसे धन, धान्य, मकान आदि प्राप्त करने आदि की प्रायः शिक्षा-विद्या मिलती है। धन और वैभव की चकाचौंध में मनुष्य अपनी सन्तान को आत्म-विद्या से बहुत दूर रखता है, शुद्ध धर्म और नीति के तथा धर्ममय संस्कृति के विचार उसमें आएँ तो कैसे आएँ ?

वर्तमान युग में इसी आत्मविद्या के अभाव में देश के नौनिहालों का भरण-पोषण विलासिता के वातावरण में होता है, इस कारण वह पुरुषार्थहीन, निर्वीर्य, डरपोक और कायर बनाता है। विद्या मन्दिरों में भी संयम,

पवित्रता और सादगी का वातावरण लुप्त हो रहा है। आज के विद्यार्थियों में अशिष्टता, असभ्यता और अविनयवृत्ति दिखाई देती है। ज्ञानस्य फलं विरतिः' 'ज्ञान का फल दुर्वृत्तियों से विरति है' के बजाय दुर्वृत्तियों में प्रवृत्ति है। कटु शब्दों में कहूँ तो आज का विद्यार्थी ऐसी विद्या पढ़ता है, जिससे चोरी छिपाई जा सके, असत्य को सत्य बनाया जा सके। इस प्रकार का कौटिल्य शास्त्र वह पढ़ता है।

एक विद्यार्थी से पूछा गया कि तुम्हारी विद्या प्राप्ति का ध्येय क्या है ? तो उसने तपाक से उत्तर दिया—"मेरा ध्येय है वकील बनने का। आजकल कायदे-कानून बहुत बढ़ गये हैं। अगर वकालत न पढ़ें तो इन कायदा-कानूनों के चंगुल से छूटने का उपाय कैसे मिल सकता है ? इस युग में वकीलों के सहारे जीएँ तो हमारी आधी कमाई तो वकील ही खा जाएँगे ? अगर हम स्वयं वकालत सीखे हुए होंगे तो हमें कायदों के फायदे मिलेंगे।"

देखा, आपने ? यह है आज की विद्या, जो रोटी, रोजी, सुरक्षा और शान्ति की नहीं, ठगी और धोखेबाजी सीखने की विद्या रह गई है। वकालत सीखता है—टैक्स चोरी करने के लिए, अर्थशास्त्र सीखता है—अधिकाधिक धन कमाने के लिए, अन्य विद्याएँ सीखता है—अपने शरीर और कुटुम्ब के मौज-शौक के लिए। बताइए, ऐसी विद्याओं से मनुष्य की आत्मा का विकास कैसे होगा, उसका चरित्र ऊँचा कैसे उठेगा ?

अविद्यावान विद्यार्थी की मनोवृत्ति

विद्यावान् में जीवन की जो तेजस्विता, निर्भयता एवं आत्मनिर्भरता चाहिए, वह आज के विद्यार्थियों में शायद ही देखने को मिलेगी। मुझे एक विद्यार्थी की मनोवृत्ति का उदाहरण याद आ रहा है – वह इण्टर की परीक्षा देकर घर आया हुआ था। उसी अर्से में उसके यहाँ एक मेहमान आये हुए थे, वे तत्त्वचिन्तक थे। विद्यार्थी के पिताजी ने उसे उक्त तत्वचिन्तक मेहमान से मिलाया और उसके विद्याभ्यास का परिचय दिया। तत्वचिन्तक ने उसकी विद्या-प्राप्ति की थाह लेने की दृष्टि से उसे पूछा—'क्या पढ़ते हो ?'

विद्यार्थी—'सर ! मैं इण्टर की परीक्षा देकर आया हूं।'

आगन्तक—'अब क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—'बी० ए० पास करूँगा ?'

आतुन्तुक—'फिर क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—'फिर तो फर्स्ट क्लास पास होऊँगा तो विदेश जाकर एम० ए० करूँगा।

आगन्तुक—'एम० ए० होने के बाद क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—'फिर कोई नौकरी करूँगा।'

उक्त तत्वचिन्तक तो आगे से आगे प्रश्न पूछ रहे थे। उन्होंने पूछा—'फिर ?' विद्यार्थी को उत्तर दिये बिना कोई चारा न था। अतः कह डाला—'फिर तो प्रभुता में चरण रखूँगा अर्थात्—विवाह कर लूँगा।'

आगन्तुक—'ठीक है, फिर क्या करोगे ?'

विद्यार्थी—"फिर क्या ? फिर तो वृद्ध हो जाऊँगा।"

आगन्तुक ने प्रश्न का दौर आगे बढ़ाते हुए पूछा—'फिर ?' विद्यार्थी जरा घबराया। कोई उत्तर सूझता नहीं था। पिता को समक्ष देखकर उसने धीरे से कह डाला—"फिर तो मर जाएँगे।"

तत्वचिन्तक ने कहा—इतनी विद्या-साधना, अभ्यास और प्रवृत्ति के बाद भी मरना है ? क्या मरने के लिए इतना सब करना है ? अन्त में, मरना ही है तो, इतना विद्याभ्यास न करो, देशाटन न करो तो भी मरा जा सकता है ? क्या अपढ़ आदमी नहीं मरता ? तुम विद्यावान् हो, तो तुम्हें कहना चाहिए था—फिर अमर बनूँगा। मृत्यु को पराजित करूँगा। दुर्वृत्तियों पर विजय प्राप्त करूँगा। जीवन को आत्मगुणों से प्रकाशित करूँगा।' आत्मविद्या का अभ्यासी के लिए तो कहा गया है—'**मृत्युं तरति आत्मवित्**' आत्मविद्या का जानकार मृत्यु को भी पार कर जाता है। सुख-दुःख, संयोग-वियोग तथा सम्पत्ति-विपत्ति में अपनी आत्मा और मन की मस्ती न खोये, वहीं सच्चा विद्यावान् है।

विद्यावान् मानव सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि प्रकृति के खेलों को देखकर घबराता या रोता नहीं, वह समभावपूर्वक सहन करता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को सच्ची विद्या मिले तभी वह आत्मतत्वों का स्पर्श कर सकता है।

वर्तमान में माताओं द्वारा आत्मविद्या नहीं, देहविद्या

वर्तमान युग का मानव प्रकृति के निर्मल तत्त्वों से, एकान्त में आत्म-चिन्तन करने से, पुरुषार्थ से, तप और त्याग से डरता है। इसका कारण यह है कि ये माताएँ बचपन से ही रोते हुए बालक को चुप करने के लिए उसमें भय के संस्कार डालती हैं—"चुप रह, वह बाबा आया, कान काट लेगा ! वह बिल्ली आई, ले जायेगी। हौवा आया, ले जायेगा, इत्यादि।" इसका नतीजा यह होता है कि वह बालक मृत्यु के कगार पर हो तब तक डरता रहता है। जो प्राणियों से डरता है, वह मौत से भी डरेगा ही।

क्योंकि उसे बाल्यकाल से आत्मविद्या नहीं मिली, आत्मा की अमरता और उसकी शक्तियों का ज्ञान नहीं मिला। माता-पिता ने उसके देह का भरण-पोषण किया, परन्तु उसकी आत्मा का पोषण नहीं किया। देह का पोषण तो कुत्ते-बिल्ली भी करते हैं। मनुष्य का गौरव बच्चों के सिर्फ देहपोषण में नहीं, परन्तु उसकी आत्मा को शक्तिशाली, तेजस्वी, निर्भय और संस्कारी बनाने में है।

माता द्वारा आत्मविद्या की प्रेरणा से आर्यरक्षित का कायापलट

आर्यरक्षित का विद्याभ्यास पाटलिपुत्र में हुआ था। जब वह वेदादि १४ विद्याओं का अध्ययन करके दशपुर लौटा तो राजा आदि सबने उसका स्वागत-सत्कार किया, परन्तु माता सोमा उदास रही। उदासी का कारण पूछा तो माता ने कहा—'पुत्र ! तुमने जितनी विद्याएँ पढ़ी हैं, वे सब संसार को बढ़ाने वाली हैं, तुम अध्यात्मविद्या पढ़कर आओगे, तभी मुझे सन्तोष होगा। अध्यात्मविद्या ही संसार से पार उतारने वाली है। उसमें से एक-मात्र दृष्टिवाद का अध्ययन कर लोगे तो तुम्हारा बेड़ा पार है।' माता ने दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए आर्यरक्षित को यह कहकर भेजा कि 'आचार्य तोषलिपुत्र के पास जाकर इस अध्यात्मविद्या को पढ़ो और वे जैसा कहें, वैसा ही करो, तभी मुझे प्रसन्नता होगी।'

आर्यरक्षित आचार्य तोषलिपुत्र के पास पहुंचे, अपनी जिज्ञासा प्रकट की। उन्होंने गृहस्थाश्रम त्यागकर श्रमण बनने और विशिष्ट तपस्या व साधना अंगीकार करने पर अध्यात्मविद्या पढ़ाना स्वीकार किया। आर्य-रक्षित ने उनसे मुनिदीक्षा ले ली। अध्यात्मविद्या पढ़ी। फिर आगे के अध्ययन के लिए आचार्य ने उन्हें भद्रगुप्तसूरि के पास भेजा। उन्होंने दृष्टि-वाद के दस पूर्वों के ज्ञाता वज्रस्वामी के पास भेजा। आर्यरक्षित ने उनकी सेवा में रहकर दृष्टिवाद के नौ पूर्वों तक का अध्ययन कर लिया। वज्र-स्वामी ने उन्हें आचार्यपद दे दिया। फिर उनके लघुभ्राता फल्गुरक्षित बुलाने आ गये। अत्यानुग्रहवश वे उनके पास दशपुर चले गये। माता आदि सब उन्हें आत्मविद्यासम्पन्न देखकर अतीव प्रसन्न हुए। सारा परिवार प्रतिबुद्ध हुआ। फल्गुरक्षित भी दीक्षित हुआ। उनके निमित्त से अनेक व्यक्तियों का उद्धार हुआ। यह था बन्धनों और दुःखों से सर्वथा सर्वदा मुक्त करने वाली अध्यात्मविद्या का प्रभाव।

यह तो निश्चित है कि आत्मविद्या से कर्मबन्धन-मुक्ति अथवा दुःखों से सर्वथा विमुक्ति हो जाती है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि इस आत्मविद्या

में दुःखों के कारणभूत कर्मों से मुक्ति का उपाय क्या है ? इसी प्रश्न के उत्तर में अर्हतर्षि विदु कहते हैं—

सम्मं रोग-परिण्णाणं, ततो तस्स विणिच्छितं ।
रोगोसहपरिण्णाणं, जोगो रोगतिगिच्छितं ॥३॥
सम्मं कम्मपरिण्णाणं, ततो तस्स विमोक्खणं ।
कम्म-मोक्ख-परिण्णाणं, करणं च विमोक्खणं ॥४॥
बंधणं मोयणं चेव, तहा फल-परंपरं ।
जीवाण जो विजाणाति, कम्माणं तु स कम्महा ॥६॥

अर्थात्—'रोग-मुक्ति के लिए सर्वप्रथम रोग का परिज्ञान होना चाहिए। तत्पश्चात् उसका निदान तथा रोग के औषध का परिज्ञान (पहचान) होना चाहिए। तभी उस रुग्ण के रोग की चिकित्सा का संयोग आ सकता है। यही बात कर्म-विमुक्ति के लिए भी है। पहले सम्यक्-प्रकार से कर्म का परिज्ञान हो, बाद में उसके विमोक्ष का ज्ञान आवश्यक है। कर्म और उससे मोक्ष का परिज्ञान और तदनुसार आचरण आत्मा को मुक्त बना सकता है।'

'इस प्रकार आत्मा के बन्धन (रूपकर्म) और मोक्ष को तथा उसके फल की परम्परा को जो जानता है, वही कर्मश्रृंखला को तोड़ सकता है।'

अध्यात्मविद्या के सन्दर्भ में ये गाथाएँ अर्हतर्षि विदु ने प्रस्तुत की हैं। रोगविमुक्ति के लिए जिस प्रकार चार बातें आवश्यक हैं—

(१) मेरे देह में किसी प्रकार का रोग है, यह अनुभव।

(२) रोग की पहचान, कि रोग कौन-सा है ?

(३) रोग की औषध का ज्ञान।

(४) रोग की चिकित्सा शक्य और उससे रोगमुक्ति अवश्य होगी, ऐसा विश्वास।

इसी प्रकार कर्म से विमुक्ति के लिए भी चार बातें अपेक्षित हैं—

(१) कर्म है, जो आत्मा को बन्धन में डालता है, अर्थात्—कौन-सा कर्म है ? इसकी पहचान।

(२) कर्म से मोक्ष हो सकता है।

(३) कर्म और मोक्ष का स्वरूप-विज्ञान और

(४) उस ज्ञान को क्रियान्वित करना।

ये चारों ही बातें आत्मा को बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए हैं। बौद्धदर्शन में चार आर्यसत्य इसी से मिलते-जुलते हैं—(१) दुःख है,

(२) दुःख का हेतु है, (३) दुःखहान (दुःखों का अन्त) सम्भव है, (२) हानोपाय (दुःखों के अन्त करने का उपाय) है।

अध्यात्मविद्या में आत्मविकास में बाधक बन्ध और साधक मोक्ष का सर्वप्रथम ज्ञान आवश्यक है। वे कौन-से हेतु हैं, जिनके कारण आत्मा कर्मों से बद्ध होता है ? जब तक उन हेतुओं का ज्ञान नहीं होगा, तब तक आत्मा बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेगा। अतः बन्ध क्या है ? वह किस-किस प्रकार से होता है ? उसके कारण कौन-कौन से हैं ? बन्ध से आत्मा मुक्त हो सकता है या नहीं ? हो सकता है, तो किन उपायों से ? फिर तदनुसार आचरण करना यही आत्मविद्या का परम्परागत फल है, इसी से आत्मा कर्मशृङ्खला को तोड़कर बन्धनमुक्त हो सकता है।

आत्मा की रागद्वेषरूप परिणति ही भावकर्मबन्ध का हेतु है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच कर्मबन्ध वे हेतु हैं। भावकर्मबन्ध के द्वारा ही द्रव्यकर्म आत्मा से चिपकते हैं। उस अवस्था को द्रव्यबन्ध कहते हैं, जब कर्म और आत्मप्रदेश लोहपिण्ड में अग्निप्रवेशवत् एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं, यही द्रव्यबन्ध है।

कर्मबन्ध से मुक्त होने का दूसरा उपाय

अब अर्हतर्षि विदु कर्मबन्ध से मुक्त होने का दूसरा उपाय बताते हुए कहते हैं—

मम्मं ससल्लजीवं च, पुरिसं वा मोहघातिणं।
सल्लुद्धरणजोगं च, जो जाणइ स सल्लहा ॥५॥

अर्थात्—एक ओर—जो मर्म (कर्म के रहस्य) और सशल्य जीव को जानता है, तथा दूसरी ओर—मोह-रहित पुरुष को जानता है, साथ ही शल्य को नष्ट करने का योग जानता है, वही शल्य को नष्ट कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि कर्ममुक्त होने का दूसरा उपाय यह है कि साधक को एक ओर से शल्ययुक्त जीव को देखना और रहस्य जानना आवश्यक है, जिसके अन्तरतम की गूढ़ ग्रन्थियाँ दुर्भेद्य हैं, जो न अपने आत्मस्वरूप के प्रति स्पष्ट है, न ही परभावों के प्रति। दूसरी ओर वह मोहमुक्त वीतराग-पुरुष को देखता है, जिसकी अन्तर्गु त्थियाँ खुल चुकी हैं। ऐसी स्थिति में साधक का सरल निश्छल हृदय पहली सशल्य स्थिति से मुक्त होने के लिए उद्यत हो जाता है, फिर वह उस पूर्णमुक्तस्थिति को देखकर स्वयं बन्धन

को तोड़ने का उपाय करता है। शल्य नष्ट करने की साधना से साधक के मन-वचन-काय में एकरूपता आती है।

कर्मबन्ध से मुक्त होने का तीसरा उपाय

जब तक साधक के मन-वचन-काया जरा-सी भी सावद्य प्रवृत्ति (दोषयुक्त आचरण) करते रहते हैं, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए अर्हतर्षि विदु तीन गाथाओं द्वारा निर्देश करते हैं—

> सावज्जजोगं णिहिलं विदित्ता, तं चेव सम्मं परिजाणिऊणं।
> तीतस्स णिंदाए समुत्थितप्पा सावज्जवुत्तिं ण सद्दहेज्जा ॥७॥
>
> सज्झाय-झाणोवगतो जितप्पा संसारवासं बहुधा विदित्ता।
> सावज्जवुत्तीकरण ठितप्पा, निरवज्जवित्ती उ समाहरेज्जा ॥८॥
>
> परकीय-सव्व-सावज्जजोगं, इह अज्ज दुच्चरियं णायरे।
> अपरिसेसं णिरवज्जे ठितस्स, णो कप्पति, पुणरवि सावज्जं सेवित्तए ॥९॥

सावद्ययोग को समग्ररूप से जानकर, उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान करके अतीत (सावद्य) की निन्दा के लिए समुत्थित साधक आत्मा अब सावद्यवृत्ति पर श्रद्धा न करे।

स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ) एवं जितेन्द्रिय साधक स्वाध्याय और सुध्यान में रत रहकर संसारवास को अनेक प्रकार से जानकर सावद्यप्रवृत्ति, के कार्य में निरवद्यवृत्ति को स्वीकार करे।

समस्त परकीयवृत्ति (परभावों में प्रवृत्ति) सावद्ययोग है। यह जान लेने के बाद साधक दुश्चरित्रता का समग्ररूप से परित्याग करे। निरवद्यरूप से सर्वथा स्थित साधक के लिए पुनः सावद्य-सेवन करना कल्पनीय नहीं।

आत्मा में जब तक सावद्ययोग है, तब तक कर्म उससे पृथक् नहीं हो सकेंगे। अतः सर्वप्रथम साधक सावद्ययोग का विवेक करे कि कहाँ-कहाँ किस-किस रूप से सावद्य जीवन में आता है? तत्पश्चात् ज्ञपरिज्ञा से वस्तुस्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका प्रत्याख्यान करे। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्याख्यान (त्याग) वर्तमान में हुई सावद्ययोग प्रवृत्ति का ही हो सकता है। अतः कहा कि अतीतकाल में हुई सावद्य प्रवृत्ति की आलोचना-निन्दना (पश्चात्ताप) और गर्हणा करे। तथा भविष्य में कोई सावद्यक्रिया न हो जाये, इसके लिए भविष्यकालीन सावद्य प्रवृत्ति के प्रति श्रद्धा न करे, अगर हिंसा आदि सावद्यवृत्ति-प्रवृत्ति में रंचमात्र भी श्रद्धा

शेष रही तो कर्मबन्ध से पूर्णतया छुटकारा नहीं होगा, फिर मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

एक प्रश्न फिर उठा कि जब तक शरीरहै, तब तक कुछ न कुछ सावद्यप्रवृत्ति न चाहते हुए भी हो जाती है। आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियों से देखना-सुनना आदि क्रियाएँ अवश्य होंगी, उनसे दोष लगना भी सम्भव है। अतः साधक सावद्यप्रवृत्ति से यथाशक्ति मन, बुद्धि और इन्द्रियों से दूर रहने के लिए जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बने। साथ ही स्वाध्याय और सुध्यान में रत रहकर संसारवास (संसार की गतिविधि) का अथवा विश्व-व्यवस्था का सही दर्शन करे, साथ ही सावद्यप्रवृत्ति में भी राग-द्वेष-मोह न रखकर उनसे अनासक्त वीतराग होकर रहे तो सावद्यकार्य होते हुए भी पापकर्म का बन्ध न होगा। सावद्यप्रवृत्ति में यही सम्यक् यत्नाचार है,

निरवद्यवृत्ति का स्वीकार है।

जितनी भी परभावों में प्रवृत्ति है, वह सावद्य है। अतः साधक मन-वचन-काय को परभावों में न जाने दे, उन्हें आत्मभाव में स्थिर करे। स्वभावदशा से परे जितनी भी प्रवृत्ति है वह सब परकीय है। आत्मा का स्वभावदशा से हटकर परभाव में जाना ही निश्चयदृष्टि से दुश्चरित्र है, चारित्रदोष है, और वही बन्ध है, सरागवृत्ति है। अतः निश्चयदृष्टि से तत्त्व का निश्चय करना दर्शन है, आत्मा का विनिश्चय करना ज्ञान है और आत्मभाव में स्थित होना चारित्र है। निश्चयदृष्टि के साधक एक ओर से स्वभाव में स्थित हो, समस्त परभावों का त्याग करे, दूसरी ओर से व्यवहारनय की दृष्टि से व्रत-समिति-गुप्तिरूप चारित्र का पालन करे। अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र का पालन करे।

इस प्रकार अभ्यास करते-करते साधक भवपरम्परा के हेतु को नष्ट करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर समस्त प्रकार की क्रियाओं का अवरोधरूप जिनोक्त परम सम्यक्चारित्र का स्वीकार करे। यों स्वरूपस्थितिप्राप्त सावद्यवृत्ति से सर्वथा विरत होकर जब पूर्णतया निरवद्यवृत्ति में स्थित हो जायेगा, तब उस आत्मा के लिए पुनः सावद्य का सेवन करना उसके कल्प की सीमा से बाहर है। अर्थात् सर्वथा सर्वदा पूर्णतया निरवद्य आत्मस्वरूप की स्थिति प्राप्त कर लेगा। यही मोक्ष की स्थिति है, जो आत्मविद्या के अभ्यास का परम्परागत फल है।

बन्धुओ !

प्रत्येक मुमुक्षु साधक को अध्यात्मविद्या के अभ्यास द्वारा अपने कर्मबन्ध से मुक्त होकर परमात्मदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो मनुष्यभव में ही हो सकता है। □

२१

पाप सांप से भी खतरनाक

धर्मप्रेमी श्रोताजनो !

संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान् प्राणी मनुष्य है। अधिकांश मनुष्यों से यदि पूछा जाए कि 'आप सुख चाहते हैं या दुःख ?' मैं समझता हूँ, सबका प्रायः एक ही उत्तर होगा—'हम सुख ही चाहते हैं, दुःख नहीं।' परन्तु उनसे कहें कि दुःख के कारणभूत पापों को छोड़ दो। हिंसा, झूठ, बेईमानी, विषय-कषाय आदि जिन बातों से दुःख होता है उनका त्याग कर दो तो वे कहेंगे—'महाराज ! यह काम नहीं हो सकता। आप कहें तो हम अमुक संस्था में या आपकी सेवा में अमुक रकम दे सकते हैं, साधन भी जुटा सकते हैं, पर इन (पापजनक) बातों को छोड़ना हमारे बस की बात नहीं।' इस पर मुझे दुर्योधन की मनोवृत्ति याद आती है।

दुर्योधन की राजसभा में बड़े-बड़े धर्मशास्त्री थे, जो धर्म अधर्म और पुण्य-पाप की बातें खोल खोलकर सुनाते थे। इतिहासज्ञ भी थे, जो पूर्वजों के धर्ममय जीवन का इतिहास सुनाते और उससे प्रेरणा लेने को कहते थे। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी थे, जो धर्मपुनीत राजनीति के सूत्र सुनाते थे। जब उन्होंने दुर्योधन को अनीति और अधर्म से दूर रहने और धर्म में प्रवृत्त होने को कहा तो उसने उत्तर दिया—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

—मैं जानता हूँ, कि धर्म क्या है ? परन्तु मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं हो पाती। मैं अधर्म और पाप को भी जानता हूं, लेकिन उससे निवृत्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार का लाचारी भरा उत्तर आज अधिकांश लोगों के मुँह से सुनने को मिलेगा। यद्यपि सारी मानव जाति आज सुख, शान्ति, अमन-चैन

और सम्पत्ति चाहती है; परन्तु वह मिले कैसे ? इसका कभी किसी ने विचार किया है ? वह मिलता है, धर्म में प्रवृत्त होने से तथा पाप से निवृत्त होने से। परन्तु वर्तमान युग के अधिकांश लोगों की मनोवृत्ति इस प्रकार की बन रही है।

> धर्मस्य फलमिच्छन्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवाः।
> फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति सादराः॥

—मनुष्य धर्म का सुफल पाना चाहते हैं, परन्तु धर्म का आचरण करना नहीं चाहते। साथ ही वे पाप का (दुःख रूपी) फल नहीं पाना चाहते, किन्तु सारे दिन बेखटके आदरपूर्वक पाप करते हैं।

बन्धुओ !

कार्य चाहिए, परन्तु उसके कारण का विचार नहीं करते। भला, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? अगर किसी को आम खाने हों और वह नीम का पेड़ बोए तो भला आम के फल उसे कैसे प्राप्त होंगे ? इसी प्रकार अगर किसी को धर्म के मधुर फल चखने हों और पाप के कड़वे फलों से बचना हो तो उसे धर्मरूपी वृक्ष के बीज बोने होंगे। पापरूप वृक्ष के बीजों से दूर रहना होगा।

पाप और साँप दोनों मनुष्य को मृत्यु की गोद में भी सुख-शान्ति से सोने नहीं देते। साँप तो एक जन्म में ही काट कर मनुष्य को पीड़ा पहुंचाता है, परन्तु पाप जन्म-जन्म में मनुष्य को पीड़ा पहुंचाता है। इतना ही नहीं, सुख शान्ति से जीने नहीं देता। पाप से दुर्गति के साथ-साथ दुर्बुद्धि भी मिलती है, जिसके कारण जन्म-जन्मान्तर तक पाप करने की वृत्ति उत्तेजित होती रहती है, धर्म करने की बुद्धि सूझती ही नहीं। पाप का डंक बिच्छू और सर्प से अधिक तीखा और घातक होता है। पाश्चात्य विचारक वॉल्टर स्कॉट कहते हैं—

When we think of death, a thousand sins which we have trodden as worms beneath our feet, rise us against uo as fanning serpents.

—जब हम मृत्यु का स्मरण करते हैं तो हजारों पाप, जिन्हें हम कीड़े-मकोड़ों की तरह पैरों के नीचे कुचल चुके हैं, हमारे विरुद्ध फणिधर सर्प की भाँति खड़े होते हैं।

पाप के इतने भयंकर परिणाम जानने-समझने पर भी मनुष्य विवेक-भ्रष्ट होकर पाप करता है। पाप का प्रारम्भ सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु

उसका अन्त दु:खदायी है। पाप की कल्पना प्रारम्भ में अफीम के फूल की तरह देखने में सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु उसका परिणाम अफीम की तरह कटु होता है।

पाप के कटु फल

प्रस्तुत अठारहवें अध्ययन में अर्हतर्षि वरिसवकृष्ण पाप और धर्म के कटु एवं मधुर परिणामों की चर्चा करते हुए पाप से बचने और धर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। सर्वप्रथम वे पाप के कटु-परिणामों के विषय में कहते हैं—

प्रश्न—'अयते खलु भो जीवो वज्जं समादियति से कहमेतं ?'

उत्तर—"पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं, अरति जाव मिच्छा-दंसणसल्लेणं वज्जं समाइत्ता, हत्थच्छेयणाइं पायच्छेयणाइं जाव अणुपरियट्टंति णवमुद्देसगमेणं।"

(प्रश्न)—जो जीव पाप (वद्य) का ग्रहण (सेवन और बन्ध) करता है, वह किन कारणों से और कैसे ?

(उत्तर यह है—) जीव प्राणातिपात से लेकर परिग्रह और अरति से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य तक, इन अठारह पापस्थानों (के सेवन) से पाप का उपार्जन (ग्रहण या बन्ध) करता है। बाद में उसके फलस्वरूप बार-बार दुर्गतियों एवं कुयोनियों में जन्म लेकर हस्तच्छेदन, पादच्छेदन आदि असीम दु:खों का अनुभव करता हुआ, अनेक जन्मों तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। यह सब वर्णन नौवें अध्ययन में हम कर चुके हैं, उसी प्रकार जान लेना चाहिए।

वस्तुतः हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जो १८ पापस्थान (पाप के कारण) बताये हैं, उन पापों का सेवन करने के बाद देर-सबेर से उसका फल मिलता ही है। कई लोगों को तो तत्काल उसका कटु फल मिल जाता है। जो पाप के बीज बोता है, उसे पुण्य या धर्म के फल स्वप्न में भी नहीं मिल सकते हैं। यही कारण है कि हिंसा आदि पाप करके मनुष्य तत्काल तो बहुत खुश होता है, परन्तु जब वह पाप कर्म उदय में आता है, तब वह बहुत दुखी होता है। एक पंजाबी कवि ने कहा है—

हंसदे ने खिल-खिल जेहड़े रोवणगे यार कल नूं।
यम्मां ने लेखा लेणा, फड़के तलवार तेनूं॥

जो कसाई या हत्यारे आज हंस हंसकर दूसरों की गर्दन पर छुरियाँ

चलाते हैं, जो चोरी, डकैती करके दूसरों का धन हरण करते हैं, या जो ठगी, धोखेबाजी, या बेईमानी करके दूसरों से पैसे ऐंठ कर खुश होते हैं, जो निर्दोष, निरपराध व्यक्तियों का कत्लेआम करते हैं, राज्य वृद्धि के लिए युद्ध छेड़कर नरसंहार कराते हैं, ऐसे लोग भले ही पाप करते समय खुश हो लें, परन्तु जब उन पाप कर्मों के परिणाम सामने आयेंगे, तब उन्हें घोर पश्चात्ताप होगा, तब वे भयंकर आर्त्तनाद करेंगे, तब भी उस पाप कर्म के फल से छुटकारा नहीं मिलेगा।

कई बार तो, पापकर्म का फल हाथोंहाथ मिल जाता है। मैंने 'कल्याण' (मासिक पत्र) में एक सच्ची घटना पढ़ी थी वह इस तथ्य को समझने में बहुत उपयोगी होगी।

मेरठ के निकट पांचली गाँव में जाट परिवार के दो भाई रहते थे। वे खेती करते थे और आनन्द से जीवन यापन करते थे। एक दिन दूसरे गाँव से दो सम्पन्न किसान दो बैल खरीदने के लिए उस गाँव में आये। पूछते-पूछते वे इन दो भाइयों के यहाँ आ पहुंचे। दोनों भाइयों ने उन्हें बैल की जोड़ी बताई उन्हें बैल पसंद आ गए। १२००) रुपये में सौदा तय हो गया। आगन्तुकों ने कहा—हम रातभर आपके यहाँ ही ठहरेंगे। सुबह आपको रुपये देकर दोनों बैल ले जाएँगे।' दोनों भाइयों ने स्वीकार किया। उन्होंने आगन्तुकों को भोजन कराया और दोनों के सोने के लिए दो खाट लगाकर उन पर बिछौने बिछा दिये। दोनों आगन्तुक किसान निश्चितता से सो गए। किन्तु उन जाट भाइयों के मन में पाप जागा। मन ही मन कुविचार आया कि इन दोनों के पास १२००) रुपये तो हैं ही, और भी रकम होगी। अतः क्यों न इनका सफाया कर दिया जाए। जिससे बैल भी बचगे और रुपये भी आ जाएँगे।' इस कुविचार को अमली रूप देने के लिए उन्होंने अपनी पत्नियों से कहा—

"देखो, हम गन्ने के खेत में इन दोनों को मारने के बाद गाड़ने के लिए गड्ढा खोदने जाते हैं। जब गड्ढा खुद जाएगा, तब हम कुछ जोर से कहेंगे—'राम राम ! बस, यह सुनते ही तुम दोनों इनकी गर्दन पर छुरी फेर देना और जब ये तड़फ कर शान्त हो जाएँ, तब इनकी जेबें टटोल कर सारी रकम निकाल लेना। हम दोनों आकर इनकी लाश को ठिकाने लगा देंगे।" दोनों महिलाओं ने इस पापकर्म के लिए हामी भर ली। रात के कोई ग्यारह बजे थे। दोनों भाई गन्ने के खेत में जाकर गड्डा खोदने लगे। संयोगवश

इसी गाँव का एक व्यक्ति उस समय शौच के लिए गन्ने के खेत की ओर गया। जब वह शौच के लिए बैठा तो गन्ने के पत्तों की खड़खड़ाहट तथा इन दोनों भाइयों की आगन्तुकों की हत्या करने की बातचीत सुनी। उसके मन में राम जागा। वह तुरन्त ही दौड़कर उन दोनों भाइयों के घर के बरामदे में सोये हुए दोनों आगन्तुक किसानों को जगाया और कहा—'चलो, मेरे साथ, आपको यहाँ नहीं सोना है।' सौभाग्य से वे दोनों सहसा जाग गये और झटपट अपने कपड़े पहनकर उस भाई के साथ चल दिये। उसने अपने घर की बैठक में उन्हें सुला दिया, सारी बात भी समझा दी।

इन दोनों आगन्तुकों के जाने के थोड़ी देर बाद ही उन दोनों जाट भाइयों के दो लड़के, जो सिनेमा देखने मेरठ गए हुए थे, लौटकर आए, अपने कमीज खूंटी पर टांगे और आगन्तुकों के लिए बिछाए हुए दोनों बिछौनों पर यह समझकर सो गए कि हमारी माताओं ने हमारे लिए ही ये बिछाये होंगे।

इधर कुछ ही देर बाद दोनों जाटभाई गड्ढा खोद चुके तो उन्होंने अपनी पत्नियों को संकेत किया। बस, दोनों महिलाओं ने अपने-अपने हाथ में छुरी ली और सोये हुए उन दोनों अपने बच्चों की गर्दन पर फिरा दी। दोनों ही थोड़ी देर में शान्त हो गए। दोनों के कमीज की जेबें टटोली तो उनमें सिर्फ डेढ़ रुपये मिले। दोनों को आश्चर्य और दुःख तो हुआ, किन्तु उस समय कुछ बोली नहीं। दोनों जाट भाइयों ने उन दोनों बच्चों की लाशें उठाकर गड्ढे में डाल दीं। ऊपर से मिट्टी डालकर गड्ढे को पाट दिया। सुबह हुआ। दोनों जाटभाई कुंए के पास होकर गुजरे और उन्होंने उन दोनों आगन्तुकों को कुएं पर हाथ-मुँह धोते हुए देखा तो हक्के-बक्के रह गए। उलटे पैरों घर लौटे। अपनी पत्नियों से पूछा कि तुमने किनको मारा था? वे दोनों तो जिंदा है, अभी हम देखकर आए हैं। आखिर पता लगा कि वे दोनों उनके ही लड़के थे, जिन्हें उनकी माताओं ने अपने ही हाथों मौत के घाट उतार दिया। गड्ढा पुनः खोदकर देखा तो अब पश्चात्ताप का पार न रहा। इधर गाँव भर में उनकी इस करतूत का पता लोगों को लग गया। पुलिस भी सूचना पाकर आ धमकी। दोनों पापियों को गिरफ्तार करके जेल में ठूंस दिया। अपने किये पाप का फल उन्हें हाथोंहाथ मिल गया।

पाप के विचार मात्र से दूर रहो

बन्धुओ! पाप का विचार भी घोर अशुभ कर्मबन्धक होता है, फिर

उस विचार को कार्यान्वित करने का फल तो और भी भयंकर होता है। पांचली किसान-परिवार को यह पापफल तो इस लोक में मिला। परलोक में भी न जाने कितनी-कितनी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी, इसका विचार आते ही रौंगटे खड़े हो जाते हैं।

अतः जैसे सांप सामने मिलते ही, आप उससे बचकर दूर भागते हैं, उसी प्रकार पाप का विचार मन में आते ही उससे दूर भाग जाओ। उस विचार को तुरंत मन से निकाल दो।

वाणी और चेष्टा में कदाचित् पाप आ जाए तो उसे भी पश्चात्ताप, आलोचना, गर्हा, क्षमा एवं प्रायश्चित्त द्वारा शीघ्र ही हलका कर दो। उसकी पुनरावृत्ति तो कदापि मत होने दो। पाप करके सुख-शान्ति की कल्पना करना वैसा ही है जैसा कि प्याज खाकर इलायची की डकार लेना। पाप की परिणति का विपाकोदय अशुभ ही होता है। साधक के जीवन में पाप की एक बूँद भी उसकी अध्यात्म-साधना को चौपट कर देती है, उसके आत्म-विकास को ठप्प कर देती है। अज्ञान, अविवेक और दुर्बुद्धि से मानव बहुत से पाप अर्जित कर लेता है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय यतना—विवेक का ध्यान रखना चाहिए। ताकि पाप के दुष्परिणाम-कटुफल भोगते समय घोर पश्चात्ताप न करना पड़े।

पाप से विरत साधक की स्वभाव में स्थिति

इसके पश्चात् अर्हतर्षि वरिसवकृष्ण पापकर्मों से दूर रहने वाले साधक के जीवन के सम्बन्ध में कहते हैं—

प्र०—जे खलु भो जीवे णो वज्जं समादियति, से कहमेतं ?'

उ०—'वरिसवकण्हेण अरहता इसिणा बुइतं। पाणातिवात-वेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्ल-वेरमणेणं, सोइंदिय-निग्गहणेणं णो वज्जं समज्जिणित्ता, हत्थछेयणाइं, पायच्छेयणाइं जाव दोमणस्साइं वीतिवतित्ता सिवमचल-जाव चिट्ठंति।

(प्रश्न है)—'जो आत्मा पाप का उपार्जन नहीं करता, वह किन कारणों से और कैसे ?'

(उत्तर)—'वरिसवकृष्ण अर्हतर्षि बोले—प्राणातिपात से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (इन अठारह पापस्थानों) से विरति तथा श्रोत्रेन्द्रिय (यावत्

स्पर्शेन्द्रिय) के विषय के निग्रह द्वारा जो जीव पाप का ग्रहण (उपार्जन) नहीं करता, वह (अनेक जन्मों तक भवभ्रमण करके) हस्तच्छेदन यावत् दौर्मनस्य आदि समस्त दुःखसमूह को व्यतिक्रान्त (पार) करके अन्त में शिव, अचलरूप आत्मस्थिति (मुक्ति) को प्राप्त करता है।'

वस्तुतः पाप चाहे किसी भी प्रकार का हो, उससे विरत रहने वाला आत्मा ही अन्त में दुःखों का अन्त करता है। कुविचार ही पाप का अधिष्ठान है। पुण्य एवं धर्म की तरह पाप का सम्बन्ध भी हृदय से है। जो असद् विचारों से दूर रहता है, वह पाप और उसके कटुफल से बचता है।

एक विचारक कवि कहता है—

बीज कर्म के जो बोता है, वही अकेला काटे।
पुत्र कलत्र मित्र कितने हों, कोई न उनको बांटे ॥ध्रुव॥

भाव अगर शुभ हों तो होता शुभ कर्मों का बन्धन।
अगर अशुभ होंगे तो पाप का होगा ही संवर्धन ॥
अतः भाव बनते विमल, बनो दयालु और सरल।
भाव अगर बढ़ते जाएँ तो, कोई सहे नहीं घाटे ॥बीज०॥१॥

स्वल्प सुखों के लिए जीव ये करता ऐसे पाप है।
जब होता परिपाक है, उनका मिलता अतिसताप है ॥
रो-रोकर पछताता है, कहीं शान्ति नहीं पाता है।
मधु से लिप्त खड्ग धारा को जैसे कोई चाटे ॥बीज०॥२॥

कवि ने थोड़े शब्दों में बहुत-सी तथ्यपूर्ण बातें कह दी हैं। अर्हतर्षि वरिसवकृष्ण अब पापकर्मों से आत्मा को पृथक् करने का उपाय एवं परिणाम बताते हुए कहते हैं—

सकुणी संकुप्पघातं च, वेरत्तं रज्जुगं तहा।
वारिपत्तधरोच्चेव विभागम्मि बिहावए ॥१॥

—जैसे शकुनी पक्षी अपनी वज्र-सी चोंच से फल को छेद देता है, वैरभाव राज्य को विभाजित कर देता है और वारिपत्रधर—कमल, पानी को अपने से दूर कर देता है, उसी प्रकार प्रबुद्ध आत्मा कर्म और आत्मा को पृथक् कर देता है, अर्थात् पापपरिणति का परित्याग करके आत्मा को शुद्धपरिणति (आत्म भाव) में स्थित कर देता है।

प्रस्तुत गाथा में तीन उदाहरण देकर आत्मा को पाप से अथवा 'स्व' को पर से हटाने या अलग करने की प्रेरणा की गई है। पक्षी अपनी तीखी चोंच से फल को और कभी-कभी गुठली तक को छेद देता है, जिससे फिर वह उग नहीं सकती, राजनायकों का आपसी वैर राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर देता है, तथा कमल जल में पैदा होकर भी जल से अलिप्त रहता है, वह अपने पत्ते पर जलबिन्दुओं को पृथक कर देता हैं। उसी प्रकार जागृत आत्मा अनादि कर्मपुद्‌गलों को आत्मा से पृथक कर देता है।

इस विवेचन का सार यह है, मनुष्य अज्ञान और मोह में फंसकर पापकर्म करता है, उसकी पीड़ा से कराहता है किंतु छुटकारा तभी मिलेगा, जब ज्ञान और वैराग्य का चिन्तन कर समता और शान्ति धारण करेगा।

□

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

□ जैन तत्व कलिका	मूल्य	४०)
□ जैन योग: सिद्धान्त और साधना		५०)
□ सूत्रकृतांग सूत्र (प्रथम भाग)		५०)
□ सूत्रकृतांग सूत्र (द्वितीय भाग)		२५)
□ अमर दीप (प्रथम भाग)		२०)
□ अमर दीप (द्वितीय भाग) प्रेस में		२०)

सम्पर्क करें :—

श्री आत्म ज्ञान पीठ, मानसा मण्डी (पंजाब)

□ □

- सम्यग् विश्वास – श्रद्धा और सम्यग् ज्ञान मिलकर ही सम्यक् कर्म – चारित्र का आधार बनता है. और तीनों की सम्यग् समाराधना ही आत्मा के परम सुख एवं परम आनन्द का उत्स है.
- जैन तत्त्व ज्ञान की उक्त त्रिपुटी का सर्वांगीण विवेचन तथा देव, गुरु, धर्म के स्वरूप का सांगोपांग समीक्षण सन्निहित है. – कलिका में सौरभ की तरह.

जैन तत्त्व कलिका